शृंगेरी मठ, शारदा मठ
ज्योति मठ, गोवर्धन मठ
सुमेरु मठ, परमात्मा मठ, कुदाली मठ,
संगमेश्वर मठ, काश्यप मठ, कुम्भू मठ,
पुष्पगिरि मठ, विरूपाक्ष मठ, हव्यक मठ,
शिवगंगा मठ, कोपला मठ, श्रीशैल मठ, रामेश्वर मठ,
रामचन्द्रपुर मठ, अवन्ती मठ, हली मठ
भण्डागिरि मठ, धनगिरि मठ, कैवल्यपुर मठ,
मूलबागल मठ, रविद्रपुरा मठ, नृसिंहदेव मठ,
नीलवन मठ, पैठन मठ, भाण्डीगरी मठ,
काशी मठ, तीर्थराजपुरा मठ, तीर्थली मठ, हरिहरपुरा मठ
गंगोत्री मठ, बुद्धगया मठ, तारकेश्वर मठ, धूमेश्वर मठ
गोलेश्वर मठ, कुडपाल मठ, कैरुवा मठ,
गोहान्द मठ, अनौचार मठ, भीमेश्वर मठ,
ओंकारेश्वर मठ, मान्धाता मठ, गंगेश्वरी मठ,
सिद्धनाथ मठ, चिदम्बरम मठ, सिद्धेश्वर मठ,
विमलेश्वर मठ, अमरनाथ मठ, विनोर मठ।

हिन्दू मठ

"मठः छात्रादि निलयः"

डॉ॰ त्रिवेणी दत्त त्रिपाठी

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ को मैंने विशेष रुचि के साथ पढ़ा। उत्तर प्रदेश के दस जनपदों के बीस शैव एवं वैष्णव मठों के समाजशास्त्रीय अध्ययन पर आधारित यह ग्रन्थ शोधकर्ता के गहन अध्ययन एवं विषय के प्रति उसकी आन्तरिक अवस्था का परिचायक है।

निश्चय ही मठों ने अति प्राचीन काल से भारतीय समाज में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। प्राचीन मूल्यों एवं महत्त्वपूर्ण परम्पराओं को आज तक सुरक्षित रखने में भी इनका योगदान है।

मठों के सामाजिक संगठन का अध्ययन उनके पारम्पारिक एवं शास्त्रीय सन्दर्भों में बड़ी सावधानी से किया गया है।

मानव जाति का आध्यात्मिक उन्नयन एवं कल्याण ही इन मठों का वास्तविक उद्देश्य रहा है।

युग के बदले मूल्यों—औद्योगीकरण, शहरीकरण एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के बीच मठों के प्रशासकीय ढांचे में आनेवाले परिवर्तनों को भी शोध-ग्रन्थ में स्पष्टतः निर्दिष्ट किया गया है। छुआछूत एवं वर्गभेद को मिटाने तथा नारियों एवं हरिजनों के प्रति रूढ़िवादी अवधारणाओं को तोड़ने में आधुनिकता ने जो कुछ किया है, उससे ये मठ भी अछूते नहीं रहे हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सम्बन्धित विषय की नवीन एवं मौलिक जानकारी निहित है। इसकी भाषा भी साहित्यिक एवं आकर्षक है।

सुशील चन्द्र
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर,
समाज शास्त्र

परम विदुषी सुश्री डॉ० प्रज्ञा देवी
आचार्या
को
भेंट में
सादर
[illegible]
प्रेषित ।
१/२८
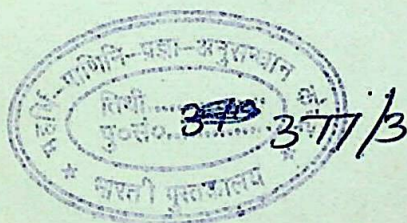
हिन्दू मठ

(एक समाजशास्त्रीय अध्ययन)
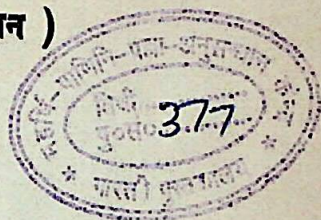
लेखक

डा० त्रिवेणीदत्त त्रिपाठी एम.ए०, पी. एच० डी०

प्राचार्य

स्वामी देवानन्द स्नातक महाविद्यालय,

देवाश्रम, मठलार (देवरिया) ।

प्रकाशक

संजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी-१

संजय बुक सेन्टर
K. 38/6, गोलघर,
वाराणसी–१
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण 1988
स्वत्व-लेखकाधीन : मूल्य 130.00 रुपये
आवरण एस. एन. सरकार

चिनगारी प्रेस, एवं प्रकाशन,
जालपा देवी रोड,
वाराणसी–२२१००१

HINDU MATH

by T. D. Tri Pathi

समर्पण
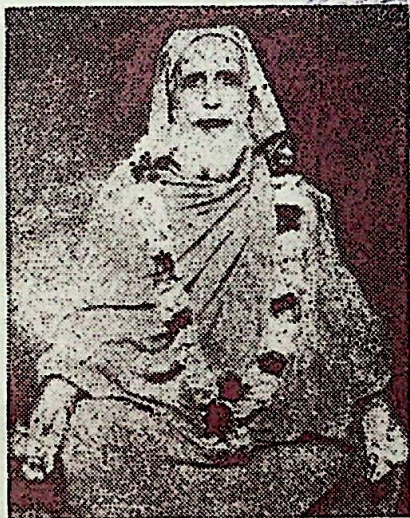
ब्रह्मलीन कर्मयोगी श्री १००८ स्वामी चन्द्रशेखर गिरी जी महाराज की पुण्यस्मृति को उनके कीर्तिशेष स्वामी देवानन्द शिक्षण-सस्थान के स्वर्ण जयन्ती-समारोह

(वसंत पंचमी संवत् २०४४)

के पुनीत अवसर पर

सादर समर्पित।

—त्रिवेणीदत्त त्रिपाठी

शुभाशंसा

नई उद्‌भावना के साथ लिखित 'धार्मिक मठों का संगठन तथा कार्य' शीर्षक इस समाजशास्त्रीय शोध प्रबन्ध की मैं संस्तुति करता हूँ। इसमें मठों की जो परम्परा एवं भूमिका दी गई है हम इसे प्रश्रय देते हैं और इसकी शुभकामना चाहते हैं।

आशा है हमारे सभी वर्त्तमान मठ और अखाड़े इस प्रबन्ध के माध्यम से अपने उद्‌भव विकास और उद्देश्य को सरलता से समझकर हिन्दू समाज, समग्र मानव समाज और सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति अपने महान दायित्व का पालन करेंगे। अपने 'स्व' का इतना अकुंचित विस्तार करेंगे कि पूरी सृष्टि को ही आत्मवत् समझने लगेंगे।

चन्द्र शेखर गिरि
अध्यक्ष
स्वामी देवानन्द शिक्षण संस्थान
देवाश्रम, मठ लार
देवरिया।

अगहन सुदी पंचमी
सम्वत्—२०३७
सर सुन्दरलाल चिकित्सा संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शिक्षा संस्थान देवाश्रम-मठ लार के
वर्तमान पीठाधीश्वर एवं अध्यक्ष स्वामी देवानन्द
अध्यक्ष श्री स्वामी भगवान गिरी जी
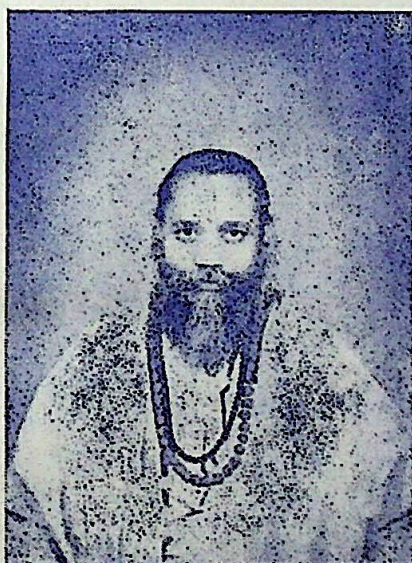
आपकी प्रेरणा से ही इस ग्रंथ का
प्रकाशन संभव हो सका।

आत्म-निवेदन

भारतीय संस्कृति और समाज-व्यवस्था वैदिक ऋषि-मुनियों के चिन्तन-मनन पर आधारित है। अरण्यों के मध्य स्थित प्राचीन गुरुकुलों तथा आश्रमों से ही आचार-विचार एवं संस्कार की रूप-रेखा हिन्दू समाज को प्राप्त हुई है। कालान्तर में ऋषि-मुनियों ने परा-विद्या की शिक्षा के लिए देवालयों तथा अपरा-विद्या की शिक्षा के लिए मठों की स्थापना की जो रामायणकाल तक अत्यन्त व्यवस्थित रूप में कार्य सम्पादित करने लगे थे और आज तक हिन्दू समाज को संगठित रखने और उसकी मौलिकता की रक्षा करने में महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादित कर रहे हैं। वस्तुतः भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक एकता ही राजनीतिक और आर्थिक एकता का आधार रही है।

पाश्चात्य समाज वैज्ञानिकों ने विभिन्न संस्कृतियों की विशेषताओं एवं उनकी धार्मिक संस्थाओं की प्रकृति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है। भारतीय समाज वैज्ञानिकों ने भी भारतीय साधु-संन्यासियों की सामाजिक भूमिका का समाजशास्त्रीय विवेचन किया है। किन्तु साधुओं के प्राचीन संगठन के रूप में मठीय व्यवस्था की संरचना, प्रकृति तथा प्रकार्यात्मक भूमिका का समाजशास्त्रीय विश्लेषण नहीं किया गया है। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हिन्दू मठों के संगठन तथा कार्य का समाजशास्त्रीय विवेचन करने की दृष्टि से तथ्यात्मक विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत शोध कार्य 'धार्मिक मठों का संगठन तथा कार्य' शीर्षक से 'काशी विद्यापीठ, वाराणसी' से पी.एच.डी. उपाधि हेतु स्वीकृत हुआ किन्तु इसका प्रकाशन "हिन्दू मठ" नाम से उचित समझा गया।

मैं इस शोध कार्य के प्रेरणा-स्रोत पूज्य श्री स्वामी चन्द्रशेखर गिरि, तत्कालीन अध्यक्ष-देवाश्रम मठ, लार तथा सचिव महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा इलाहाबाद के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परमधर्म समझता हूँ, आपने अपने सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्व के कार्यों से मुझे इस तरह के शोध कार्य हेतु प्रेरित ही नहीं किया अपितु मठीय व्यवस्था से सम्बन्धित प्राचीन साहित्य, हस्तलिखित अभिलेख तथा अनेक मठों की प्राचीन नियमावली, यति-समाज की आचार-संहिता का ज्ञान कराकर इस शोध कार्य को मेरे लिए अत्यन्त सुगम भी बना दिया। आप अनेक मठों के महन्तों से परिचय कराने, उनके सम्पर्क में समय-समय पर रहने तथा मठों की आन्तरिक स्थिति से अवगत कराने में विशेष सहायक रहे हैं।

अब स्वामी जी ब्रह्मलीन हो चुके हैं, पार्थिव शरीर से हमारे बीच नहीं हैं, पर उनका आशीष सदैव हमारे साथ है—ऐसा अनुभव करता हूं। प्रस्तुत प्रकाशित ग्रन्थ देवाश्रम मठ की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर स्वामी जी की पुण्य स्मृति को सादर समर्पित करना मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ।

मुझे प्रसन्नता है कि स्वामी जी के उत्तराधिकारी देवाश्रम मठ के वर्तमान पीठाधीश्वर श्री स्वामी भगवान गिरि की अनुकम्पा एवं प्रेरणा से यह ग्रन्थ समय से प्रकाशित हो सका है। आपके प्रति श्रद्धावनत रहकर भविष्य के लिए भी कृपाकांक्षी हूँ।

शोध-अवधि में समय-समय पर पत्राचार तथा व्यक्तिगत सम्पर्क से परम श्रद्धेय डा० यस० पी० नगेन्द्र, समाजशास्त्र विभागाध्यक्ष एवं प्रतिकुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय, सम्प्रति कुलपति लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ, महान् समाजशास्त्री, डा० जी० यस० घूरे, वयोवृद्ध, साहित्यकार पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी; पं० मानिकचन्द्र मिश्र, प्राचार्य, महानिवार्णी वेद विद्यालय, इलाहाबाद, हिन्दी साहित्य के युवा समीक्षक तथा कवि डा० विश्वनाथ प्रसाद, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी, हिन्दू स्नातकोत्तर महाविद्यालय मुरादाबाद के समाजशास्त्र विभागाध्यक्ष डा० जगदीश कुमार मिश्र एवं उनके सहयोगी प्राध्यापक डा० श्यामधर सिंह सम्प्रति प्राध्यापक, काशी विद्यापीठ, के सत्परामर्श मुझे बराबर सुलभ होते रहे हैं। इन समस्त विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य मानता हूँ।

मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के समाज विज्ञान संकाय के प्रोफेसर डा० सत्येन्द्र त्रिपाठी, एवं डा० शरत्कुमार सिंह, समाज विज्ञान संकाय प्रमुख तथा समाजशास्त्र विभागाध्यक्ष, काशी विद्यापीठ, वाराणसी का चिर ऋणी हूँ। जिनकी कृपा से शोध सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ दूर हुई हैं और जिनकी प्रेरणा से शोध प्रबन्ध पूरा हुआ है।

मेरा विनम्र आभार अपने निर्देशक डा० बंशीधर त्रिपाठी, रीडर समाजशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी तथा उनकी धर्मपत्नी डा० मधुकान्ता त्रिपाठी, प्राध्यापक, प्रशिक्षण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रति निवेदित है। जिनके वैचारिक प्रसाद की पोटली के रूप में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर सका है। डा० त्रिपाठी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों तथा धर्म एवं मूल्य सम्बन्धी समाजशास्त्र के क्षेत्र में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। आपने साधु समाज की अनेक जटिल विशेषताओं का सूक्ष्म अध्ययन किया है।

आपके अहर्निश निर्देश से ही शोध-प्रबन्ध की शीघ्र प्रस्तुति सम्भव हो सकी है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में भी आपकी ही प्रेरणा रही है।

अन्ततः मैं अपने अग्रज श्रद्धेय पं० शिवानन्द त्रिपाठी ज्योतिषाचार्य एवं डा० शोभनाथ त्रिपाठी, शोध प्रवक्ता, राज्य हिन्दी संस्थान, वाराणसी के प्रति विनम्र आभार व्यक्त करता हूँ जिनके सहयोग एवं मार्गदर्शन से ही प्रस्तुत ग्रन्थ भाषा सम्बन्धी त्रुटियों से मुक्त होकर तथा दुर्लभ चित्रों से संयुक्त होकर अपने इस स्वरूप को प्राप्त कर सका है। अपने भ्रातृज डा० श्रवण कुमार त्रिपाठी, प्राध्यापक–समाजशास्त्र, बाबा बरुआदास डिग्री कालेज, परुइया आश्रम फैजाबाद, डा० अशोक कुमार त्रिपाठी (बी. ए. एम. एस.) डा० मैथिली मोहन त्रिपाठी एम. डी. को मैं धन्यवाद देना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्हें मैंने इस कार्य के निमित्त अनेक बार अपने सहायक के रूप में प्रयुक्त किया है।

अपने महाविद्यालय प्राध्यापक डा० सच्चिदानन्द मिश्र डा० रमाकान्त त्रिपाठी एवं डा० योगेन्द्रपति त्रिपाठी सम्प्रति आप्तसचिव, मुख्य मन्त्री बिहार सरकार को साधुवाद देता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मेरा सदैव सहयोग किया है।

सुधी जनों से सादर निवेदन है कि वे ग्रन्थ के प्रति अपने सुझावों को प्रेषित कर मुझे अनुगृहीत करें।

त्रिवेणीदत्त त्रिपाठी

शाकुन्तलम्
रानीपुर, वाराणसी
वसन्त पंचमी
सम्वत् २०४४

प्राक्कथन

अपने भीतर अनेक मत मतान्तरों को पालते हुए भी हिन्दू धर्म कभी भी संकीर्ण नहीं हो सका। यह तो वास्तव में मानव के सनातन धर्म का एक देश-कालिक नाम है। भारतीय संस्कृति इसी सनातनता से स्थापित हुई है और इसीलिए इसके अनेक कलेवर होते हुए भी इसकी आत्मा एक है। जिन विविध तत्वों ने इस संस्कृति को आज भी जीवान्त रखने में योग दिया है उनमें तीर्थों, धर्मपीठों, मठों और अखाड़ों की अपनी भूमिका है। ये पीठ, मठ और अखाड़े विरक्त संन्यासियों की साधनाभूमि के रूप में हमारे समाज में स्थापित और संगठित हुए परन्तु ये अपने अंचल के लोक जीवन से निरन्तर इस प्रकार जुड़े रहे कि इन्होंने सदैव जिज्ञासुओं और आस्थावानों के मार्ग दर्शन के नैतिक और आध्यात्मिक केन्द्रों का कार्य किया।

डा० त्रिवेणी दत्त त्रिपाठी का यह अध्ययन अपने ढंग का अकेला है। हिन्दी में इस महत्वपूर्ण विषय पर ऐसे प्रकाशन बहुत कम या लगभग नहीं के बराबर हैं। डा० त्रिपाठी ने उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल के जनपदों में स्थित बीस शैव तथा वैष्णव मठों के संगठन तथा उनकी कार्य परिपाटी को सहभागी अवलोकन के आधार पर देखकर उन पर यह पुस्तक लिखी है।

मैं न केवल इस प्रकाशन का स्वागत करता हूँ बल्कि सुधीर पाठकों से भी निवेदन करता हूँ कि वे इसे पढ़ने का समय निकालें।

(शीतला प्रसाद नगेन्द्र)
कुलपति

कुलपति आवास,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
माघ–कृष्ण ४,२०४४

विषय-अनुक्रमणिका

1

संगठन तथा मठ

मनुष्य स्वभावतः चिन्तनशील सामाजिक प्राणी है। मानव-निर्मित परिवेश की प्रायः प्रत्येक वस्तु एवं व्यवस्था जो मानव जीवन के लिए महत्वपूर्ण है; मानवीय सृजनशीलता से उद्भूत हुई हैं। यह सृजनशीलता वाह्य एवं आन्तरिक जीवन की वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त हुई है। प्रथम स्थिति में उसका लक्ष्य उपयोगितावादी तथा द्वितीय स्थिति में आत्मोत्थानवादी होता है। उपयोगिता के धरातल पर क्रियाशील होती हुई यह सृजनशीलता औद्योगिक एवं प्राविधिक व्यवस्था को जन्म देती है, जो मानव-सभ्यता का एक आवश्यक अंग है। मानव-जीवन की अनुपयोगी किन्तु अर्थवती सम्भावनाओं का अन्वेषण करती हुई वही सृजनशीलता संस्कृति का निर्माण करती है जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न पवित्र संगठनों, संस्थाओं, कला और चिन्तन के विविध रूपों में होती है। मनुष्य के आत्मिक जीवन को विस्तृत और समृद्ध बनाने वाले संगठन के रूप में भारतीय समाज में प्राचीनकाल से ही मठों की भूमिका महत्वपूर्ण रही हैं। अस्तित्व केन्द्रित पाश्चात्य परम्परा के विपरीत भारतीय परम्परा मूल्य-केन्द्रित रही है। ये 'मठ' उन्हीं सामाजिक मूल्यों के रक्षक और जीवन के चरम लक्ष्य 'मोक्ष' की सम्प्राप्ति में सहायक रहे हैं।

मार्क्सवादी चिन्तकों की दृष्टि में अध्यात्म या मोक्षधर्म जनता के लिए अफीम हैं, जो उनकी बौद्धिक चेतना को ढँक लेती है। फ्रेजर जैसे नृशास्त्रियों की दृष्टि में धर्म या मोक्षधर्म चिन्तन अथवा अनुभूति का एक ऐसा ढंग है जिसका निकट भविष्य में तिरोभाव अनिवार्य है। किन्तु जब तक दार्शनिक अथवा आधि-भौतिक चिन्तन का अस्तित्व है, तब तक मोक्ष-धर्म अथवा आध्यात्मिक मनोवृत्ति लोप सम्भव नहीं है।[1]

श्री राधाकृष्णन् ने उचित ही लिखा है कि 'मोक्षधर्म लोगों के लिए मादक द्रव्य का काम नहीं कर सकता जबतक कि उसमें कुछ ऐसी असन्तुष्ट आकांक्षाएँ न हों जिनका सम्बन्ध भौतिक जगत से नहीं है।'[2] मूल्यों की गुणात्मक चेतना का

---

१. एन० के० देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, (लखनऊ : प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उ० प्र० शासन, १९५७), पृ० ३३।

२. सर्वपल्ली राधाकृष्णन : रिलीजन एण्ड फिलासफी, (लन्दन : एलेन एण्ड अनविन), पृ २३।

सर्वोच्च रूप मोक्षधर्म या आध्यात्मिक मनोवृत्ति है। यह मनोवृत्ति मुख्यतः दो रूपों में अभिव्यक्त होती है—साधारण लोग जिन सांसारिक सुखों की विशेष कामना करते हैं उनके प्रति वैराग्य भावना में और उदारता, त्याग तथा परहित तत्परता की असाधारण क्रियाओं में ये दोनों बातें मठवासी साधु, सन्तों की अपनी विशेषताएँ हैं। मानव व्यक्तित्व के गुणात्मक विस्तार और परिष्कार की दृष्टि से भारत के परम्परावादी समाज के अपेक्षाकृत स्थिर संगठन (स्टेटिक आरगेनाइजेशन) के रूप में हिन्दू धार्मिक मठों की एक महत्वपूर्ण भूमिका (रोल्स) रही है। आज के बदले हुए समाज में उन धार्मिक मठों के संगठन, उनकी कार्य-पद्धति तथा राष्ट्र के सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन में उनकी भूमिका का वैज्ञानिक अध्ययन करना प्रस्तुत शोध का प्रमुख उद्देश्य है।

संगठन की अवधारणा

किसी समाज के विभिन्न इकाइयों की परस्पर-क्रियाओं में क्रियाशील सामंजस्य ही उस समाज का संगठन परिलक्षित करता है। सामाजिक संगठन, समाज की वह व्यवस्था है जिसमे समाज के विभिन्न अंग एक दूसरे तथा पूरे समाज के साथ सार्थक ढंग से जुड़े रहते हैं। सामाजिक संगठन, समाज के अस्तित्व की एक अवस्था है, एक ऐसी दशा है जिसमें समाज की विभिन्न संस्थाएँ अपने स्वीकृत अथवा मान्य उद्देश्यों के अनुसार कार्य कर रही है।[1]

सामाजिक संगठन अपने विभिन्न सामाजिक समूहों का सामंजस्यपूर्ण गति-शील सन्तुलन हैं। प्रत्येक समाज में विभेदीकरण और एकीकरण की प्रक्रियाएँ निरन्तर चलती रहती हैं जिनके फलस्वरूप बड़े-बड़े समूह छोटे समूहों में विभक्त होते रहते हैं और छोटे समूह बड़े समूहों में संगठित होते रहते हैं। इस प्रकार सामाजिक संगठन सामाजिक समूहों पर आधारित है। जार्ज पीटर मरडाक के अनुसार सामाजिक संगठन एक समाज का छोटे समूहों में—विशेष रूप से उन समूहों में संगठन है जो आयु, रक्त-संबन्ध, व्यवसाय, निवास-स्थान, सम्पत्ति, अधिकार और स्थिति पर आधारित होते हैं।[2]

प्रायः सभी समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि किसी सामाजिक संगठन के सदस्यों में एकमतय (कन्सेन्सस) होने के साथ ही प्रस्थिति (स्टेटस) और (रोल्स) को स्वीकार करने की तत्परता होनी चाहिए। सदस्यों के कार्यों पर संग-

---

१. इलियट तथा मेरिल : सोशल डिसआरगेनाइजेशन, (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड ब्रदर्स, १९४०), पृ० ४।

२. आर० एन० शर्मा सामाजिक नियंत्रण और सामाजिक परिवर्तन, (मेरठ, केदारनाथ रामनाथ), १९७२-७३ में उद्धत, पृ० ४।

उन का प्रभावी नियंत्रण भी होना आवश्यक है—जो विभिन्न सामाजिक जन-रीतियों, प्रथाओं, रूढ़ियों, विधियों या संस्थाओं द्वारा होता है।

एटज्वाइनी आधुनिक समाज में सामाजिक संगठनों की बाढ़ देखते हैं। इन बढ़ रहे संगठनों के परिनिरीक्षण हेतु वह सामाजिक संगठनों की द्वितीय पंक्ति के पक्ष में विचार व्यक्त करते हैं।[1] आधुनिक समाज संगठनों की बहुलता वाला समाज है—जिसमें हर व्यक्ति संगठन में ही जन्म लेता है, अपने जीवन का अधिक समय संगठनों के लिए ही कार्य करने में व्यतीत करता है। वह अपने अवकाश का भी अधिक समय संगठन को ही देने, संगठन में ही खेलने, सामूहिक प्रार्थना में भाग लेने में व्यतीत करता है और कब्र में जाने के समय सर्वोच्च संगठन समाज या राष्ट्र की स्वीकृति प्राप्त करता है। इसीलिए अन्तिम संस्कार के समय समूह के अधिकांश सदस्य भाग लेते हैं—कुछ लोगों की मृत्यु पर राष्ट्रीय शोक भी व्यक्त किया जाता है।

संगठन की विशेषताएँ

एटज्वाइनी ने संगठन की तीन विशेषताओं को महत्वपूर्ण माना है[2]—

(१) श्रम-विभाजन, सत्ता और सदस्यों के बीच विचारों का आदान-प्रदान।

(२) एक या अधिक सत्ता-केन्द्रों की उपस्थिति—ये सत्ता केन्द्र सङ्गठन के सामूहिक प्रयासों को नियंत्रित करते हैं तथा उसे अपने लक्ष्य की दिशा में निर्देशित करते हैं। ये सत्ता केन्द्र सङ्गठन की गतिविधियों पर निरन्तर दृष्टि रखते हुए, उसकी संरचना को युग की मांग के अनुरूप नया प्रतिमान प्रदान करते हैं और उसकी कुशलता में वृद्धि करते हैं।

(३) सङ्गठन के अनुत्पादक या अनुपयोगी सदस्यों के स्थान पर नए सदस्यों का प्रवेश।

कुछ विशिष्ट एवं निश्चित लक्ष्यों या साध्यों की प्राप्ति के लिए सङ्गठनों की रचना साधन के रूप में की जाती है। किसी समाज का भावी स्वरूप उसके संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किए जा रहे सामूहिक प्रयत्नों पर निर्भर होता है। किसी भी संगठन का प्रारम्भ जिन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए होता है, उनमें

---

१. मधुकान्ता त्रिपाठी, आरगेनाइजेशनल क्लाइमेंट एण्ड टीचर एटीच्यूट्स: ए स्टडी आफ रिलेशनशिप्स, (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध-बी० यच० यू०, वाराणसी, १९७७) में उद्धृत पृ० १।

२. एटज्वाइनी, माडर्न आरगेनाइजेशन्स, (न्यू देलही : प्रेन्टिस हाल आफ इण्डिया, १९६५), पृ० ३।

कुछ थोड़े ही सङ्गठन उद्देश्य-सिद्धि में सफलता प्राप्त करते हैं, कुछ तो असफल होते हैं और कुछ अपने उद्देश्य से विचलित हो जाते हैं—उनके पूर्व निर्धारित लक्ष्य का स्थान कुछ नवीन लक्ष्य ले लेते हैं जिनके प्रति नए समाज में अधिक आकर्षण होता है। अतः लक्ष्यों में परिवर्तन, परिवर्द्धन और उसमें वृद्धि या प्रसार भी संभव है।

'शेन' के अनुसार सङ्गठन का अभिप्राय किसी समूह के सदस्यों की क्रियाओं में पाए जाने वाले तार्किक सामंजस्य से है, जो उनके समान लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक है। इसके लिए सदस्यों में सत्ता एवं दायित्व की संस्तरणात्मक व्यवस्था के साथ ही श्रम विभाजन का होना आवश्यक है।[१] इन्होंने सङ्गठन की अनेक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है जिनमें कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) संगठन एक मुक्त अवस्था है (ओपेन सिस्टम) जो अपने पर्यावरण से सतत् अन्तर्क्रिया करता है।

(२) संगठन के एक या अनेक निश्चित लक्ष्य होते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए वह अनेक प्रकार से संस्थाओं द्वारा पर्यावरण में अन्तर्क्रिया करता है।

(३) सङ्गठन में कई उपव्यवस्थाएँ होती हैं जो एक-दूसरे के साथ गतिशील रहती हुई अन्तर्क्रिया करती रहती हैं।

(४) सङ्गठन का अस्तित्व परिवर्तनशील पर्यावरण में भी बना रहता है।

आधुनिक समाजशास्त्रियों में मैक्सवेबर ने सङ्गठनों का व्यवस्थित अध्ययन किया है। समाज की वर्त्तमान संरचना परम्परागत व्यवस्था से तर्कपूर्ण, बौद्धिक व्यवस्था से तर्कपूर्ण बौद्धिक व्यवस्था में परिवर्त्तित हो रही है। औपचारिक सङ्गठनों में सत्ता का सर्वोच्च व्यक्ति उन सदस्यों से स्वतन्त्र होता है जो विभिन्न पदों पर आसीन होते हैं।[२] वेबर ने संगठन के संरचनात्मक पहलू पर बल दिया है। उन्होंने सत्ता प्राप्त केन्द्रीय व्यक्ति को संगठन की आत्मा स्वीकार किया है। वेबर ने तीन प्रकार की सत्ता का उल्लेख किया है—परम्परात्मक (ट्रेडिशनल), ब्यूरोक्रेटिक और करिस्मेटिक।

परम्परात्मक सत्ता के आदेश का पालन सभी सदस्य कन्वेंशन के रूप में करते हैं। ब्यूरोक्रेटिक सत्ता के अन्तर्गत लिखित नियमों, उप-नियमों का पालन किया

---

१. एडगर यच० सेन—आरगेनाइजेशनल साइकालोजी, (न्यू देहली : प्रेण्टिस हाल आफ इण्डिया, १९६९), पृ० ८।

२. मैक्सवेबर : दि थियरी आफ सोशल एण्ड एकोनामिक आरगेनाइजेशन्स, (अनु०) ए० एम० हेण्डर्सन एण्ड टैलकट पार्सन्स, (न्यूयार्क : आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस), पृ० ३२४–३३०।

जाता है और करिस्मेटिक सत्ता के आदेशों का पालन उसकी विचित्र दैवी शक्ति-सम्पन्नता के आधार पर किया जाता है।

मठों के संगठन में उपर्युक्त तीनों प्रकार की सत्ता देखी जा सकती है। जगद्गुरू शंकराचार्यों के प्रति समर्पण एवं निष्ठा परम्परात्मक है, जबकि मठों और अखाड़ों के महन्त लिखित एवं पंजीकृत नियमों से शक्ति प्राप्त करते हैं और कुछ यौगिक क्रियाओं में सिद्ध साधु-महात्मा अपने को दैवी शक्ति सम्पन्न अथवा ईश्वर का अवतार घोषित करके अपने अनुयायियों पर नियंत्रण बनाए हुए हैं। इन तीन प्रकार की सत्ताओं को दवावमूलक (कोर्असिव), उपयोगितामूलक और आदर्शवादी भी कहा जा सकता है।[1]

आधुनिक युग में जेल के कैदियों के सङ्गठन तथा सैनिक प्रशिक्षणार्थियों के संगठन दवावमूलक सङ्गठन के उदाहरण हैं। औद्योगिक इकाइयों में कार्यरत श्रमिकों के संगठन उपयोगितामूलक हैं और समाज के सामान्य सदस्यों को शिक्षित करने के उद्देश्य से उनके प्रति सेवा और समर्पण की भावना से कार्य कर रहे विद्यालय, आश्रम, चर्च, मिशनरी, मठ और 'अखाड़े' आदर्शात्मक संगठन हैं। मठों की सदस्यता आंतरिक मूल्यों के विकास तथा आत्मोत्थान की भावना से ग्रहण की जाती है, जो पूरे समाज के प्रति सेवा और समर्पण की भावना से संयमित और अनुशासित जीवन-प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं।

मठ : एक संगठन

जन-जीवन में नैतिक मूल्यों की स्थापना, आध्यात्मिकता की रक्षा 'मोक्ष' की सम्प्राप्ति तथा जीवन और जगत से सम्बन्धित अपनी मान्यताओं के प्रचार व प्रसार के लिए ही सभ्यता एवं संस्कृति के उषाकाल में ही हिन्दू समाज में चिंतकों और मनीषियों के एक ऐसे वर्ग का उदय हो चुका था जो मठों एवं आश्रमों में रहकर आत्मोत्यान एवं लोककल्याण से वृहतर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संगठित प्रयत्न कर रहा था। इन ऋषि-मुनियों का 'स्व' विश्व-पर्यंन्त व्यापक हो चुका था, उनका सारा कार्य विश्वहित में नियोजित था—वह लोकादर्श और लोकहित को ध्यान में रखकर प्रमादरहित होकर सम्बद्धता के साथ सामाजिक व्यवस्था को दिशा प्रदान करते थे। आरम्भ से ही मठ एक प्रकार की सांस्कृतिक-धार्मिक व्यवस्था के माध्यम से पूरे हिन्दू समाज का दिशा-निर्देश करता आ रहा है।

---

१. एटज्वाइनी, ए कम्परेटिव एनालिसिस आफ काम्प्लेक्स आरगेनाइजेशन्स, (ग्लेन्को ।।।, दि फ्री प्रेस)।
मधुकान्ता त्रिपाठी, आरगेनाइजेशनल क्लाइमेट एण्ड टीचर एटिच्यूड : ए स्टडी आफ रिलेशनशिप, (पूर्वोक्त), पृ० ५।

वैदिक ऋषि या मुनि ही सत्य के साक्षात् अनुभवकर्त्ता और अपने समाज के अन्य सदस्यों के लिए प्रेरणा-स्रोत के रूप में कार्य करते थे। किन्तु देश-कालानुसार सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन का कुछ न कुछ प्रभाव इन मठों की संरचना और उनके स्वरूप पर भी पड़ा है—परिणामतः उनकी कार्य-प्रणाली एव उनके उद्देश्यों में अनेक परिवर्तन आये हैं।

एक सामाजिक संगठन के रूप में आज भी मठों का मुख्य लक्ष्य आत्मोत्थान एवं लोकोपकार बना हुआ है, किन्तु उनकी व्यवस्था एवं कार्य-पद्धति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। वर्तमान युग के मठों में रहने वाले अधिकांश साधु व ह्यतः विरक्त एवं पूर्ण ब्रह्मचारी प्रतीत होते हैं जबकि धन, सम्पत्ति एवं पद की प्राप्ति हेतु उनमें परस्पर विवाद एवं तनाव स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं। अनेक अपने पथ से विचलित एवं दिक्भ्रमित हैं, उनकी दिनचर्या पर आधुनिकता की स्पष्ट छाप एवं औद्योगिक सभ्यता का पर्याप्त प्रभाव है। यातायात, मनोरंजन एवं संचार के आधुनिकतम् साधनों का प्रयोग उनकी प्रतिष्ठा का आधार बनता जा रहा है।

इस प्रकार यह निश्चितरूप में कहा जा सकता है कि 'मठ' एक सामाजिक संगठन है, क्योंकि मठ पर रहने वालों का एक निश्चित लक्ष्य है। इनमें 'पद' एवं 'भूमिका' के आधार पर संस्तरणात्मक संरचना के साथ ही 'कार्यविभाजन' की स्पष्ट व्यवस्था है। सर्वोच्च सत्तासीन व्यक्ति के प्रति परम्परागत समर्पण की भावना है, उसके निर्देशों का अनुपालन लिखित नियमों, रूढ़ियों एवं कभी-कभी उसकी दैवी-शक्ति-सम्पन्नता के आधार पर भी किया जाता है। एक सामाजिक संगठन के रूप में 'मठ' पर रहने वालों में एक संस्तरणात्मक व्यवस्था है – सभी व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि सर्वोच्च पद पर सबसे अधिक योग्य एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को ही आसीन होना चाहिए। गुरु-शिष्य सम्बन्धों के आधार पर सभी सदस्य पिता-पुत्र की भाँति परस्पर सम्बन्धित होते हैं। समाज के अन्य संगठनों की अपेक्षा यह संगठन अधिक स्थायी या स्थिर संगठन है, जिसका निश्चित महत्व समाज के परम्परागत स्वरूप को बनाए रखने में है। 'मठ' की संस्था के रूप में 'ब्रह्मचर्य' एवं 'विरक्त जीवन' की मान्यता प्रारम्भ से ही है, जो कुछ अर्थों में आज भी विद्यमान है।

वस्तुतः 'मठ' एक विशेष प्रकार का पवित्र संगठन है, जिसकी सदस्यता पवित्र एवं विरक्त जीवन व्यतीत करने वाले उन लोगों तक ही सीमित है जिनका समान लक्ष्य है, जो एक समान दार्शनिक विचारधारा में विश्वास रखते हैं तथा सामान्य आवास एवं एक समान जीवन-पद्धति का पालन करते हुए आत्मिक उत्थान एवं लोकोपकार की भावना से कार्य करते हैं।

एक मठ के सभी सदस्य आपस में अन्तर्क्रिया करने के साथ ही एक संगठित

समूह के रूप में समाज के अन्य संगठनों से भी अन्तर्क्रिया करते हैं। 'मठ' के सामाजिक महत्व को स्वीकार करते हुए समाज के अन्य संगठित समूह और कभी-कभी सर्वोच्च संगठन 'राज्य' भी इसे दान, अनुदान वा अन्य प्रकार से समर्थन प्रदान करते हैं। अनेक राजाओं और मुस्लिम शासकों द्वारा विभिन्न मठों को लिए गए दान का उल्लेख इतिहास में हुआ है। 'मठ' पर रहने वाले साधु अपने 'पद' और अपनी विशिष्ट 'भूमिका' के आधार पर निर्मित संस्तरणात्मक संरचना के अंग होते हैं। श्रीमहन्त, महन्त, महा अधिकारी, अधिकारी, कोठारी, पुजारी, भण्डारी, कोतवाल, फरखतिया आदि पदों पर कार्य करने वालों की निश्चित 'भूमिका' होती है, उनमें परस्पर बड़े-छोटे का भाव, व्यवहार में दिखायी देता है जबकि सिद्धान्तः सभी समान होते हैं। एक मठ के सभी साधुओं का एक निश्चित विश्वास एवं एक निश्चित लक्ष्य होता है। त्याग, तपस्या और संयमपूर्ण जीवन का आदर्श सभी स्वीकार करते हैं। एक सामाजिक संगठन के रूप में मठ के सभी सदस्य अपने निश्चित कर्त्तव्य का पालन करते हुए परस्पर सम्बद्ध होने के साथ ही अपने संगठन के प्रधान 'श्रीमहन्त' से सम्बन्धित और नियंत्रित रहते हुए एक गतिशील सन्तुलन बनाये रखते हैं। संगठन के सभी सदस्यों को दो संस्थाओं—ब्रह्मचर्य और विरक्त जीवन का पालन करना होता है। यद्यपि वर्त्तमान युग में इस दिशा में विचलन (डेविएशन) भी हुआ है। एक मठ के साधु कुछ निश्चित निषेधों को मानते हैं। उनमें पवित्र और अपवित्र में भेद करने की प्रबल भावना होती है। इस पवित्र सामाजिक संठगन की सामाजिक अन्तर्क्रिया का कुछ विशिष्ट प्रतिमान है जो इसे अन्य संगठनों से भिन्नता प्रदान करता है।

एक सामाजिक संगठन के रूप में मठ की अवधारणा, उसकी संरचना, प्रशासन योजना में विभिन्न युगों में हुए परिवर्त्तनों की समीक्षा के साथ ही हिन्दू धर्मेतर समाजों में प्रचलित मठीय व्यवस्था एवं वर्तमान औद्योगिक समाज में मठों की सामाजिक भूमिका का वैज्ञानिक अध्ययन शोधकर्त्ता का प्रमुख उद्देश्य है। संन्यासवाद, वैराग्य-भावना, पवित्र और वासनारहित जीवन मठ पर रहने वाले साधुओं की विशेषताएँ हैं। एकांकी जीवन व्यतीत करने वाले, निरन्तर भ्रमणशील, किसी कन्दरा, गुफा या कोटर में बैठकर तपस्या करने वाले एकाकी साधु के जीवन और मठ पर रहकर अपना एक पवित्र संगठन बनाकर किसी 'देवता' की आराधना एवं अपने दार्शनिक विश्वासों का प्रचार करते हुए उपासनापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले साधुओं के जीवन अनेक अर्थों में एक दूसरे से भिन्न हैं। साधु-संन्यासियों के वैयक्तिक जीवन-आदर्शों पर आधारित कतिपय अध्ययन हुए हैं। स्थान विशेष के कतिपय मठों के भी वैयक्तिक आधार पर सामान्न अध्ययन हुए हैं। किन्तु एक

विस्तृत क्षेत्र के विभिन्न सम्प्रदायों पर आधारित 'मठों' के संगठनात्मक स्वरूप तथा उनके वर्तमान कार्यों के मूल्यांकन एवं उनकी भावी सम्भावनाओं को दृष्टिपथ में रखते हुए कोई शोध प्रस्तुत नहीं किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन अब तक किए गए साधु, संन्यासियों एवं मठों के अध्ययन से सर्वथा भिन्न है।

हर व्यक्ति संस्कृति के उस परिवेश से घिरा रहता है जो सार्थक सामूहिक जीवन की देन है। किसी मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का निर्माण उसके आवास की परिस्थितियों एवं उसकी आवश्यकताओं द्वारा संयुक्त रूप में किया जाता है। सामाजिक जीवन में किसी व्यक्ति की वैयक्तिकता नहीं भाग लेती है बल्कि व्यक्ति के रूप में उसकी सामूहिकता सम्मिलित होती है।[१] व्यक्ति का सामाजिक 'स्व' उसके वैयक्तिक 'स्व' की अपेक्षा सामाजिक जीवन में अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के व्यवहार-निर्धारण में उसके अपने विशिष्ट व्यक्तित्व एवं समाज-व्यवस्था-जन्य नियमों तथा व्यवहार प्रतिमानों की भूमिका महत्वपूर्ण है। समाज-व्यवस्था जन्य व्यवहार प्रतिमानों का महत्व विभिन्न समूहों के सदस्यों के व्यवहार-प्रतिमानों की निरन्तरता को बनाये रखने में है. जबकि वैयक्तिक मूल्यों का महत्व उसके व्यक्तित्व को विशिष्टता एवं समाज को गतिशीलता प्रदान करने में है। किसी मानव-समाज में परिवर्तन के तत्व इन्हीं वैयक्तिक विशिष्ट व्यवहार प्रतिमानों से शक्ति प्राप्त करते हैं जो शनैः शनैः सामाजिक व्यवहार प्रतिमानों को बदलने में समर्थ हो जाते हैं।

मानव-सभ्यता के उषाकाल में वैदिक ऋषि, मुनियों, वातरशना तपस्वियों द्वारा मनुष्य के आभ्यन्तर मूल्यों के उन्नयन का जो कार्य वैयक्तिक स्तर पर किया जा रहा था, वही कालान्तर में समाज-चिन्तकों द्वारा आश्रम-व्यवस्था का निर्माण किये जाने पर चतुर्थाश्रमी संन्यासियों को सौंप दिया गया। इन संन्यासियों का जीवन वृहत्तर मानव-मूल्यों के प्रचार-प्रसार के साथ उस सर्वशक्तिमान् ईश्वर को समर्पित था जिसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति 'समाज' है। वैयक्तिक स्तर पर किये जा रहे किसी प्रयास की निरन्तरता एवं प्रामाणिकता तब तक संदिग्ध रहती है जब तक उस प्रयास को सम्पूर्ण समाज की स्वीकृति न प्राप्त हो जाय।

प्राचीन भारतीय समाज-वैज्ञानिक 'मनु' ने जो समाज व्यवस्था प्रस्तुत की है—उसमें इन संन्यासियों की विस्तृत भूमिका का वर्णन है। किन्तु इनके किसी संगठन का उल्लेख नहीं किया गया है। उस समय के संन्यासियों के आवास-स्थान के रूप में 'मठ' का उल्लेख हुआ है किन्तु उसकी संरचना एवं संस्थात्मक स्वरूप

१. मधुकान्ता त्रिपाठी, आरगेनाइजेशनल क्लाइमेट एण्ड टीचर एटीच्यूड्स : ए स्टडी आफ रिलेशनशिप्स, (पूर्वोक्त), पृ० ९।

का वर्णन नहीं मिलता है। मानव समाज की प्रकृति नित्य नए संगठनों का निर्माण करने की है। समाज की परिवर्त्तनशील आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नवीन संगठनों का जन्म होना स्वाभाविक ही है। विभेदीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न रुचि वाले व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न कार्य और भूमिका का सम्पादन करना होता है। एक समान विचार वाले व्यक्तियों की अन्तर्क्रिया से सामाजिक संगठन की संरचना विकसित होती है।

जैन एवं बौद्ध धर्म ग्रन्थों में अनेक प्राचीनतर भिक्षु सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है जो दार्शनिक मतों के सूक्ष्म भेदों तक ही सीमित थे। संघों या संघटनों के रूप में इनका कोई सामुदायिक अस्तित्व नहीं था। ब्रह्मजाल सूत्र में बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व श्रमणों और ब्राह्मणों के बासठ दार्शनिक मतों या 'दिट्ठियों' का उल्लेख है। जैन ग्रन्थों (सूत्र कृत्यांग २।२।७९) में उनकी संख्या तीन सौ तिरसठ तक बतलाई गयी है।[१] इन दार्शनिकों के किसी संघ या संगठन का उल्लेख नहीं मिलता है। इन विभिन्न सम्प्रदाय के भिक्षुओं का सामान्य नाम श्रमण ब्राह्मण था। यही तत्कालीन धार्मिक जीवन के नेता थे। जैन एवं बौद्ध साहित्य में इन श्रमणों का बहुत बार उल्लेख हुआ है। इन्हीं श्रमण एवं ब्राह्मण भिक्षुओं के अनुकरण में जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं का उदय हुआ, इन्हें ही संगठित कर महावीर स्वामी एवं महात्मा बुद्ध ने मठों एवं विहारों का सामाजिक संगठन निर्मित किया। बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं विकास में इन विहारों एवं मठों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है।

वैदिक हिन्दू धर्म एक व्यापक सनातन धर्म है। उसमें संन्यासपूर्ण जीवन की स्वीकृति न केवल परिव्राजक-भिक्षु के लिए अपितु गृहस्थ के लिए भी रही है। इस धर्म में मानव-जीवन के चार सोपानों में अन्तिम सोपान 'सन्यास' को ही स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में बौद्धों के पूर्व हिन्दू धर्म को मठवादी व्यवस्था ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जब जैन एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों द्वारा 'वैदिक' धर्म को आघात पहुँचाने का संगठित प्रयास किया गया तब हिन्दू धर्मावलम्बियों को भी अपने संन्यासियों को संगठित करने तथा स्थायी एवं पवित्र संगठन के रूप में 'मठ' बनाकर वैदिक धर्म को पुनः प्रचारित-प्रसारित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। परिणामतः आठवीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य द्वारा देश की चारों दिशाओं में प्रमुख तीर्थ स्थलों पर चार पीठों की स्थापना की गयी। इन पीठों पर संगठित साधु-सन्यासियों ने वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के साथ ही भारतीय संस्कृति के संरक्षण-सम्बर्द्धन एवं राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने में अपूर्व

१. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सिविलाइजेशन (अनु०) वासुदेव शरण अग्रवाल, (पूर्वोक्त), पृ० २२७।

योगदान किया है। बाद में विभिन्न धर्माचार्यों, भक्तों एवं सन्तों ने शंकराचार्य द्वारा संस्थापित पीठों के प्रतिमान पर अपने-अपने सम्प्रदाय के मठों की स्थापना द्वारा अपने दार्शनिक विश्वासों का प्रचार-प्रसार किया। आधुनिक औद्योगिक समाज में इन धार्मिक मठों की संरचना, प्रशासन-व्यवस्था एवं भूमिका में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है।

अन्य सामाजिक संगठनों की ही भाँति हिन्दू मठों के सदस्यों की संस्तरणात्मक स्थिति, परस्पर सम्बन्धित भूमिका एवं सत्ता-संरचना है। प्रत्येक मठवासी साधु की भूमिका उसके पद एवं अधिकार से सम्बन्धित है। सभी सदस्यों के पद एव भूमिका को संगठन के सर्वोच्च सत्तासीन व्यक्ति की स्वीकृति प्राप्त होती है। एक सदस्य की भूमिका का सम्बन्ध उस मठ के अन्य सदस्यों की भूमिका की प्रत्याशा से होता है। एक विशिष्ट मठ का कोई सदस्य जब दूसरे मठ पर जाता है या उससे अन्तर्क्रिया करता है तो उसे अपने 'मठ' का प्रतिनिधि माना जाता है। एक संगठन के रूप में हिन्दू मठों का संरचनात्मक एवं अन्तर्क्रियात्मक स्वरूप है। मठ एक प्रकार का खुला या मुक्त वर्ग है जिसकी सदस्यता का द्वार उन सभी लोगों के लिए खुला है जो उस दार्शनिक सिद्धान्त के समर्थक एवं विरक्त जीवन के पोषक हैं। मठ में एक मूर्त व्यवस्था होने के साथ ही अमूर्त संस्थात्मक व्यवहार प्रतिमान स्पष्टतः देखे जा सकते हैं।

अन्य सामाजिक संगठनों की ही भाँति मठ और अखाड़े अपनी व्यवस्था को सुदृढ़ एवं सशक्त बनाने हेतु अपने सदस्यों को उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार निश्चित कार्य-सम्पादन का दायित्व सौंपते हैं, विभिन्न प्रकार के कार्यों को पूरा करने के लिए नये सदस्यों का चयन करते हैं, सकारात्मक कार्यों हेतु प्रोत्साहन एवं नकारात्मक कार्यों के लिए निषेध की व्यवस्था करते हैं और साथ ही अपने संगठन की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति हेतु समयानुकूल कार्य-विधि में परिवर्तन की भी व्यवस्था करते हैं।

शेन की दृष्टि में संगठन एक जटिल सामाजिक व्यवस्था है। किसी व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन तभी सम्भव है जब उसके उस संगठन की सम्पूर्ण व्यवस्था का सम्यक् अध्ययन किया जाय जिसका वह सदस्य है। किसी संगठन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्यों में लचीलापन एवं परिस्थिति से अभियोजन की पर्याप्त क्षमता हो।[१]

१. ए० एच० शेन, आरगेनाइजेशनल शाइकोलाजी, (पूर्वोक्त), पृ० ३।
२. वही, पृ० ९०-९१।

अभियोजनशील एवं लचीली प्रकृति वाले संगठनों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए शेन का कथन है कि ऐसे संगठन परिवर्तनशील समाज में अपने सदस्यों की आवश्यकताओं से अनुकूल करते हुए संगठन के मूल्यों एवं आदर्शों को भी बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में मठीय-व्यवस्था में रहने वाले साधु-सन्यासियों का अध्ययन करने की दृष्टि से उनके संगठन—मठ की संरचना एवं भूमिका का अध्ययन करना परमावश्यक है। आधुनिक भौतिकवादी औद्योगिक समाज की परिस्थितियों में मठ की सामाजिक उपयोगिता क्या है ? उसकी आर्थिक व्यवस्था का आधार क्या है ? मठीय संगठन पर आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति का कहाँ तक प्रसार हुआ ? आदि बातों का अध्ययन करते हुए मठों की भावी सम्भावनाओं का अनुसंधान करना प्रस्तुत शोध का उद्देश्य है।

मठः एक सामाजिक व्यवस्था

मठ एक सामाजिक व्यवस्था है। इसमें व्यवस्था के सारे गुण देखे जा सकते हैं। व्यवस्था की इन विशेषताओं को हम निम्नलिखित बिन्दुओं में देख सकते हैं—

१. भूमिका एवं प्रस्थिति का सोपानात्मक क्रम—प्रत्येक व्यवस्था की यह प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा होती है कि उसमें प्रस्थिति एवं भूमिका का एक सोपानात्मक क्रम होता है। प्रस्थिति का सोपानात्मक क्रम शीर्ष से पद तक फैला रहता है। समस्त सत्ता शीर्ष में निहित होती है और उसका प्रवहण शीर्ष से पद की ओर होता है। इस प्रक्रिया को समाजशास्त्रीय शब्दावली में सत्ता-प्रवहण (पावरफ्लो) कहते हैं।

मठीय व्यवस्था में महन्त प्रशासकीय और बौद्धिक दोनों शाखाओं का सर्वोच्च सत्ताधिकारी होता है। समस्त सत्ता उसी में निहित रहती है। महन्त के अधीनस्थ सोपानात्मक रूप में अन्य कार्याधिकारी होते हैं जो व्यवस्था के विभिन्न पक्षों की प्रकार्यशीलता के लिए उत्तरदायी होते हैं। विभिन्न मठीय संगठनों में यद्यपि पदों की विभिन्नता रहती है परन्तु इन सभी में सामान्य विशेषता यह होती कि प्रस्थितियों का एक सोपानात्मक क्रम होता है। श्री महन्त, महन्त, अधिकारी, कोतवाल, कोठारी, पुजारी, भण्डारी, गोलकी, फरखतिया आदि पदों पर विभिन्न मठों के साधु अपनी निश्चित भूमिका प्रतिपादित करते हैं।

२. विश्वास एवं आदर्श-व्यवस्था—प्रत्येक संगठन का निर्माण किन्हीं मान्यताओं, आदर्शों एवं विश्वासों को लेकर होता है, चाहे वह धार्मिक हो अथवा धर्मनिरपेक्ष। जहाँ तक मठीय संगठनों के आदर्श एवं मान्यताओं का प्रश्न है, यह माना जाता है कि गृहस्थी के जाल में फंसकर व्यक्ति 'पर' एवं लोकोत्तर सत्ता को भूल जाता है। ऐसी स्थिति व्यक्ति और समाज दोनों के लिए दीर्घकाल में अहितकर

होती है—इस समस्या के समाधान के लिए मठीय व्यवस्था का आविर्भाव हुआ। मठीय व्यवस्था के पूर्व व्यक्तिगत तप एवं चिन्तन की परम्परा थी। इस परम्परा द्वारा लोकोत्तर सत्ता-सम्बन्धी समस्या का तो समाधान हो जाता था परन्तु 'पर' की समस्या रह जाती थी। ऐसी स्थिति में मठ ने इस कमी को भी पूरा किया। मठ की दृष्टि में ईश्वर के साथ समाज का भी अस्तित्व है। यदि ईश्वर प्राथमिक सत्ता है तो समाज द्वैतीयक सत्ता है। यदि ईश्वर पारलौकिक अथवा पारमार्थिक सत्ता है तो समाज लौकिक सत्ता है। इसीलिए समाजसेवा,परहित चिन्तन तथा लोकोपकार संबंधी कार्यों को मठ पर मोक्ष प्राप्ति का साधन और धर्म का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप माना जाता है। सन्त कवि तुलसीदास की यह पंक्तियाँ अति साधारण मठ पर रहने वाले साधु से भी सुनी जा सकती हैं।

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।'

स्पष्ट है कि मठों से ऐसे नैतिक नियमों एवं सामाजिक मान्यताओं का निस्सरण होता है जो सामाजिक संगठन की आधारशिला बनते हैं, वे सामान्य जन के लिए आदर्श व्यवहार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मठों में असंग्रह, असम्पृकता, निष्काम कर्म आदि जैसे गुण की दीक्षा दी जाती है। यहाँ पर ऐसे व्यक्तित्व का सृजन होता है जो दूसरों के लिए अनुकरणीय होता है।

३. संस्थाओं की सम्बद्धता—मठीय व्यवस्था से कुछ संस्थाएँ सम्बद्ध हो जाती हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं।

(क) अविवाहित जीवन—साधु-समाज में कतिपय 'संजोगी' अथवा 'घर-बारी' कोटि के साधुओं को भी स्वीकृति प्राप्त है। कुछ मठों के महन्त गत दशक से वैवाहिक जीवन व्यतीत करने लगते हैं परन्तु ऐसे साधुओं को हेय दृष्टि से देखा जाता है। अतीत में ऐसे महन्तों को पदच्युत कर दिया गया है जिन्होंने महन्त बनने के पश्चात् 'अविवाह' की संस्था त्यागकर विवाह-संस्था में प्रवेश कर लिया था। सामान्यतया यही अपेक्षा की जाती है कि साधु समाज के सदस्य वैवाहिक बन्धन से मुक्त रहें।

विवाह मुक्तता वैसी ही सशक्त संस्था है जैसे विवाह। विवाह-मुक्तता की स्थिति ही मठीय जीवन तथा समस्त साधु समाज को एक विशिष्टता प्रदान करती है। मठ, अखाड़े और आश्रम ऐसे समूह हैं जिनकी निरन्तरता सदस्यों के आत्मजों पर आधारित न होकर शिष्यों पर आधारित होती है। सामान्य सामाजिक व्यवस्था में पिता और पुत्र में जो आध्यात्मिक एवं वैधानिक सम्बन्ध होता है, लगभग वही सम्बन्ध साधु-गुरु एवं साधु-शिष्य में होता है। शिष्यों के आधार पर गुरुओं की परम्परा चलती है। शिष्यों से ही मठीय व्यवस्था में नैरन्तर्य बना रहता है।

मठीय व्यवस्था एवं सैनिक समूहों में आंशिक समानता है। सैनिक समूहों की सदस्यता आंशिक रूप से सदस्यों के आत्मजों पर आश्रित रहती है जबकि मठों एवं अखाड़ों में ऐसी विशिष्टता का पूर्ण अभाव रहता है, इन समूहों के अतिरिक्त अन्य सामूहिक संस्थाएँ–जैसे परिवार, समुदाय आदि सदस्यों के आत्मजों पर आश्रित रहती हैं।

इस प्रकार अविवाह की संस्था मठों एवं अखाड़ों को ऐसी विशिष्टता प्रदान करती हैं जिसके आधार पर वे अन्य सामाजिक संगठनों से बिल्कुल भिन्न हो जाते हैं।

(ख) परिवार से सम्बन्ध विच्छेद—दूसरी संस्था जो मठीय संगठन से सम्बन्धित है, वह है–परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद। ऐसा नहीं है कि गृहस्थ-जीवन में साधु-जीवन को उतारा जा सकता, किन्तु पारिभाषिक रूप में ऐसे साधु को मठ पर स्थायी निवास की अनुमति नहीं दी जा सकती, जिसका सम्बन्ध अपने माता-पिता अथवा विवाह-सम्बन्धियों से बना हुआ है। किसी ऐसे व्यक्ति को साधु-संज्ञा भी नहीं दी जा सकती, जो पारिवारिक जीवन व्यतीत करता है। ऐसी स्थिति में साधु-समाज में प्रवेश के लिए प्रत्येक नवागन्तुक को एक विशेष प्रकार की औपचारिक एवं कर्मकाण्डीय दीक्षा लेनी पड़ती है। इस दीक्षा के उपरान्त सामाजिक एवं वैधानिक रूप से व्यक्ति का सम्बन्ध उसके परिवार से समाप्त हो जाता है। उसका अपना एक नया परिवार बन जाता है और पुराना परिवार छूट जाता है।

(ग) वर्जना--व्यवस्था—प्रत्येक व्यवस्था की प्रकार्यशीलता के लिए जहाँ एक ओर स्वीकार्यात्मक मूल्यों, आदर्शों एवं परम्पराओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं, वहीं दूसरी ओर निषेधों एवं वर्जनाओं की भी महत्ता होती है। वर्जनाओं को हम नकारात्मक मूल्यों की संज्ञा दे सकते हैं। मूल्यों एवं वर्जनाओं में अन्योन्याश्रयता होती है--दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। दोनों किसी भी व्यवस्था की प्रकार्यशीलता के लिए समान रूप से उत्तरदायी होते हैं।

मठीय व्यवस्था में निम्नलिखित वर्जनाएँ प्रमुख हैं—

(अ) महिलाओं से दूरी—तप में महिलाओं को व्यवधान के रूप में देखा जाता है। ऐसी मान्यता है कि महिलाओं के सम्पर्क से व्यक्ति पथ-भ्रष्ट हो सकता है। हिन्दीभाषी क्षेत्र में इस वर्जना से सम्बन्धित एक लोकोक्ति प्रचलित है।

'आलस नींद किसानै नाशै, चोरै नाशै खाँसी।
हँसी-खुशी संन्यासी नाशे, साधू नाशै दासी'॥

(ब) विशेष वर्जनाओं के अतिरिक्त सामान्य वर्जनाएँ—भी मठीय व्यवस्था में प्रचलित हैं। आपस में 'तू-तू, मैं-मैं, न करना,' 'अपने से श्रेष्ठ साधुओं की आज्ञा का उल्लंघन न करना—', 'मठ की वस्तु का न चुराना' आदि। वर्जना से सम्बन्धित प्रतिज्ञा महानिर्वाणी पंचायती अखाड़े में निम्नलिखित प्रकार की है—

"तेरी मेरी करना नहीं, लोहा लंगड़ उठाना नहीं।
खाये-पीये की मवा, घरे-ढके की सौगन्ध,
अखाड़ा छोड़ के दूसरे अखाड़े पर जाना नहीं
जिसके पास में रहना उसकी आज्ञा टालना नहीं॥"

(स) मठीय सम्पत्ति का व्यक्तिगत हित में प्रयोग न करना—इस वर्जना के आधार पर मठीय सम्पत्ति का व्यक्तिगत हित में प्रयोग वर्जित है। मठ की सम्पत्ति देवता, द्विज, साधु, छात्रादि सम्वन्धी कार्यों में प्रयोग के लिए समाज द्वारा प्रदत्त है। सामाजिक न्याय के प्रबन्ध के रूप में महन्त द्वारा मठ की सम्पत्ति का प्रयोग उन्हीं कार्यों पर होना चाहिए जिसके लिए वह सम्पत्ति प्राप्त हुई है अन्यथा व्यक्तिगत स्वार्थ-पूर्ति में किए गए व्यय का दोष-भागी बनना पड़ता है। इस वर्जना के आधार पर एक मठ हजारों वर्षों तक कार्य करता रहता है उसमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी महन्त परम्परा चलती रहती है। इस वर्जना के अतिक्रमण से मठीय सम्पत्ति नष्ट हो जाती है और परिणामतः मठ संगठन को क्षति पहुँचती है।

(घ) कर्मकाण्डीय व्यवस्था—किसी सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता के लिए तीन तत्वों का विशेष महत्व होता है। यह हैं—विश्वास, संस्था एवं कर्मकाण्ड। विश्वास व्यवस्था इन तीनों तत्वों में सर्वाधिक अमूर्त है। विश्वास व्यवस्था के दो पक्ष होते हैं—स्वीकारात्मक एवं नकारात्मक। स्वीकारात्मक पक्ष के अन्तर्गत आदर्श तथा मान्यताएँ आती हैं और नकारात्मक पक्ष के अन्तर्गत वर्जनाएँ। संस्था विश्वास की तुलना में स्थूल होती है और कर्मकाण्ड उससे भी स्थूल।

किसी भी व्यवस्था का अस्तित्व मात्र विश्वास व्यवस्था पर आधारित नहीं होता है। जिस समाज अथवा समुदाय के यह तीनों पक्ष समानरूप से प्रबल होते हैं उनमें दीर्घायुता रहती है। बुद्ध-धर्म की अल्पायुता को सामान्यता कर्मकाण्डो के अभाव से जोड़ा जाता है। साम्प्रदायिक आदर्शों के प्रति प्रतिबद्धता का क्रिया-न्वयन संस्थाओं एवं कर्मकाण्डों द्वारा होता है। यदि सस्थाएँ एवं मान्यताएँ न रहें तो मात्र विश्वास-व्यवस्था अधिक दिनों तक नही टिक सकती। वह सम्बन्धित समुदाय के अभिजात वर्ग की सम्पत्ति मात्र बनकर रह जाती है। विश्वास-व्यवस्था पुष्प-सुगन्ध की भाँति है जिसका अपना अस्तित्व पुष्प से जुड़ा रहता है। संस्थाएँ एवं कर्मकाण्ड ही वह पुष्प हैं जिनकी सुगन्ध विश्वास के रूप में फैलती है।

संस्थाओं एवं कर्मकाण्डों में प्रतिबद्धता के लिए प्रेरक शक्ति होती है। इनके उल्लंघन से व्यक्ति में तनाव होता है जिससे बचने के लिए वे अनुचलनात्मक व्यव-हार के लिए प्रेरित होते हैं।

मठीय संगठन में बहुत से कर्मकाण्ड प्रचलित हैं—यह कर्मकाण्ड तिलक, मुद्रा, पूजा, ध्यान, तन्त्र, योगासन आदि से सम्बन्धित हैं। यह अवश्य है कि विश्वास व्यवस्था कर्मकाण्ड-व्यवस्था से सम्बद्ध होकर विरूपित हो जाती है परन्तु इस विरू-पीकरण के बाद भी इतना लाभ अवश्य होता है कि विश्वास-व्यवस्था में निरन्तरता बनी रहती है। कर्मकाण्ड वह न्यूनतम अपेक्षा है, जहाँ तक सम्बन्धित व्यक्ति को पहुँचना ही पड़ता है।

2

हिन्दू मठ : अवधारणा उद्भव एवं विकास

प्रत्येक मानव समाज अपने सदस्यों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपनी मान्यताओं के अनुरूप अनेक संस्थाओं का निर्माण करता है। सामाजिक मनुष्यों का जीवन कुछ नियमों एवं व्यवस्थाओं द्वारा नियन्त्रित होता है। उसका जीवन अन्य प्राणियों जैसा उन्मुक्त, अव्यवस्थित एवं अनियमित नहीं होता। वह एक बुद्धि-प्रधान प्राणी होने के कारण न केवल अपनी भौतिक वरन् आधिभौतिक आकांक्षाओं की संतृप्ति हेतु भी सतत् प्रयत्नशील रहता है। प्राचीनकाल का अरण्यवासी मानव भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही साथ दूसरों के कल्याण की भी अभिलाषा रखता था। यह केवल अपनी उदरपूर्ति में ही संलग्न नहीं था, वरन् मन की संतुष्टि के लिए चिन्तन-मनन की क्रियाओं में भी सन्नद्ध था। भौतिक और आधिभौतिक आवश्यकताओं की प्रतीति उस सभ्य मानवकाल से ही होने लगी थी। आज विज्ञान की चरम प्रगति के युग में भी वह आध्यात्मिक अनुसंधानों से विमुख नहीं हो सका है।

प्रकृति के अज्ञात रहस्यों का अन्वेषक आधुनिक भौतिक वैज्ञानिक भी अपनी आत्मा की अभौतिकता का रहस्योद्घाटन नहीं कर पा रहा है। यही कारण है कि प्रत्येक युग और समाज में भोग के साथ ही त्याग की भावनाएँ भी चलती रही हैं। लौकिक एषणाओं के साथ पारलौकिक विश्वास भी पलते रहे हैं। 'स्व' के साथ 'पर' के कल्याण की चेतना भी बराबर सक्रिय रही है। प्रथम से वह अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा है तो द्वितीय आध्यात्मिक मूल्यों की अभिवृद्धि करता रहा है।

जन-जीवन में नैतिक मूल्यों की स्थापना, आध्यात्मिकता की रक्षा तथा जीवन और जगत से सम्बन्धित अपनी मान्यताओं के प्रचार व प्रसार के लिए ही सभ्यता एवं संस्कृति के उषाकाल में, हिन्दू समाज में मठों और धार्मिक केन्द्रों का सृजन हुआ था। मठों और धार्मिक संस्थानों में लोग गृहस्थ जीवन से दूर, संसार से विरक्त रहकर समूचे समाज के कल्याण के लिए संन्यास ग्रहण कर लेते थे। आरम्भ से ही मठ समाज में धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यकलापों के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं। यद्यपि कतिपय इतिहासकारों की धारणा है कि मठों का वर्तमान स्वरूप बौद्ध विहारों के आधार पर गठित हुआ है, किन्तु ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है।

क्योंकि मठों में रहने वाले संन्यासियों एवं साधुओं के विविध वर्गों का जन्म बौद्धयुग के बहुत पूर्व वैदिक युग में ही हो चुका था। तभी से इनके उद्देश्यों एवं कार्यों की पूर्ति भी होने लगी थी। वैदिक जीवन के विकासक्रम में ही निवृत्ति-मार्गीय जीवन-दृष्टि का पल्लन हो चुका था। यद्यपि संहिताओं में 'संन्यास' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु इनके स्थान पर 'यती', 'मुनी' आदि शब्दों का उल्लेख वैदिक साहित्य में बराबर हुआ है। यही यती, मुनि, आदि शब्द आगे चलकर सन्यासी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे।

समाज में उत्पन्न होने वाला कोई भी व्यक्ति सामाजिक भावनाओं से सर्वथा परे नहीं हो सकता। निवृत्तिमार्गीय जीवन दृष्टि का सहारा लेकर संन्यासियों ने सांसारिक जीवन से दूर रहकर वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने का संकल्प अवश्य लिया किन्तु जब वे एक से अनेक हो गये तो उनकी सामाजिकता भी उद्बुद्ध हुई और वे भी संन्यासि-वर्ग का संघटन करने में लग गये। परिणामतः उनमें अपनी एक पृथक् सामाजिकता का विकास हुआ। डा. घूरिए ने ठीक ही लिखा है कि सांसारिक जीवन का त्याग करके विरक्त हो जाने वाले लोग जब दो या अधिक संस्थाओं में समूहबद्ध जीवन व्यतीत करते है तो यह सिद्ध होता है कि सामाजिक जीवन का पूर्ण त्याग असंभव हैं। जब उनके लिए किसी न किसी निवास स्थान की आवश्यकता पड़ती है तो वही 'मठ' जैसा रुप धारण कर लेता है, जहाँ उनके विरक्त सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करने के लिए कुछ विशेष नियमों के आधार पर एक विशेष प्रकार का संगठन जन्म ले लेता है।[१]

उपनिषदों तथा प्राचीन बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि बौद्ध एवं जैन धर्म के उदय के पूर्व छठीं शताब्दी ईसवी पूर्व का युग एक बौद्धिक एवं आध्यात्मिक क्रान्ति का युग था जबकि ब्राह्मण और 'श्रमण' आचार्य और भिक्षु नाना प्रकार के धार्मिक-दार्शनिक मतों की उद्‌भावना और अनेक नवीन मार्गों एवं सम्प्रदायों का प्रचार कर रहे थे। इन ब्राह्मण एवं श्रमण आचार्यों का तत्कालीन समाज पर व्यापक प्रभाव भी था क्योंकि समाज के लोगों में बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जिज्ञासा उत्पन्न हो चुकी थी। ये साधु सन्यासी विरक्त एवं त्यागमय जीवन व्यतीत करते थे। इस युग में ऋषि या मुनि ही धर्म का केन्द्र था। वह सत्य का साक्षात् अनुभव करने की योग्यता रखता था। वह अरण्यस्थित आश्रमों में निवास करता था। समस्त एषणाओं का त्याग करके भिक्षु के रूप में विचरण

---

१. जी० एस० घूरिये, इण्डियन साधूज, (बाम्बे : पापुलर प्रकाशन, १९६४), पृ० १।

करता था।[1] इससे स्पष्ट है कि उन दिनों ऋषि-मुनियों के अरण्यस्थित आश्रमों में उनके अनेक शिष्य, तपस्वी एवं 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' के रूप में अपना जीवन व्यतीत करते थे और अपने-अपने आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मतों का अनुसरण कर तपश्चर्या किया करते थे। कालान्तर में इन्हीं के आधार पर महात्मा बुद्ध ने अपने बौद्धमत के प्रचार-प्रसार के लिए बौद्ध विहारों की स्थापना की।

मठों के उद्भव तथा उनके वर्तमान स्वरूप का विवेचन करने के पूर्व आवश्यक है कि निवृत्तिमार्गीय जीवन-दर्शन तथा संन्यास की पृष्ठभूमि का विवेचन किया जाय।

समाज में निवृत्तिपरक भावना का विकास—'संन्यास' एवं 'संन्यासियों' के उदय के पूर्व निवृत्तिपरक भावना के विकास का मूल खोजना आवश्यक है क्योंकि निवृत्ति भावना से ही संन्यास का प्रतिफलन हुआ है और संन्यासियों के संगठनात्मक क्रम में ही 'मठों' का उद्भव हुआ है। निवृत्तिपरक भावना के विकास का एक महत्वपूर्ण किन्तु अस्पष्ट स्वरूप हडप्पा संस्कृति के अवशेषों में उपलब्ध होता है, जहाँ एक मुहर पर पीपल जैसे वृक्ष का चित्र अंकित है जिसकी कलात्मक टहनियों एवं पत्तियों वीच तने पर एक में जुड़े हुए दो सर्प जैसे जीव चित्रित हैं। सर्पों का शरीर ऊपर की ओर उठा है और मुँह डालियों के बीच तक पहुँचता है—(सरजान मार्शल, मोहन चोदड़ों एण्ड इण्ड्स सिविलाइजेशन, मु० सं० ३८७)। निश्चय ही मुहर में चित्रित युगल सर्प आकृतियों का कोई न कोई सांकेतिक अर्थ है किन्तु चित्रों को देखकर ही उसका पता लगा लेना कठिन है। इस चित्र का अर्थ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में दिये गये श्लोक से अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है। मन्त्र

दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) हैं, जो एक-दूसरे के मित्र हैं और एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं, उनमें से एक पीपल के फल का आस्वादन कर रहा है, दूसरा न खाता हुआ भी केवल देखता रहता है।[2] यहाँ

---

१. देवेन्द्रलाल, प्राचीन भारत में संन्यास और संन्यासी, (गोरखपुर विश्वविद्यालय, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, इतिहास विभाग, १९६९), पृ० २३ पर उद्धृत।

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ —ईशादि नौ उपनिषदः तृतीय मुण्डक प्रथम खण्ड, पृ० २१९। (गोरखपुर, मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, २०१०)

आस्वादन करने वाला पक्षी भोग और आस्वादन न करते हुए केवल देखने वाला पक्षी वैराग्य का प्रतीक माना गया है। एक प्रवृत्ति भावना का प्रतीक है और दूसरा निवृत्ति भावना का। इससे स्पष्ट होता है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता में इन दोनों प्रवृत्तियों का सम्यक् विकास हो चुका था। इसी प्रकार गृहस्थ जीवन से दूर होकर वैराग्यपूर्ण जीवन की साधना करने वाले साधक के चित्र से युक्त भी एक मुहर प्राप्त हुई है। मुहर के मध्य में तिपाई पार एक व्यक्ति की मूर्ति है। उसके सिर पर त्रिशूल जैसी कोई वस्तु है, हाथ घुटने पर है तथा वक्ष पर कोई वस्त्र भी पड़ा हुआ है। उसके दायीं ओर हाथी तथा व्याघ्र, बायीं ओर गैंडा और भैंसा तथा सामने शृंगी हिरन का चित्र अंकित है। मुहर के ऊपर छः अक्षरों का लेख है (फरदर एक्सकैवेशन ऐट मोहनजोदड़ो; मुहर संख्या ४२०)[१]। योगमुद्रा से सम्बन्धित इसी प्रकार की कुछ और मुहरें भी प्राप्त हुई हैं। मुद्राओं में अंकित इन चित्रों से सिन्धुघाटी की सभ्यता में न केवल योगसाधना एवं निवृत्ति भावना के विकास का संकेत मिलता है वरन् यह भी स्पष्ट होता है कि निवृत्ति भावना के साधक योगियों को उन दिनों पर्याप्त महत्व दिया जाता था। वस्तुतः धार्मिक जीवन के अनेक महत्वपूर्ण तत्व हमें सिन्धु सभ्यता में मिल जाते हैं, जिनमें पशुपति, योगीश्वर तथा कदाचित नटराज के रूपों में शिव की पूजा, मातृशक्ति की पूजा अश्वत्थ पूजा, वृषमादि पशुओं का देव सम्बन्ध, लिंग पूजा, जल की पवित्रता, मूर्ति पूजा और यागाभ्यास उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर वैदिक ब्राह्मण समाज में 'मुनियों' और 'श्रमणों, की जो परम्परा चली, उसे हम योग–मुद्रा में दिखाये गये योग–साधकों से सम्बद्ध कर सकते हैं।

वैदिककालीन सभ्यता में निवृत्ति और प्रवृत्तिवादी भावनाओं का सम्यक् विकास हो चुका था। उस युग में जहाँ एक ओर ब्राह्मण धर्म प्रवृत्तिवादी एवं देववादी दृष्टि लेकर चल रहा था वहीं दूसरी ओर 'मुनि' एवं 'श्रमण' निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन कर अपनी योगसाधना में रत थे। मुनियों ने प्रवृत्तिमूलक कर्मों को अपने लिए हेय तथा बन्धनात्मक मान लिया था। उन्होंने अपने लिए ब्रह्मचर्य, तपस्या और योग आदि निवृत्तिपरक क्रियाओं को ही उपादेय माना था। किन्तु ब्राह्मण धर्म में लौकिक सुखों का प्राप्त करना मुख्य पुरुषार्थ माना गया था, इसी को प्राप्त करने के लिए वे यज्ञात्मक कर्मों का आयोजन करते थे। ऋग्वेद में तत्कालीन आर्यों द्वारा जो प्रार्थनाएँ की गयी हैं उनमें अधिकांशतः धन-पुत्र, दीर्घ-जीवन, सुख-समृद्धि आदि के लिए ही विविध आकांक्षाएँ व्यक्त की गयी हैं। किन्तु इन लौकिक एषणाओं के साथ ही साथ पारलौकिक चिन्तन और निवृत्तिपरक भावनाओं का प्रसार भी उनमें

१. ईशादि नौ उपनिषद : तृतीय मुण्डक प्रथम खण्ड पृ० २१९। (गोरखपुर, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस २०१०)

हो चुका था। शंकराचार्य ने ('गीता भाष्य का उपोद्घात' में) वैदिक धर्म को दो प्रकार का बताया है—एक प्रवृत्ति लक्षण दूसरा निवृत्ति लक्षण। इनमें ब्राह्मण धर्म केवल प्रवृत्ति लक्षणयुक्त था। निवृत्ति लक्षण के धर्म के अनुयायी उस युग में केवल मुनि और श्रमण थे।[1]

उत्तरवैदिक सभ्यता में धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अनेक नवीन सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई, इस युग के मनीषियों ने आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। तप और योग साधना का इस युग में पर्याप्त विकास हुआ। ऋग्वेद के दशम मण्डल में तपश्चर्या में बैठे हुए सात ऋषियों का वर्णन मिलता है। अथर्ववेद (७।७४।१) में कहा गया है कि तप से मुनियों को अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। एतरेयब्राह्मण (३।३०) में तप की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'तप द्वारा ही ऋषियों को सोमपान का अधिकार मिला था।'

अब निवृत्तिपरक भावना के संवाहक मुनि, श्रमणों ऋषियों एवं साधु, संन्यासियों पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है—

समाज में मुनि, श्रमण एवं साधु-संन्यासियों का उदय

निवृत्तिमूलक जीवन दर्शन के प्रणेता हमारे मुनि, श्रमण एवं साधु-संन्यासी ही रहे हैं। साधु संन्यासियों के संगठन की दृष्टि से ही कालान्तर में मठों का विकास हुआ था। इसलिए 'मठ' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चर्चा करने से पूर्व इन पर विचार कर लेना आवश्यक है।

'संन्यास' त्यागपूर्ण जीवन का प्रतीक है। कर्म सिद्धान्त भी त्याग की ही शिक्षा देता है। 'मैं' और 'मेरा' का परित्याग ही सन्यास का परम लक्ष्य है। इस संकुचित परिधि से निकल कर ही व्यक्ति संन्यास के उच्च धरातल पर पहुँचकर लोकहित की चिन्ता करता है। यद्यपि वैदिक संहिताओं में 'संन्यास' और 'संन्यासी' शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता किन्तु इनके लिए मुनि, श्रमण, यती, वातरशना, यायावर, परिब्राजक, भिक्षु; साधु आदि शब्दों के प्रयोग हुए हैं।

ऋक् संहिता के केशिसूक्त में केशधारी; मैले 'गेरुये' कपड़े पहने हवा में उड़ते, जहर पीते, 'मौनेय' से उन्मादित और 'देवेसित' मुनियों के विलक्षण स्वरूप

---

1. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, (लखनऊ : हिन्दी समिति, सूचना विभाग, १९६३), पृ० ६।

का वर्णन मिलता है [१]। उत्तरवैदिक साहित्य में इनका वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है। मुनियों को योगजन्य सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। 'वातरशना' इन्हीं मुनियों का वर्ग था जो सम्भवतः केवल 'वायुपान' तथा यौगिक क्रियाओं से ही अपना जीवन यापन करता था। कुछ लोगों ने 'वातरशना' का अर्थ नग्नरूप में विचरण करने वाले मुनियों के रूप में लिया है। किन्तु इस प्रकार का अर्थ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'वातरश्नाः' के साथ ही 'मैले गेरुए' वस्त्र का भी उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद (७-५६-८, ८-१७-१४) में प्राप्त वर्णन के अनुसार मुनियों की अपनी कई विशेषताएँ थीं। यथा—इनके सिर पर लम्बी जटाएँ सुशोभित होती थीं, ये ध्यानस्थ एवं विचारमग्न रहने का अभ्यास करते थे। इनमें कुछ लोग गृही भी होते थे। ये इन्द्र के सखा समझे जाते थे। यतियों और भिक्षुओं के लिए नियमों का निर्माण करना भी इनका एक प्रमुख कार्य था। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को समझाते हुए मुनि के लक्षणों को स्पष्ट किया है।[२]

'श्रमण' परम्परा में तप और व्रत को निःश्रेयस् का मार्ग समझा गया था। मुनि और श्रमण प्रायः एक वर्ग के साधक थे किन्तु इनकी कुछ अपनी विशेषताएँ थीं जो एक-दूसरे से भिन्न थीं। तैतरीय आरण्यक (जिद—१, पृ० ८७) में श्रमणों को 'वातरश्नाः' कहा गया है। वृहदारण्यकोपनिषद (४, ३, २२) में 'श्रमण' शब्द का प्रयोग आया है। डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार 'वैदिक काल में मुनि-श्रमण ब्राह्मण प्रधान वैदिक समाज के बहिर्मूर्त होते हुए भी एक प्राचीन और उदात्त आध्यात्मिक परम्परा के उन्मूलित अवशेष थे[३]। जैन और बौद्ध साहित्य में इन श्रमणों के विषय में पर्याप्त वर्णन मिलते हैं। ब्राह्मण और श्रमण परस्पर विरोधी थे। सायण के अनुसरा 'श्रमण' तपपूर्ण कष्टसाध्य जीवन के अभ्यासी थे। ये प्रायः जंगलों में निवास करते थे तथा भिक्षा से अपनी जीविका चलाते थे।

'यति' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है। सायण के भाष्य में इनकी विशेष-

१. 'मुनयो वातरश्नाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ॥'—ऋग्वेद, १०।१३६।२।३।

२. 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥'—गीता, अ० २, श्लोक ४५।

३. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० ५।

ताओं का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि ये मटमैले रंग के कपड़े पहनते थे। ये दण्ड धारण करते थे तथा उपनिषदों की शिक्षा का विरोध करते थे। ये रूढ़िवादी नहीं थे। कहीं से भी अपना भोजन ग्रहण कर सकते थे। डा० घूरिये के अनुसार ऋग्वेदकाल के विरक्त सन्यासियों में एक ऐसा भी वर्ग था जो प्रायः नग्न विचरण करता था,[१] कुछ अद्भुत् शक्ति रखता था, अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता था तथा वह लिंगोपासक भी था—यह वर्ग यतियों का ही था। इन्हें ब्राह्मण जाति से सम्बद्ध किया गया है। यतियों का 'वातरशना' से भी कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। यतियों में मुनियों की तरह लम्बे बाल धारण करने की परम्परा कहीं वर्णित नहीं है।

'यायावर' और 'परिव्राजक' भी संन्यासपूर्ण जीवन के अभ्यासी थे। त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए भी 'यायावर' बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों का स्वामित्व भी रखते थे। किन्तु ये सरल एवं अध्ययनशील हुआ करते थे। इन्होंने वैदिक ऋचाओं का विश्लेषण किया था। 'परिव्राजकों' की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे भ्रमणशील थे। वे प्रायः जंगलों में निवास करते थे और त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे।

भिक्षुओं की प्रमुख विशेषता 'भिक्षा' वृत्ति थी। भिक्षाटन द्वारा ये अपना जीवन यापन करते थे। ये शरीर को ढँकने के लिए कौपीन धारण करते थे। धन-सम्पत्ति संग्रह का इन्हें अधिकार नहीं था। सांसारिक वस्तुओं से दूर रहकर एकाकी जीवन व्यतीत करते हुए आत्मचिन्तन करना इनका परम ध्येय था।

'साधु' शब्द का अर्थ वर्तमान समय में बहुत व्यापक हो चुका है। विलियम मोनियर के अनुसार ऋग्वेद में साधु शब्द का प्रयोग तीर या विद्युत प्रकाश की तरह अचूक, सीधे अपने लक्ष्य तक पहुँचने के अर्थ में किया गया है। 'शब्द कल्पद्रुम' में 'साधयति निष्पादयति धर्मादि कार्यम् इति साधु' कहा गया है। 'अमरकोश में साधु का अर्थ अच्छे, भले एवं सभ्य व्यक्ति के रूप में किया है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है। डा० बंशीधर त्रिपाठी का कथन है कि साधु शब्द का प्रयोग संकुचित और विस्तृत-दोनों अर्थों में हुआ है। संकुचित अर्थों में साधु वह व्यक्ति है जो धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए गृह-त्याग देता है और भिक्षाटन द्वारा अपना जीवन व्यतीत करता है। अपने विस्तृत अर्थ में साधु शब्द सभ्य सुसंस्कृत व्यक्ति का प्रतीक है।[२]

---

१. जी० एस० घूरिये, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० १५।
२. बंशीधर त्रिपाठी, साधूज आफ इण्डिया, (बाम्बे: पापुलर प्रकाशन, १९७८), पृ० १३।

वैराग्यपूर्ण और त्यागमय जीवन का अनुसरण करने वाले समस्त मुनि श्रमण यती, यायावर, परिव्राजक, भिक्षु आदि सभी साधु-सन्यासियों की श्रेणी में आते हैं। संन्यासी और साधु प्रायः एक-दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से अब इनमें कुछ भेद आ गया है। साधु शब्द सन्यासी से भी अधिक व्यापक समझ पड़ता है। 'सन्यासी' से प्रायः वैदिक सन्यासी का ही बोध होता है, जबकि साधु शब्द का प्रयोग किसी भी धर्म, जाति, वर्ग के उन विशिष्ट व्यक्तियों के लिए किया जा सकता है जो धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए गृह-त्याग कर भिक्षा द्वारा अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध से पूर्व वैदिक और उत्तर-वैदिक युग में परिव्राजकों एवं साधु सन्यासियों का न केवल उदय वरन् उनका व्यापक प्रसार हो चुका था और वे निवृत्तिपरक जीवन के संवाहक बन चुके थे। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि ये साधु-सन्यासी अनेक वर्गों में विभक्त थे, किन्तु इनमें प्रमुख दो ही थे—एक ब्राह्मण, दूसरे मुनि और श्रमण। संसार त्याग के पक्ष में दोनों थे। किन्तु जहाँ ब्राह्मण संसार का भोग करके त्याग की साधना करते थे वहीं मुनि एवं श्रमण ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संसार त्याग कर सांसारिक जन के कष्टों को दूर करने के लिए संन्यास ग्रहण कर लेते थे। स्मृतियों के काल में चारों आश्रमों के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि 'ब्रह्मचर्याश्रमम् समाप्य गृहीभवेत, गृहीभूत्वा वनी भवेत,वनी भूत्वा प्रव्रजेत' (जाबालि उपनिषद्-४)। उस समय त्याग ही जीवन का लक्ष्य बन गया था। जहाँ विभिन्न सोपानों से गुजरता हुआ व्यक्ति अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में पहुँच त्याग की दीक्षा लेकर संन्यास ग्रहण कर लेता था।

संन्यास आश्रम का उदय

वैदिक संहिताओं तथा 'ब्राह्मण ग्रंथों में 'आश्रम' शब्द का कहीं स्पष्ट प्रयोग नहीं हुआ है। 'एतरेय ब्राह्मण' (३३-१) में एक स्थान पर कहा गया है—'किन्नुमलं किमजिनम् किमु श्मश्रूणि किं तपः। पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः' यहाँ मल, अजिन, श्मश्रूणि (दाढ़ी बढ़ाने) और तप पर विशेष बल न देकर 'पुत्रेच्छा' को ही अधिक महत्व दिया गया है। इसके आधार पर सायण ने आश्रम चतुष्टय की परिकल्पना की है। पी० वी० काणे ने एतरेय ब्राह्मण की प्रस्तुत पंक्तियों का उल्लेख करते हुए इन्हें आश्रम चतुष्टय का अस्फुट विवरण माना है। उन्होंने 'अजिनः' और 'श्मश्रूणि' को क्रमशः ब्रह्मचर्य और 'वानप्रस्थ' के संकेतिक अर्थ के रूप में स्वीकार किया है [1]। इस प्रकार 'मल' और 'तप' क्रमशः गार्हस्थ्य

---

१. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, (पूनाः भण्डारकर, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, १९४१), पृ० ४१८।

एवं सन्यास आश्रम के प्रतीक बन जाते हैं। किन्तु चारों आश्रमों के सम्बन्ध में यह मत स्वयं ही अनेक विवादों को जन्म दे देता है। 'पुत्रेच्छा' को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए गार्हस्थ्य जीवन को सारहीन कैसे कहा जा सकता है? दूसरे 'मल' और 'अंजिन' का क्रम भी ठीक नहीं बैठता। वस्तुतः इस कथन से एक ही बात स्पष्ट होती है कि निवृत्तिमार्गीय जीवन की अपेक्षा यहाँ प्रवृत्तिमार्गीय जीवन को श्रेष्ठ बताया गया है। यहाँ डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का कथन सम्भव है इस श्लोक में ब्रह्मचारियों, तपस्वियों और मुनियों की ओर संकेत हो[1]—उपयुक्त प्रतीत होता है।

'उपनिषदों' और 'अरण्यकों में आश्रमों के संकेत मिलते हैं। वृहदारण्यक (२-४-१, ३, ५, १, ५-५-२२) में याज्ञवलक्य से सम्बन्धित स्थलों में 'प्रवज्या' का वर्णन आया है। मुण्डकोपनिषद (३-२-६) में 'सन्यास योग' का भी उल्लेख है। इस विवरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपनिषदकाल में 'आश्रमों' की व्यवस्था को समाज में स्वीकृति मिल चुकी थी और वैदिक आचार्य न केवल भिक्षु जीवन से परिचित थे वरन् उनको आदर्श भी मानना चाहते थे। किन्तु इनसे चारों आश्रमों की व्यवस्था का संकेत नहीं मिलता है। डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का विचार है कि प्राचीन वैदिक काल में केवल दो ही आश्रम अंगीकृत थे—ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य। आगे चलकर आरण्यक जीवन के प्रचार के साथ तीसरे आश्रम (वानप्रस्थ) के आदर्शों का विकास हुआ[2]। परवर्ती काल में धर्म-सूत्रों ने 'संन्यास' को चतुर्थ आश्रम के रूप में स्वीकार किया। किन्तु इनके नामों में अब भी एकरूपता का अभाव था।

'आपस्तम्ब' (२-९-२१-१) में 'चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्य कुलं मौनं वानप्रस्थमिति' कहकर इन्हें गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन और वानप्रस्थ की संज्ञाएँ दी गयी हैं। गौतम ने इनके लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, भिक्षु और वैरवानस शब्द का प्रयोग किया है। वसिष्ठ और बौधायन ने इन्हें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक कहा है।

आश्रमों का सर्वप्रथम स्पष्ट एवं असंदिग्ध उल्लेख जाबालिकोपनिषद् में मिलता है जहाँ ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृही बनने, गृही होने के बाद 'वनी' होने तथा 'वनी' के पश्चात् 'प्रवज्या' ग्रहण करने को कहा गया है। यहाँ 'प्रवज्या' को ब्रह्मचर्य, गृही अथवा वनी किसी भी स्थिति से स्वीकार किया गया है। यहाँ आश्रमों का क्रम भी उपयुक्त रूप में वर्णित है।

---

१. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० २६।
२. " " "

आगे चलकर स्मृति और पुराणों के युग में चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास को मानव जीवन के चार सोपानों के रूप में स्वीकार किया गया। इन्हीं से चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, कर्म, मोक्ष) को भी क्रमशः सम्बद्ध कर दिया गया। चार आश्रमों में संन्यास की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका है। इस आश्रम में व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधे भी प्रवेश कर सकता था और गार्हस्थ्य तथा वानप्रस्थ के विविध सोपानों से होते हुए भी जीवन के अन्तिम क्षणों में पहुँच सकता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि साधु-संन्यासियों और परिव्राजकों का उदय समाज में बहुत पहले ही हो चुका था और चारों आश्रमों के बीच भी संन्यास को उचित स्थान प्राप्त हो चुका था। याकोबी ने ठीक ही कहा है कि ब्राह्मण भिक्षुओं के अनुकरण में बौद्ध और जैन भिक्षुओं का उदय हुआ था। इस उक्ति का समर्थन इस बात से भी हो जाता है कि बौद्ध और जैन भिक्षुओं के लिए जिन नियमों का उल्लेख किया गया है वे सब गौतम और बोधायन के धर्मसूत्रों में प्राप्त नियमों पर ही आधारित हैं। याकोबी का विश्वास था कि निवृत्ति का आदर्श ब्राह्मणों के धर्म में पहले उदित हुआ और वह भी चतुर्थ आश्रम के रूप में व्यक्त हुआ, बाद में बौद्धों और जैनों ने इसका अनुकरण-अनुसरण किया[1]।

संन्यासियों के लिए आवासादि की व्यवस्था

उपनिषदों में संन्यासियों के लिए व्रत-नियम-भोजन आदि के सम्बन्ध में विधिवत उल्लेख मिलता है। संन्यासियों के आवास के सम्बन्ध में वसिष्ठ का विधान है—'अनित्यावसति वसेत्। ग्रामान्ते, देवगृहे शून्यागारे वा वृक्षमूले वा।' (वसिष्ठः १०, १२, १३) सुत्तनिपात में भी कहा गया है—'एकोचरे खग्ग विसाण-कप्पो।' इस प्रकार संन्यासियों के लिए एकाकी विचरण को ही विशेष महत्व दिया गया था। आवास के लिए उन्हें प्रकृति प्रदत्त आश्रय वृक्षमूल तथा गिरि-गह्वर को ही महत्वपूर्ण बताया गया था। इसके अतिरिक्त ग्रामान्त (गाँव की सीमा से दूर) देवायतन (मंदिर), शून्यागार (कुटी) आदि में उन्हें रहने के लिए कहा गया था। ये आवास भी स्थायी और नित्य के लिए नहीं थे इसीलिए 'अनित्या-वसतिं वसेत्' कहा गया है। आगे चलकर जब संन्यासियों के जीवन को व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया तो उन लोगों के आवास की व्यवस्था इसी आधार पर की गयी। धीरे-धीरे संन्यासियों के व्यक्तित्व तथा उनके नैतिक एवं धार्मिक उपदेशों का महत्व समाज में बढ़ता गया और उसी के साथ उनके आवासादि की

---

१. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, (पूर्वोक्त); पृ० २५।

व्यवस्था में स्थायित्व भी आता गया। अब संन्यासियों का अरण्यवासी एवं गिरिगह्वरवासी जीवन समाज के लिए उतना उपादेय नहीं रह गया था। अतः उनका आवास विशेषरूप से 'ग्रामान्त' में निर्मित कुटी तथा 'देवायतन' ही बन गया।

संन्यासियों के विविध रूप

जाबालि उपनिषद (पृ० ६८-७१) में तीन प्रकार के संन्यासी कहे गये हैं—परिव्राट्, आतुर और परमहंस। परिव्राट् विवर्ण वस्त्र धारण करता है। आतुर रोगी या अशक्त होता है, वह केवल तन तथा वाणी द्वारा संन्यास ग्रहण करता है। परमहंस जाति-सम्प्रदाय के कोई चिह्न नहीं रखते[१]। महाभारत में चार प्रकार के संन्यास का उल्लेख है—कुटीचक, वहूदक, हंस और परमहंस। कूर्मपुराण में 'जन संन्यासी', वेद संन्यासी तथा कर्म संन्यासी का वर्णन आया है। नारद-परिव्राजक उपनिषद में संन्यास को छः प्रकार का बताया गया है—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत[२]।

कुटीचक साधु सांसारिक सुखों का त्यागकर पुत्र-पौत्रों की सम्पत्ति और ममता से मन हटाकर उनके साथ रहते हुए भी उनसे विरक्त रहकर अपना आवास ग्राम या नगर में या उनसे दूर कुटिया बनाकर रहता था। बहूदक साधु मन्त्र और जप का अनुष्ठान करते हुए तीर्थों में धर्मोपदेश करते थे तथा प्राणायाम आदि नियमों का पालन करते थे। कुटीचक साधु जब कुटी छोड़कर भ्रमण करने लगते थे तो भी 'बहूदक' की संज्ञा प्राप्त कर लेते थे। 'हंस' अन्य साधुओं की अपेक्षाकृत अधिक वीतराग, शान्त और जितेन्द्रिय होते हैं। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के अनुसार आजकल ऐसे ही संन्यासियों को नागा या 'निर्वामी' कहा जाता है[3]। 'परमहंस' वे हैं जो सब कुछ त्याग देते हैं। ये शिखा और यज्ञोपवीत त्यागकर केवल कौपीन धारण करते हैं। थे अपने पास दण्ड, कमण्डलु, भोजन, वस्त्र आदि कुछ भी नहीं रखते, ये सब जीवों को आत्मवत समझते हैं। ये ज्ञान की चरम स्थिति का अनुभव करते हैं। 'तुरीयातीत' सन्त परमहंस की स्थिति से भी आगे होते हैं। ये कन्दमूल-फल पर भी अपना निर्वाह करते हैं। शरीर धारण करने के लिए तीन घरों से ही

---

१. इन्द्रचन्द शास्त्री, वैदिक साहित्य में संन्यास परम्परा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, २०२१) पृ० ६।
२. स्वामी सदानन्द गिरि, सोसायटी एण्ड संन्यासी, (देहरादून : क्रिया योग आश्रम, तिलक मार्ग, १९७६), पृ० १३।
३. सीताराम चतुर्वेदी, भारत के उदासीन संत, (काशी : अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, सं० २०२४), पृ० ३४।

भिक्षा लेते हैं, नग्न रहते हैं तथा महावाक्यों का उपदेश देते हैं। 'अवधूत' साधु पूर्ण जीवन-मुक्त होते हैं। इन्हें सांसारिक नियम-बन्धनों की कोई चिन्ता नहीं होती। इन्हें शरीर धर्म की भी कोई चिन्ता नहीं रहती।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने कुटीचक साधुओं के तीन भेद किये हैं[1]—एक कुटी में रहने वाले, दूसरे स्थानधारी, तीसरे मठाधीश। कुटी में रहने वाले कुटीचक एक स्थान में कुटिया बनाकर एकान्तवास करते हैं। स्थानधारी कुटीचक ऐसा स्थान बनाकर रहते हैं जहाँ अभ्यागतों, अतिथियों का भी आदर सत्कार करते हैं। यहाँ धर्मोपदेश और भजन आदि की भी व्यवस्था होती है। ऐसे स्थानों को 'सिन्ध में ठिकाना, पञ्जाब में डेरा और उत्तर प्रदेश में सङ्गत' का नाम दिया है। तीसरे प्रकार के कुटीचक वे उदासीन (उद्+आसीन) साधु होते हैं जो मठ बनाकर रहते हैं। मठों में अनेक साधुओं के नित्य भोजन, निवास, अध्ययन आदि की व्यवस्था होती है। यहाँ कथा-प्रवचन और धर्मोपदेश एवं धर्मोत्सव की भी व्यवस्था होती है। ऐसे स्थान के अध्यक्ष को महामुनीश्वर या मठाधीश कहते हैं।

मठ की अवधारणा

'अमरकोश' में मठ शब्द का अर्थ 'मठ छात्रादि निलयः' कहकर स्पष्ट किया गया है। यहाँ 'छत्र' शब्द से गुरु सेवा की ओर लक्ष्य किया गया हैं। छात्र वह है जो गुरुजनों के दोषों को आच्छादित कर ले और उनके दिव्य गुणों का आचरण करे—'गुरु दोष आच्छादनात् छत्रं तत् शीलत्वाद छात्रः।' प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान मैकडानल ने अपने संस्कृत शब्दकोश में मठ की परिभाषा, वैरागी या विद्यार्थी के आवास, धार्मिक विषयों के अध्ययन केन्द्र या गुरुकुल के रूप में दी है[2]। प्रसिद्ध विद्वान् आप्टे ने 'संस्कृत हिन्दी शब्दकोश' में मठ की व्युत्पत्ति—'मठत्यत्र मठ् घञ् अर्थे के, के रूप में देते हुए उसका संन्यासी की कोठरी, साधक की कुटिया, बिहार, शिक्षालय, विद्या मन्दिर, महाविद्यालय, ज्ञानपीठ, देवालय तथा मन्दिर लिखा है[3]। मठ धातु से 'मठति' रूप चलता है जिसका अर्थ 'पीसना, 'वसना'

---

१. सीताराम चतुर्वेदी, भारत के उदासीन संत, पृ० ३६।
२. रिपोर्ट आफ द हिंदू रेलिजस इंडाउमेण्ट कमीशन, (गवर्नमेंट आफ इण्डिया मिनिस्ट्री आफ ला), (लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट, १९६०), पृ० १४ पर उद्धृत।
३. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिंदी कोश, (दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, १९६६)।

'रसना' तथा 'जानना' होता हैं। 'शब्द कल्पद्रुम' में राजा राधाकान्त देव ने भी मठ की परिभाषा 'छात्रों के निवासस्थल' के रूप में दी है। आरम्भ में मठ शब्द का प्रयोग मन्दिर के अर्थ में भी होता था किन्तु बाद में 'मठायतनम्' से इसका अर्थ साधुओं के निवास स्थल या महाविद्यालय से सम्बद्ध हो गया। पी० वी० काणे ने भी 'मठ' का अर्थ साधू की 'कुटियाः' के रूप में दिया है[१]। सर मोनियर विलियम ने 'मठ' का प्रयोग साधु-संन्यासियों की कुटी या महाविद्यालय के रूप में किया है, जहाँ विशेषरूप से युवा 'ब्राह्मण' रहते है[२]।

मध्यकाल में 'मठ' का प्रयोग छात्रावास या छात्रों के निवास के रूप में बने वृहद् कक्ष के लिए होता था। अपने व्यापक अर्थ में यह छात्रों के आवासीय महा-विद्यालय के रूप में समझा जाता रहा है।[3] इस प्रकार मध्यकाल में ये 'मठ' एक महत्वपूर्ण अध्ययन के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित थे। कभी-कभी इनमें नियुक्त पण्डित या विद्वान् धर्म एवं संप्रदाय से संबन्धित चर्चाएँ भी करते थे।

सामान्यतया वर्तमान समय में मठ का अर्थ एक ऐसे स्थल से लिया जाता हैं जहाँ किसी एक संप्रदाय के साधु, सन्त, महात्मा या संन्यासी निवास करते हैं और मठाधिपति के अनुशासन में रहकर संप्रदाय विशेष से सम्बन्धित विचारो का प्रचार-प्रसार करते रहते हैं। वस्तुतः आधुनिक 'मठ' धर्मगुरुओं की गद्दी के रूप में हैं जिनका उत्तराधिकार पैतृक रूप से अथवा शिष्य परंपरा के अनुसार बदलता रहता है। संप्रति उनका प्रमुख कार्य समाज को धार्मिक उपदेश देना, मूर्ति पूजा का प्रचार-प्रसार करना तथा विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करना है।

डा० एस० अल्टेकर ने मठ एवं मन्दिरों को भारत की प्राचीन संस्कृति का केन्द्र कहा है।[४] इसमें संदेह नहीं कि कतिपय अपवादों के साथ आधुनिक युग में भी हजारों मठ भारतीय प्राचीन संस्कृति का उद्घोष कर रहे हैं। समाज में रहने वाले करोड़ों नर-नारियों का आध्यात्मिक मार्गदर्शन कर रहे हैं और समाज के दलितवर्ग के उद्धार के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं। समाज का नैतिक एवं चारित्रिक

---

१. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पूर्वोक्त), पृ० ९०६।

२. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, (आक्सफोर्ड क्लेरेण्डन प्रेस, १९५१), पृ० ७७४।

३. वेंकट सुब्बैया, "ट्वेल्थ सेन्चुरी यूनीवर्सिटी इन मैसूर" मिथिक सोसायटी' (बंगलौर: त्रैमासिक पत्रिका १९१७; भाग--७), पृ० १७०।

४. ए० एस० अल्टेकर, एजूकेशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, (बनारसः नन्द किशोर ब्रदर्स एजूकेशनल पब्लिशर्स, १९४८) पृ० १०६।

मार्गदर्शन करना इन मठों का एक सामाजिक दायित्व हो गया है। बौद्ध कवि अश्वघोष ने 'बुद्ध चरित' में मठों के सम्बन्ध में एक श्लोक लिखा है जो आज के मठों के लिए भी पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है—

ब्रह्मघोषो भवेद् यत्र, यत्र ब्रह्माश्रयी स्थितः।
देवस्य पूजनम् दानम् मठमित्यभिधीयते ॥ —'बुद्धचरितम्।'

आज भी मठों में वेदपाठ, देवार्चन, दान आदि कर्म सम्पन्न हो रहे हैं। साथ ही बदलते परिवेश के अनुसार इस मठों ने अनेक समाजसेवी संस्थाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं संस्कृत महाविद्यालयों की स्थापनाए भी की हैं। इनके द्वारा अनेक धर्मशालाओं, सेवा-आश्रमों, औषधालयों आदि का निर्माण भी कराया गया है।

मठों के संदर्भ में 'ब्रह्माश्रयी' शब्द का प्रयोग अश्वघोष ने 'ब्रह्मचर्य' आश्रम में निवास करने के अर्थ में किया है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य का प्राचीन अर्थ वेदाध्ययन के लिए विशेष नियमों का आचरण करना था। किन्तु जब उपनिषदों में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'परमतत्व' हो गया तब 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ भी ब्रह्म जिज्ञासा प्रेरित होकर 'विशिष्ट नियमों का पालन करना' हो गया। फिर भी वेदाध्ययन सम्बन्धी पुराना अर्थ चलता रहा। इस प्रकार मठों के संदर्भ में 'ब्रह्मचर्य' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होने लगा—'एक वेदाध्ययनपरक अनुशासन अथवा प्रथम आश्रम' दूसरा 'ब्रह्म अथवा परमार्थ की खोज में गुरु के पास शिष्यत्वपूर्वक नियम चर्या'।

इन दोनों अर्थों का सम्बन्ध प्राचीनकाल के आश्रमों तथा ऋषिकुलों से भलीभांति जुट जाता है। इन ऋषिकुलों ने ही साधु-संन्यासियों के प्रसार के बाद मठों की स्थापना का आधार प्रस्तुत किया होगा।

मठों का उद्भव और विकास

मठों के आरंभिक स्वरूप का काल-निर्धारण अत्यन्त कठिन कार्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से बौध दर्शन के उदय के बाद बौद्ध भिक्षुओं और संन्यासियों को संगठित करने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की गयी। इन संस्थाओं को 'संघ' या 'संघाराम' की संज्ञा दी गयी थी। यहाँ बौद्ध महात्माओं के साथ सैकड़ों बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। ये भिक्षु महात्मा बुद्ध के उपदेशों को घर-घर पहुँचाते थे तथा समाज के विभिन्न परिवारों से संपर्क करके उनके सदस्यों को बौद्ध धर्म की दीक्षा भी देते थे। ई० पू० छठीं-सातवीं शताब्दी तक इस प्रकार के बौद्ध 'संघों' या 'विहारों' की स्थापना देश के विभिन्न क्षेत्रों में हो चुकी थी। अपने वर्तमान स्वरूप में 'मठ' आठवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए आदि शंकराचार्य की महत्वपूर्ण देन हैं। आदि शंकराचार्य ने ही भारत के विभिन्न क्षेत्रों में मठों का संगठन किया और उनके नियमन हेतु 'मठाम्नाय' ग्रंथ की रचना भी की। इतिहासकारों की धारणा है

कि मठों की स्थापना बौद्ध विहारों के ही 'पैटर्न' पर हुई है।[1] किन्तु इतना निश्चित है कि 'गठ' जैसी संस्थाओं के स्वरूप का उदय महात्मा बुद्ध से पूर्व ही हो चुका था। यह बात दूसरी है कि उन संस्थाओं का नामकरण 'मठ' के रूप में न होकर 'ऋषिकुल' या 'कुटी' के रूप में रहा हो। इस सम्बन्ध में कतिपय तथ्यों की ओर ध्यान दिया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में संन्यासी के अर्थ में यति, मुनि, श्रमण, वातरशना, परिव्राजक, भिक्षुक आदि अनेक शब्दों का प्रचलन हो चुका था। वैदिक सभ्यता के पूर्व सिन्धुघाटी की सभ्यता में भी अनेक ऐसे संकेत मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि यौगिक क्रिया-साधकों तथा निवृत्तिपरक भावना के पोषक योगी या यतियों का उदय समाज में हो चुका था। हड़प्पा की खुदाई में शिव के आरंभिक रूप में एक पुरुष देवता की मूर्ति भी मिली है, जिसके तीन मुँह और तीन नेत्र हैं। वह योगासन में नीची चौकी पर स्थित है और उसके दोनों ओर पशु अंकित हैं। दाहिनी ओर हाथी और बाघ एवं बाईं ओर गैंडा और भैंसा। चौकी के नीचे हिरण जैसा दो सींगों वाला पशु है। यहाँ मृग जंगल का सूचक है। हो सकता है बौद्धकाल में मृगदाव की कल्पना इसी आधार पर की गयी हो। मोहन जोदड़ों से प्राप्त सोफयानी मिट्टी का एक दूसरी मुहर पर भी योगासन में चित्रित एक मूर्ति मिली है।[2] वैदिक साहित्य में मुनि-श्रमणों तथा उनके आश्रमों की भी चर्चा है। यद्यपि वैदिक संहिताओं मे 'संन्यास' शब्द नहीं मिलता फिर भी संन्यासी जैसा जीवन व्यतीत करने वाले लोग उस समय ऊपर दिये गये अनेक नामों से संबोधित होते थे। आगे चलकर कठोपनिषद तथा स्कन्दपुराण में 'संन्यास' का वर्णन स्पष्टतः मिलता है। स्कन्दपुराण में 'संन्यास' को चार भागों में विभक्त किया गया है—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस'। कुटीचक वर्ग के साधुओं ने ही पहले 'कुटिया' उसके बाद 'मठों' जैसी धार्मिक संस्था को जन्म दिया होगा। आगे चलकर 'कुटीचक' साधुओं के तीन भेद हो गये—कुटी में रहने वाले, किसी स्थानविशेष पर रहने वाले 'स्थानधारी' और तीसरे 'मठाधीश'।[3]

हिन्दू धर्म विधान में इस प्रकार का विश्वास प्रकट किया गया है कि संन्यासियों के लिए जो व्यक्ति 'शरणस्थान' या कुटी का निर्माण करता है वह स्वर्ग में

---

१. रिपोर्ट आफ दी हिन्दू रेलीजस इन्डाउमेण्ट्स कमीशन, (पूर्वोक्त), पृ० १५।

२. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सिविलाइजेशन, (हिन्दी अनु०), वासुदेवशरण अग्रवाल, (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९६५), पृ० ३९।

३. सीताराम चतुर्वेदी, भारत के उदासीन संत, (पूर्वोक्त), पृ० ३६।

उच्चपद का अधिकारी होता है। 'भगवतीपुराण (भागवतपुराण) में स्पष्टतः निर्देश दिया गया है — 'सोने और बैठने के कमरों के साथ एक सुन्दर 'मठ' का निर्माण करके किसी शुभ मुहूर्त के दिन संन्यासियों के लिए अर्पित कर देना चाहिए। 'मठ' का निर्माण किसी अशुभ मुहूर्त्त या दुर्भिक्ष या अकाल के दिनों में नहीं करना चाहिए। जिस दिन 'मठ' की स्थापना करनी हो उसके पूर्व सर्वप्रथम 'वृद्धि श्रद्धा' महोत्सव का आयोजन करना चाहिए'।[१] पुराणों का रचनाकाल विभिन्न मतों के अनुसार ई० पू० पाँचवीं शती से लेकर ७०० ई० तक माना गया है। प्रसिद्ध विदेशी यात्री अलवेरूनी (१०३ ई०) ने अपने यात्रा वृत्तान्त में १८ पुराणों की चर्चा की है। छान्दोग्य उपनिषद् तथा बौद्धों के 'सुत्त निपात्' में पुराणों को पंचम वेद कहा गया है।[२] स्पष्ट है कि पुराणों की रचना गौतम बुद्ध से पूर्व हो चुकी थी। यदि यह रचनाकाल सही है तो निश्चय ही गौतम बुद्ध के पूर्व हिन्दू साधुओं के लिए 'कुटी' या 'मठ' का निर्माण करके दान देने की प्रथा समाज में आरम्भ हो चुकी थी। महात्मा बुद्ध ने भी इसी धार्मिक विश्वास और दान के क्रम में 'जेतवन' और 'राजविहार' को बौद्ध भिक्षुओं के लिए धर्मस्व के रूप में प्राप्त किया था।[३]

वाल्मीकि 'रामायण' में भी 'मठ' संबंधी विवरण प्राप्त होता है। उसमें एक ब्राह्मण का वर्णन आया है जिसे निरपराध कुत्ते को पीटने के कारण, कुत्ते की प्रार्थना पर कालिंजर (मठ) का 'कौलपति' (मठाधीश) बनने का दण्ड भोगना पड़ा था[४]। यहाँ 'कौलपत्य' का प्रयोग 'मठाधीश' के अर्थ में सम्भावित है। यद्यपि इसमें 'मठ' या 'मठाधीश' शब्द का सीधा प्रयोग नहीं है फिर भी इसका प्रयोग 'मठ' के अर्थ में ही हुआ है। इस विवरण से न केवल 'मठों' (या मठ जैसी संस्थाओं) की स्थिति का ही बोध होता है वरन् इस बात का भी संकेत मिलता है कि उस समय तक मठाधीशों का कार्य बड़ी उलझनों, समस्याओं से युक्त

१. सुरजीत सिंह तथा वैद्यनाथ सरस्वती, एसेटिक्स आफ काशी, (वाराणसी: एम० के० बोस मेमोरियल फाउण्डेशन, १९८८). पृ० ४४।

२. राजेश शर्मा तथा श्याम मिश्र, संस्कृत साहित्य का इतिहास, दिल्ली : अशोक प्रकाशन, नई सड़क १९७१). पृ० ८२-८३।

३. रिपोर्ट आफ दी हिन्दू रेलीजस इनडाउमेण्ट कमीशन, (पूर्वोक्त), पृ० १५।

४. 'प्रयच्छ् ब्राह्मणस्यास्य, कौलपत्य नराधिप:' ॥ ३८ ॥
'कालंजरे महाराज कौलपत्ये भिषेचित:' ॥ ३९ ॥
—वाल्मीकि रामायण, उत्तराकाण्ड, श्लोक सं० ३८-३९।

हो चुका था साथ ही दानादि ग्रहण करने के कारण संसार से मुक्त होने को कौन कहे उलटे वे सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति के प्रतीक भी बन चुके थे।

उपनिषदों और आरण्यकों में 'आश्रमों' के संकेत स्पष्टतः मिलते हैं। वृहदारण्यक (२-४१, ३-५-१, ४-४-२२) में 'प्रवज्या' का वर्णन भी आया है। इनसे स्पष्ट है कि उपनिषत्काल में आश्रमों की व्यवस्था को समाज में स्वीकृति मिल चुकी थी। इसके पूर्व ही जंगलों में आश्रम बनाकर रहने की प्रथा भी ऋषिमुनियों द्वारा चलाई जा चुकी थी। आत्म संयम की दृष्टि से तपपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले इन ऋषि-मुनियों के आश्रम में अनेक 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' निवास करते थे, उनके निर्देशन में वेदों का अध्ययन करते थे तथा तपस्वी का जीवन व्यतीत करते थे। वस्तुतः वैदिक धर्म का केन्द्र ऋषि था जो तप के द्वारा सत्य का साक्षात अनुभव करने की योग्यता रखता था (ऋग्वेद १०, १०९, ४ आदि)। इससे वह देवेषित मुनि (देवों से प्रेरणा पाया हुआ) विप्र मनीषी का पद प्राप्त करता था। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म की सामान्य व्यवस्था में समाज के अधिकांश लोग संसार से विरत होकर सत्य की जिज्ञासा में, ज्ञानियों के पथ प्रदर्शन में भिक्षु या तपस्वी का जीवन व्यतीत करते थे। 'अनिकेत विचरने वाला यह समुदाय विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में संगठित था, जो अपने-अपने आचार्यों द्वारा अनुशिष्ट मत और तप के विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते थे[१]।

स्पष्ट है कि जैन और बौद्ध धर्म से पूर्व समाज में साधु-सन्यासियों का एक बहुत बड़ा वर्ग तैयार हो चुका था। उनके लिए ऋषिकुलों और आश्रमों की परम्परा का सम्यक् आरम्भ भी हो चुका था और उन्हीं के आधार पर महावीर स्वामी तथा गौतम बुद्ध ने अपने धर्मों का प्रचार करने के लिए भिक्षु संघों और विहारों की स्थापना की।

यहाँ स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों भारतीय समाज आगे बढ़ता गया, साधुओं का वैयक्तिक भ्रमणशील जीवन नियमित एवं व्यवस्थित हो गया और अन्त में चतुर्थ आश्रम के रूप में परिणत हो गया। लेकिन पहले पहल अनेक शताब्दियों तक इस स्वाभाविक संवेग का परिणाम अनियन्त्रित व्यक्तिवाद की वृद्धि के रूप में दृष्टिगोचर हुआ।[२] बौद्ध और जैनेतर साधुओं में संघ या संगठन जैसी स्थिति के अभाव की

---

१. राधाकुमुद मुकर्जी; हिंदू सिविलाइजेशन, (हिन्दी अनु०); वासुदेवशरण अग्रवाल, (पूर्वोक्त), पृ० २२५।

२. यदुनाथ सरकार, नागे संन्यासियों का इतिहास, (प्रयागः श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी, १९५०), पृ० ५६।

ओर संकेत करते हुए गेडेन : ए० एस० ने लिखा है—'भारत में गूढ़ ज्ञानवाद ने साहचर्य की उपेक्षा की है। बौद्ध अथवा खीस्टीय साधुवाद से भारतीय साधुवाद ऐतिहासिक रूप में एक अन्य दृष्टि से भिन्न रहा है और वह है केन्द्रिक नियन्त्रण अथवा नियमन का अभाव, नियत निवास और नियत व्यवसाय, भारतीय संन्यासी अथवा साधु आदर्श न है और न कभी रहा है। उसे इच्छानुसार भ्रमण करने, तीर्थ स्थानों और मन्दिरों का दर्शन करने और अपने जीवन तथा समय को चाहे जिस ओर लगाने की स्वतन्त्रता रही है[1]। बौद्ध धर्म से पूर्व भारतीय साधुओं में चले आ रहे इस अभाव को जैन और बौद्ध धर्मों ने दूर किया। किन्तु पहले के चले आ रहे साधु-समाज के नियमों के आधार पर ही बौद्ध धर्म ने अपने नियमों का सृजन किया। इस सम्बन्ध में याकोबी ने स्पष्ट कर दिया है कि ब्राह्मण भिक्षुओं के अनुकरण में ही बौद्ध और जैन भिक्षुओं का उदय हुआ था। स्पष्ट है कि पहले से चले आते हुए सुदृढ़ आधार पर बौद्धों ने मठों की स्थापना आरंभ की। बाद में इन मठों ने सुव्यवस्थित संस्था का रूप ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार 'मठों' का आरम्भिक रूप एकान्तसेवी 'कुटिया' का था जिसने धीरे-धीरे आश्रम का रूप ग्रहण कर लिया जहाँ ऋषियों के आश्रम में अनेक भिक्षु सामूहिक रूप से रहने लगे और जंगलों में तप-साधना करने लगे। वन में स्थित ऐसे आश्रम का स्पष्ट स्वरूप कालिदास की 'शकुन्तला' में चित्रित है।

मठों के उद्भव के संबंध में अन्य महत्वपूर्ण बात अपने 'गुरु' या आचार्य की स्मृति को चिरस्थायी बनाने की भावना है। किसी सम्प्रदाय के धर्मगुरु प्रायः मठों की स्थापना कर देते थे, बाद में उनके शिष्य उन मठों के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करने के लिए जाया करते थे। भ्रमणशील साधु भी बाद में नियमित ढंग से उन मठों के दर्शनार्थ कुछ अवसरों पर आने और उसमें निवास करने लगे[2]। ऐसा प्रतीत होता है कि साधुओं का भ्रमणशील जीवन स्वयं उनके लिए भी कष्टप्रद बन गया था। परिणामतः महात्मा बुद्ध ने 'साधुसंघ' (कोइनोवियम) को जन्म दिया। आगे चलकर यह प्रथा इतनी अधिक विकसित हो गयी कि वर्ष पर्यन्त लोग एक 'मठ' के क्षेत्र में रहकर अपना धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे[3]। मठों के उद्भव

---

१. यदुनाथ सरकार, नागे संन्यासियों का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० ५६ पर उद्धृत।

२. जे० सी० ओमन, कल्ट्स, कस्टम्स एण्ड सुपरिस्टीशंस आफ इण्डिया, (लंदन : टी० फिशर अनविन, १९०३), पृ० २४९।

३. एच० डी० भट्टाचार्य, कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, वाल्यूम २, (कलकत्ताः आर० के० इन्स्टीयूट आफ कल्चर, १९५८), पृ० ५८४।

के संबंध में (जैसा कि पहले देखा जा चुका है) इसी तथ्य की ओर संकेत करते रहुए डा० धूरिये ने भी लिखा है कि सांसारिक जीवन का त्यागकर विरक्त हो जाने वाले लोग जब दो या अधिक संस्थाओं में जीवन व्यतीत करने लगते हैं तब यह सिद्ध होता है कि सामाजिक-जीवन का पूर्ण त्याग असंभव है। जब उनके लिए किसी न किसी निवास स्थान की आवश्यकता पड़ती है तब वही 'मठ' जैसा रूप धारण कर लेता हैं। जहाँ उनके विरक्त सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने के लिए कुछ विशेष नियमों के आधार पर एक विशेष प्रकार का संगठन जन्म ले लेता है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक काल से चले आते हुए साधु सम्प्रदाय को सामूहिक संगठन के रूप में जैन और बौद्धों ने संगठित किया और उनके माध्यम से अपने धर्मों का प्रचार-प्रसार किया; बाद में आठवीं शताब्दी के लगभग बौद्ध और जैनेतर संन्यासियों को संगठित एवं व्यवस्थित कर आदि शंकराचार्य ने बौद्धों एवं जैनों के मतों का खण्डन करते हुए अद्वैतवादी दर्शन का प्रसार किया। उन्होंने भारत के चारों कोनों में चार पीठों या मठों की स्थापना करके संपूर्ण भारत को भावात्मक एकता के सूत्र में पिरोने का एक महत्वपूर्ण कार्य किया। परिणामतः बौद्ध धर्म धीरे-धीरे भारत की धरती से समाप्त ही होने लगा। तत्कालीन धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता तारानाथ और वास्सलीफ के आधार पर कर्न का कथन है—'छठीं और सातवीं शताब्दी में बौद्ध विद्वत्ता अपनी उत्कृष्टता के शिखर पर पहुँच गयी थी... .... कुछ मिलाकर बौद्ध मत तब भी उन्नत अवस्था में था, जब युवानचांग भारत में आया था (६३०, ६४३ ई०) मोटे तौर पर उसका पतन सन् ७५० ई० से शुरू हुआ। बौद्धों की परम्परा में कुमारिल और शंकर उनके मत के अत्यन्त भयानक प्रतिद्वन्द्वियों के रूप में, दो ऐसे तार्किक हैं जिनकी कार्यशीलता ने भारत में बौद्ध मत का संहार कर दिया[1]।

शंकराचार्य द्वारा मठों की स्थापना

हम देख चुके हैं, मठों का उद्भव किसी न किसी रूप में ई० पू० छठीं शताब्दी के पूर्व ही हो चुका था। किन्तु वर्तमान समय में हम मठों को जिस रूप में देख रहे हैं, उसके स्वस्थ स्वरूप का गठन आदि शंकराचार्य द्वारा आठवीं शताब्दी में हुआ। उन्होंने बौद्ध और जैन धर्म-दर्शन का विरोध करने के लिए ब्रह्मवाद तथा अद्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन किया और मठों के माध्यम से वैदिक धर्म को पुनः प्रचारित-प्रसारित एवं पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। राष्ट्रीय एकता एवं

---

१. यदुनाथ सरकार, नागे संन्यासियों का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० २९।

सद्भाव की दृष्टि से उन्होंने अनेक मठों की स्थापना की। वे चाहते थे कि बौद्ध और जैन दर्शन के पराभव के पश्चात् सम्पूर्ण भारत में वैदिक धर्म के प्रति आस्था और विश्वास की जो लहर उत्पन्न हुई है वह समाज में शाश्वत बनी रहे। इसके लिए उन्होंने देश के चारों कोने में मठों की स्थापना का निश्चय किया। उन्होंने संन्यासियों को दस भागों में विभक्त करके उनके आवास एवं भौगोलिक परिवेश के अनुसार उनका नामकरण किया। संन्यासियों के ये दस वर्ग थे—गिरी, पुरी, भारती, तीर्थ, वन, अरण्य, पर्वत, आश्रम, सागर और सरस्वती। यद्यपि ये नामकरण अपने साहित्यिक अर्थ में सम्प्रति भौगोलिक विभाजन के प्रतिपादक नहीं हैं फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में यह विभाजन भौगोलिक आधार पर ही किया गया होगा। आचार्य शंकर द्वारा संन्यासियों के इस विभाजन का आधार 'जाबालि उपनिषद्' हो सकता है, जहाँ संन्यासियों के आवास का निर्धारण—शून्यागार देवगृहतृणकूटवल्मीक-वृक्षमूल-कुलालशालाग्निहोत्र नदी पुलिन-गिरि कुहरं कन्दर कोटर निर्झर स्थण्डिलेषु' किया गया है। शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों का विवरण 'मठाम्नाय', में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है—

(१) शारदापीठ—शारदा मठ की स्थापना भारत के पश्चिमी छोर पर द्वारकापुरी में की गयी। यहाँ कीटवार सम्प्रदाय के संन्यासी रहते हैं। तीर्थ और आश्रम इनके पद हैं। कीटवार उन्हें कहते हैं जो कीट आदि जीव, जन्तुओं को भी हानि नहीं पहुँचाते। इसके पीठाधीश्वर आचार्य हस्तामलक हुए। सम्प्रति द्वारका-पीठाधीश्वर श्री सच्चिदानन्द तीर्थ हैं।

(२) गोवर्धनपीठ—गोवर्धनपीठ की स्थापना, पुरी, उड़ीसा में की गयी। यहाँ भोगवार सम्प्रदाय के लोग रहते हैं। यहाँ 'वन' और 'अरण्य' नामक संन्यासी रहते हैं। यहाँ के पीठाधीश्वर आचार्य पद्मपाद थे। सम्प्रति यहाँ के पीठाधीश्वर शंकराचार्य श्री निरंजन देव तीर्थ हैं।

(३) ज्योतिषपीठ—तीसरे मठ की स्थापना ज्योतिर्मठ के नाम से भारत के उत्तरी क्षेत्र हिमालय पर बदरीनाथ मार्ग पर की गयी। इस मठ का दूसरा नाम श्रीमठ है। यहाँ आनन्दवार सम्प्रदाय के संन्यासी रहते हैं। 'आनन्दवार' संन्यासियों के उस सम्प्रदाय को कहते हैं जो सांसारिक भोग-विलास की भावनाओं का सदा के लिए परित्याग कर देता है। यहां के मठाधीश्वर श्री त्रोटकाचार्य बनाये गये। यहाँ के संन्यासियों के अंकित पद का नाम गिरि, पर्वत तथा सागर है। सम्प्रति ज्योतिष पीठाधीश्वर श्री स्वरूपानन्द सरस्वती हैं।

(४) श्रृंगेरीपीठ—श्रृंगेरीमठ की स्थापना भारत के दक्षिणी क्षेत्र मैसूर में की गयी। यहाँ भूरिवार सम्प्रदाय के संन्यासी रहते हैं। यहाँ के संन्यासियों के अंकित

पद का नाम पुरी, भारती और सरस्वती है। श्री सर्वेश्वराचार्य यहाँ के पीठाधीश्वर थे। इस धर्मपीठ के वर्तमान अधिष्ठाता सद्‌गुरु श्री अभिनव विद्यातीर्थ स्वामी जी हैं।

आदिशंकराचार्य की ही भाँति आचार्य रामानुज और मध्वाचार्य ने भी मठों की स्थापना की। रामानुजाचार्य ने कुल ७०० मठों की स्थापना की और मध्वाचार्य ने आठ मठों की स्थापना की—परिणामतः सम्पूर्ण भारत में अब मठों की एक बहुत बड़ी कड़ी तैयारी हो चुकी है। उसके पश्चात् स्वामी रामानन्द, निम्बार्क, वल्लभाचार्य तथा चैतन्य ने मठों के विकास के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिये। आगे चलकर मठों का उद्‌भव सिद्ध योगियों (गोरखनाथ सम्प्रदाय) 'जैन' और 'जंगमों' के बीच भी हुआ। इसी प्रकार सन्त कबीरदास, स्वामी चरणदास, संत दादू ने अपने अपने सम्प्रदायों की स्थापना की और बाद में इनके नाम पर भी कतिपय मठों की स्थापना हुई।

मठों के उद्देश्य एवं आदर्श

पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि संन्यास या विरक्त जीवन का अनुष्ठान भारत में वैदिक सभ्यता के आदिकाल से ही चला आ रहा है। सच तो यह है कि पुरातन मानव के अन्तस्तल में ईश्वर भक्ति और आध्यात्मिक भावना का जब से उदय हुआ और जब से उसके मन में सांसारिक सुखों की अपेक्षा पारलौकिक सुखों के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ उसी समय से संसार के प्रति उनके मन में वैराग्य भावना का उदय होना आरम्भ हो गया। वैराग्य साधना और निवृत्तिपरक जीवन-यापन के इसी क्रम में समाज में साधु संन्यासियों का एक बहुत बड़ा वर्ग तैयार हो गया। भारतीय साधु संन्यासियों का यह वर्ग वैयक्तिक साधना में ही रत था। प्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार का कथन है कि प्रारम्भ में इन संन्यासियों में संगठित जीवन का सर्वथा अभाव दिखायी पड़ता है। आरम्भ में वे मोक्ष की कामना से वैयक्तिक साधना के रूप में ही संन्यास ग्रहण करते थे। शताब्दियों तक इस स्वाभाविक संवेग का परिणाम अनियंत्रित व्यक्तिवाद की वृद्धि के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। इसी प्रकार ए० एस० गेडेन ने भी लिखा है कि 'भारत में गूढ़ ज्ञानवाद ने साहचर्य की उपेक्षा की है।' तथा 'भारतीय साधुवाद में केन्द्रीय नियन्त्रण अथवा नियमन का अभाव है।[1] मठों की स्थापना ने भारतीय साधुओं के इस वैयक्तिक जीवनक्रम में एक अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित किया। उसने साधु-संन्यासियों के वर्ग को सुसंगठित, सुनियोजित एवं साथ ही उन्हें समाज के लिए उपयोगी बनाने का प्रयास किया। मठीय व्यवस्था ने ही साधु-संन्यासियों के वैयक्तिक जीवन में सामाजिक संगठन की भावना को साकार किया।

---

१. यदुनाथ सरकार, नागे संन्यासियों का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० ५६।

आरम्भ से ही मठ अपने से सम्बन्धित धर्मों के प्रचार-प्रसार की एक सुगठित संस्था के रूप में कार्य करते रहे हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य समाज में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का प्रसार करना, उनके लिए धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रशिक्षण का एक केन्द्र प्रदान करना तथा धार्मिक प्रचार-प्रसार के लिए धार्मिक शिक्षकों एवं उपदेशकों को प्रशिक्षित करना रहा है। यही कारण है कि ये मठ साम्प्रदायिक ज्ञान के प्रसार में पूर्ण सहायक सिद्ध हुए हैं और समय-समय पर धार्मिक यात्रियों को आश्रय देने के लिए धर्मशाला के रूप में भी व्यवहृत हुए हैं।[१]

मठों के उद्देश्य एवं उनके आदर्शों पर प्रकाश डालते हुए दक्षिणमूर्ति मठ के आचार्यपीठ का कथन है कि मठ और मन्दिर हमारी चिरन्तन धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ है। इनके उद्भव को कतिपय व्यक्तियों से सम्बद्ध करना उपयुक्त नहीं है। यह कहना विलकुल गलत होगा कि इनकी स्थापना युग विशेष की आवश्यकताओं के आधार पर हुई। स्कन्दपुराण में कहा गया है कि मठों का निर्माण करने वाला तथा उसका निर्माण कर साधु-संन्यासियों को उसे दान कर देने वाला व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ा महान् समझा जाता है। इस प्रकार मठ हमारे धार्मिक जीवन के एक महत्वपूर्ण एवं अविछिन्न अंग रहे हैं। इन्होंने समाज में सर्वदा एक स्वस्थ आध्यात्मिक जीवन का संचार किया है।[२] वस्तुतः ये मठ प्राचीनकाल में धार्मिक भावना के प्रकाश-स्तम्भ थे। 'धार्मिक जीवन तथा धर्मभावना को निरन्तर उद्दीप्त बनाये रखने के लिए प्राचीनकाल में मठ स्थापित किये गये थे, जिससे उनके द्वारा विद्वानों, विद्यार्थियों, तत्वज्ञों, विरक्तों और विचारकों का समुचित पोषण हो सके, अच्छे सुव्यवस्थित विद्यालयों की स्थापना करके विद्या का प्रचार किया जा सके और इस प्रकार ज्ञान प्रसार करके निर्वाधरूप से लोक-कल्याण और धर्म-प्रचार किया जा सके'[3]। इन मठों का सबसे बड़ा दायित्व सामाजिक जीवन में नैतिक मूल्यों की स्थापना करना था। यही कारण है कि मठ के धर्मगुरुओं का चयन करते समय इस

---

१. रिपोर्ट आफ दी हिंदू रेलीजस इनडाउमेण्ट्स कमीशन, (पूर्वोक्त); पृ० २०–२१।

2. 'Thus Mathas have been an integral part of Hinduism. They have been serving upto now as schools where the initiated and lay disciples of some great teacher are instructed into a certain Philosophy in order to help them lead a healthy pure spiritual life'. p. 221.

३. सीताराम चतुर्वेदी, भारत के उदासीन सन्त, (पूर्वोक्त), पृ० ३७।

बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि वे पूर्ण सदाचारी, संयमी, परोपकारी, सुशील, कर्मठ, विद्या-विलक्षण, दूरदर्शी और धर्मात्मा भी हों। ऐसे ही लोगों का जीवन और आचरण के लिए आदर्श बनता था।

मंदिर और मठ

किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय से सम्बन्धित लोगों में आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक चेतना के विकास की दृष्टि से मन्दिर और मठों का विशेष महत्व है। संन्यासियों के आवास के सम्बन्ध में में वसिष्ठ ने लिखा है—"अनित्या वसतिं वसेत्। ग्रामान्ते, देवगृहे, शून्यागारे वा वृक्षमूले वा" (वशिष्ठः १०, १२, १३)। यहाँ 'देवगृह' का तात्पर्य मन्दिर से है। लगता है कि आरम्भ में जब संन्यासियों ने क्षेत्र विशेष में स्थायीरूप से रहकर वहाँ के लोगों के बीच धार्मिक एवं नैतिक प्रचार का दायित्व उठाया, उस समय उन्होंने देवालयों या मन्दिरों का आश्रय लिया था और इसी क्रम में कुछ लोगों ने धीरे-धीरे स्वतन्त्र कुटिया का निर्माण कराया होगा। कुछ ने मन्दिरों के साथ ही अपने रहने के लिए कुटी की भी व्यवस्था की होगी। आगे चलकर देवगृह और कुटिया के संयुक्तरूप में मठों की स्थापना हुई। इसलिए मन्दिरों और मठों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, फिर भी दोनों की कार्य प्रणाली और उद्देश्य में पर्याप्त अन्तर है और दोनों ने धार्मिक दृष्टिकोण के प्रसार में अपने-अपने ढङ्ग से कार्य किये हैं[१]।

मन्दिरों की स्थापना प्रायः देवी-देवताओं के मूर्ति संस्थापन एवं पौराणिक ज्ञान-विज्ञान के विकास के लिए हुआ है। इनमें किसी भी धर्म-सम्प्रदाय के लोग जाकर मूर्तियों का दर्शन लाभ ले सकते हैं। किन्तु मठों की स्थापना केवल मन्दिरों के अर्थ में नहीं हुई हैं, उनका दायित्व समाज में आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के साथ अपने धर्म एवं सम्प्रदाय विशेष के प्रचार का भी है। वस्तुतः ये धर्मोपदेश के केन्द्र रूप में हैं। मन्दिर में लोग सृष्टिकर्ता या जगन्नियन्ता भगवान् का न केवल दर्शन करते हैं वरन् मन्दिरों में पहुँचकर अपने ढंग से भगवान् की प्रार्थना भी करते हैं। जबकि 'मठ' में उनमें रहने वाले शिष्यों तथा 'अन्तेवासियों' के लिए आध्यात्मिक उपदेश के अवसर प्रदान किये जाते हैं। मठों में रहने वाले इन शिष्यों को आध्यात्मिक ज्ञान से सम्पन्न करके ईसाई धर्मोपदेशकों की भाँति समाज में धर्मोपदेश के लिए भेज दिया जाता है[२]। इस प्रकार मन्दिर जहाँ देवाराधन के लिए एक

---

१. रिपोर्ट आफ द हिंदू रेलिजियस एण्डाउमेण्ट कमीशन, (पूर्वोक्त), पृ० ७।

२. उपरोक्त।

निश्चित एवं पवित्र स्थल प्रदान कर प्रकारान्तर से लोगों में धार्मिक भावना का प्रसार करते हैं वहीं मठ प्रत्यक्ष रूप से धर्म प्रचार करते तथा लोगों में धार्मिक श्रद्धा, आस्था एवं नैतिक भावना के विकास का दायित्व लेकर चलते हैं। दोनों हमारी धार्मिक-श्रद्धा के केन्द्र हैं। मन्दिर यदि उसका व्यावहारिक पक्ष है तो मठ उसके सैद्धान्तिक पक्ष का कार्य करता है। प्रकारान्तर से दोनों समाज में धार्मिक भावना के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। धर्मशास्त्रों में अनेक अवसर ऐसे आये हैं जहाँ कहा गया है कि समाज की धार्मिक भूख की तृप्ति एवं उनकी धार्मिक आकांक्षाओं की सम्पूर्ति के लिए मन्दिर और मठ एक-दूसरे के पूरक हैं।[१] वर्तमान समय में अनेक मठ एक साथ ही दोनों नाम से जाने जाते हैं। जैसे—गोरखनाथ मठ, गोरखपुर को गोरखनाथ मन्दिर भी कहते हैं—इसी प्रकार वाराणसी के कबीरकीर्ति मन्दिर को कबीरकीर्ति मठ भी कहते हैं। प्रायः हर मठ से उसके संस्थापक तथा उसके आराध्य देव की मूर्त्ति का कोई मन्दिर अवश्य सम्बद्ध होता है। 'मठ' का महन्त अपने गुरु अथवा आराध्य देव की पूजा उसी मन्दिर में करता है। यही कारण है कि 'मठ' ओर मन्दिर में समानता हो गयी है। सिद्धान्ततः 'मठ' साधु, महात्मा के निवास स्थान को, उनके सङ्गठन को कहते हैं, जबकि मन्दिर किसी देवालय या देवस्थान को कहते हैं। मठ और मन्दिर के शिल्प में भी उल्लेखनीय अन्तर होता है।

अखाड़ा

'अखाड़ा' मठों का एक विशिष्ट प्रकार है। 'अखाड़ा' की स्थापना का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। इस समय सम्पूर्ण देश में दसनामी संन्यासियों के अनेक 'अखाड़े' कार्यरत हैं। अखाड़ा नागे संन्यासियों का एक विशिष्ट सङ्गठन है। ये संन्यासी योद्धा-संन्यासी के नाम से पुकारे जाते हैं। आत्मरक्षा और अत्याचारियों के प्रतिकार के लिए संन्यासियों में अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग का प्रचलन शताब्दियों पूर्व से चला आ रहा है। पंतजलि के महाभाष्य तथा बाण के 'हर्षचरित' में भी इस प्रकार का उल्लेख है कि शैव संन्यासी बहुत पहले से हथियारों का प्रयोग करते थे। जे० एन० फार्खर का विचार है कि मधुसूदन सरस्वती, संन्यासियों के ऐसे अग्रणी नेता हैं जिन्होंने अकबर से समय में सर्वप्रथम शैव संन्यासियों का एक लड़ाकू दस्ता मुस्लिम फकीरों के विरुद्ध तैयार किया था। मधुसूदन सरस्वती के बाद एक शताब्दी से पूर्व ही रामदास ने भी विभिन्न सङ्गठनों के कार्यकर्ताओं को मुस्लिम आक्रमणों के विरुद्ध साहसिक कदम उठाने को प्रेरित किया था।[२]

---

१. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, (पूर्वोक्त), पृ० १०१।
२. जी० एस० घूरिये, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० १११ पर उद्धृत।

सर यदुनाथ सरकार का कहना है कि मधुसूदन सरस्वती के पूर्व भी योद्धा संन्यासियों का सङ्गठन था। महानिर्वाणी अखाड़ा प्रयाग के महन्त लक्ष्मणगिरि भी इस मत का समर्थन करते हैं।[1] नागा संन्यासियों के सम्बन्ध में के० एम० मुंशी का कथन है कि इनकी परम्परा प्रागैतिहासिक है। उस समय जब उत्तर प्रदेश और बिहार केवल दलदली स्थल थे सम्भवतः तभी ऐसे लोगों का प्रादुर्भाव हो चुका था। सिन्धु घाटी की सभ्यता में स्थित मोहनजोदड़ों की खुदाई में प्राप्त मुद्रा तथा उस पर पशुओं द्वारा पूजित एवं दिगम्बर रूप में विराजमान पशुपति का अङ्कन भी इस बात का प्रमाण है।

ऐसा प्रतीत होता है कि संन्यासी प्रारम्भ से ही अपने-अपने विरोधियों को शान्त रखने के लिए शास्त्र और शस्त्र दोनों का सहारा लेते रहे हैं। संन्यासियों के हाथ में दण्ड का होना तथा शैव संन्यासियों के एक वर्ग द्वारा त्रिशूल धारण करना भी परम्परागत शस्त्र प्रयोग का ही एक अंग माना जा सकता है किन्तु परिस्थितियों की पुकार पर अत्याचारियों का प्रबल विरोध करने तथा उनके आक्रमणों का मुहतोड़ जवाब देने की दृष्टि से योद्धा या नागा संन्यासियों का एक वर्ग तैयार करना पड़ा होगा।

ऐसे युद्धक संन्यासियों के दल का संगठन 'अखाड़ों' में किया गया। इन अखाड़ों को ऐतिहासिक दृष्टि से एक विशिष्ट महत्व प्राप्त है। देश के अनेक भागों में शैव नागा संन्यासियों के अखाड़ों का गठन हो चुका है। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार अठारहवीं सदी में झांसी नागा संन्यासियों का प्रमुख केन्द्र था और गोसाईं राजा इनके ऊपर शासन करते थे।[2] विलसन के अनुसार भी बुन्देलखण्ड में पहले नागाओं का बहुत बड़ा संगठन था।[3] सन् १७५० ई० में राजेन्द्रगिरि के समय से नागा संन्यासियों के कार्यों का अनेक विवरण उपलब्ध हैं किन्तु इसके पूर्व के विवरण संदिग्ध एवं अविश्वसनीय हैं।

वस्तुतः इसमें सन्देह नहीं कि त्रिदण्ड, शैव संन्यासियों के पास एक अस्त्र के रूप में आरम्भ से रहा है। इसमें भी सन्देह नहीं कि संन्यासी आत्मरक्षा एवं अत्याचारियों के प्रतिकार के लिए इस प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग वैयक्तिक रूप से करते आ रहे हैं किन्तु नागा संन्यासियों को संगठित करके उन्हें युद्धक संन्यासी का

---

१. जी० एस० घूरिये, इंडियन साधूज (पूर्वोक्त), पृ० १११।

२. यदुनाथ सरकार, ए हिस्ट्री आफ दसनामी नागा संन्यासी, (पूर्वोक्त), पृ० २७४–७५।

३. एच० एच० विल्सन, दी रेलीजस सेक्टस आफ द हिंदूज, (कलकत्ता : सुशील गुप्ता इण्डिया प्रा० लि०, १९५८), पृ० १३४।

रूप देने का कार्य सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के बीच ही आरम्भ हुआ है। वैसे परम्परागत ढंग से इन अखाड़ों की स्थापना शंकराचार्य के काल से ही बताई जाती है किन्तु इसके कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बनारस के मधुसूदन सरस्वती ने संभवतः अम्राट अकबर की स्वीकृति से बीरबल और रहीम खानखाना की सहायता से 'अखाड़ों' के संगठन को एक सुदृढ़ आधार दिया था।[१]

अठारहवीं शताब्दी में शैव नागाओं की युद्धक प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उनके द्वारा अस्त्र-शस्त्रों को धारण किया जाना ही इस बात का प्रतीक है कि वे लड़ाकू और युद्धक प्रवृत्ति के हैं। शैव नागा तथा वैष्णव नागाओं के बीच प्रायः संघर्ष छिड़ता रहा है। 'एसियाटिक रिसर्चेज' (भाग—·, ३१७ तथा भाग १२--४५५) के अनुसार हिजरी संवत् १०५० में द्वारका में वैष्णवों और मुंडियों (संन्यासी जो सिर मुड़ाये रहते हैं) के बीच एक भीषण संघर्ष हुआ था, जिसमें वैष्णव संन्यासी बहुत बड़ी संख्या में मारे गये थे—(दबिस्तान, ।।, १९७)।[२] बाद में भी हरद्वार में वैष्णवों और शैवों के बीच इसी प्रकार के खूनी संघर्ष का विवरण मिलता है जिसमें शैव नागाओं ने वैष्णवों से हरद्वार को खाली करा लिया था और यह स्थिति सन् १७६० तक बनी रही जबकि देश पर अंग्रेजों का अधिकार हो चुका था। कहा जाता है कि इस संघर्ष में अठारह हजार वैरागी मारे गये थे।[३] इतिहासकार यदुनाथ सरकार का कथन है कि बहुत से नागा संन्यासियों 'महापुरुष' की सामान्य पदवी से राजपूताना, जोधपुर, जैसलमेर, बड़ौदा, कच्छ, मेवाड़, अजमेर और झाँसी के अनेक राजाओं की सेना में भर्ती होकर सैनिक का कार्य भी करते रहे हैं।[४] सन् १७९६ में हरद्वार मेले का वर्णन करते हुए कप्तान टामस हार्डविड नामक एक अंग्रेज अधिकारी ने लिखा है कि 'दसवीं अप्रैल के सवेरे जिस दिन मेला समाप्त हुआ लगभग ८ बजे सिख लोग भिन्न-भिन्न घाटों की ओर रवाना हुए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने तलवारों, भालों और बन्दूकों से उन सभी

---

१. कुम्भ मिशप रिपोर्ट, (रिपोर्ट आफ द कमिटी एप्वाइन्टेड बाई यू० पी० गवर्नमेंट, १९५४),, पृ० १०५।
२. एच० एच० विल्सन, दी रेलीजियस सेक्ट्स आफ हिंदूज, (पूर्वोक्त), पृ० १०६ पर उद्धत।
३. वही, पृ० १३५।
४. यदुनाथ सरकार, ए हिस्ट्रीआफ दसनामी नागा संन्यासीज, (पूर्वोक्त); पृ० २७५।

साधुओं पर वार किया जो उनके सामने पड़े। ये सब पैदल थें और इनमें से एकाध ही ऐसे थे जिनके पास बन्दूक हो। ऐसी अवस्था में यह संघर्ष बराबरी का नहीं था। परिणाम यह हुआ कि घुड़सवार सिक्खों ने संन्यासियों, वैरागियों, गोसाइयों और नागा सभी को दुर्दमनीय प्रचण्डता का परिचय देकर भगा दिया। उन्होंने उन्हें बहुत बड़ी संख्या में मार डाला और जो भागे उनका पीछा किया'।[१]

इस प्रकार नागा संन्यासियों, वैष्णवों तथा अन्य सम्प्रदायों के बीच प्रायः संघर्ष होते रहे हैं। कुंभ मेले के अवसर पर ऐसी स्थिति उत्पन्न होने की संभावनाएँ बराबर बनी रहती हैं।

अखाड़ा : स्वरूप एवं संगठन

'अखाड़ा' नागा संन्यासियों का एक विशिष्ट संगठन है। सामान्य अर्थ में 'अखाड़ा' शब्द से एक ऐसे केन्द्र का बोध होता है जहाँ लोगों को शारीरिक व्यायाम या योगासन आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है। 'कुंभ दुर्घटना जाँच आयोग' के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए महन्त किशोरी दास ने लिखा है कि 'सामान्य अर्थ में अखाड़ा शब्द का प्रयोग उस स्थान के लिए किया जाता है जहाँ लोग कुश्ती लड़ते हैं तथा व्यायाम करते हैं। साधु सम्प्रदाय के इतिहास में भी ऐसा समय आया जब संसार से विरक्त संन्यासियों को अपनी आध्यात्मिक साधना के साथ, शारीरिक शक्ति को भी विकसित तथा संगठित करने की आवश्कता पड़ी। इसके दो प्रधान कारण थे—पहला तो यह कि संन्यासियों के विभिन्न सम्प्रदाय धार्मिक पर्वों पर किसी तीर्थ में एकत्र होने पर आपस में ही संघर्ष करने लगे थे। वैरागी साधुओं और शैव संन्यासियों के बीच ऐसे संघर्ष अनेक बार हुए हैं। दूसरे मुस्लिम शासनकाल में हिन्दू साधुओं के धार्मिक कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाये जाने एवं पवित्र मन्दिरों को उनके द्वारा पहुँचाये गये आघात के कारण भी संन्यासियों को अपने अस्त्र उठाने पड़े। इस प्रकार साधुओं में 'अखाड़ों' की परम्परा चल पड़ी।[२] रामानन्दी सम्प्रदाय पर आधारित एक शोधकार्य में 'अखाड़ों' शब्द की निष्पत्ति 'अखण्ड' से मानी गयी है। जिसका अर्थ है—अविभाज्य। किन्तु 'अखाड़ा' और 'अखण्ड' के बीच कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।[३] जी० एस० घूरिए ने लिखा है कि दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों या प्रशासन द्वारा किये गये आघात से अपनी रक्षा करने के लिए

१. यदुनाथ सरकार, नागे संन्यासियों का इतिहास (हिन्दी), (पूर्वोक्त), पृ० १०७ पर उद्धृत।

२. कुम्भ मिशन रिपोर्ट, (पूर्वोक्त), पृ० १०४।

३. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० २०३।

तथा आवश्यकता पड़ने पर स्वयं उन पर आक्रमण करने के लिए साधुओं ने एक संगठन तैयार किया जिसे 'अखाड़ा' की संज्ञा दी गयी'।[१]

साधु समाज में अखाड़े के उदय का इतिहास गोसाईं राजेन्द्रगिरि के युग सन् १७५० ई० के पूर्व उपलब्ध नहीं है। इस समय के बाद का इतिहास उपलब्ध है। 'निर्वाणी अखाड़ा' (प्रयाग) में एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि प्राप्त है जिसकी रचना अखाड़े में वंश परम्परा से चले आ रहे 'भाट' द्वारा की गयी है। इसमें दसनामी अखाड़ों के ६ नाम गिनाये गये हैं। इन अखाड़ों की व्यवस्था पद्धति यत्किंचित् परिवर्तन के साथ प्रायः एक समान ही है। ये अखाड़े हैं—श्री अखाड़ा महानिर्वाणी, श्री निरंजनी अखाड़ा, श्री अटल अखाड़ा, श्री आनन्द अखाड़ा, श्री जूना अखाड़ा, श्री आवाहन अखाड़ा।

निर्वाणी अखाड़ा—यह अखाड़ा कपिल महामुनि का उपासक है। इसका झंडा सूर्य प्रकाश और भैरव प्रकाश है। आठ महन्त और आठ कारवारी सेक्रेटरी इनकी व्यवस्था करते हैं। निर्वाणी अखाड़े में एक परम्परागत भाट है जिसके पास हिन्दी में एक पाण्डुलिपि पायी गयी है जिसमें अखाड़ों के बीच हुई विभिन्न लड़ाइयों का वर्णन है।

श्री निरंजनी अखाड़ा—इसका शुभमुहूर्त अत्रि मौनी सिद्ध, सरजूनाथ पुरुषोत्तम गिरि ने कराया था। निर्वाणी और निरंजनी अखाड़ा की अपनी एक विशेषता है। इन दोनों अखाड़ों में मादक द्रव्यों का सेवन निषिद्ध है।

श्री अटल अखाड़ा—इस अखाड़े के निर्माण में वन खंड भारती, सागर भारती, शिव चरण भारती आदि कई नामों की गणना की गयी है। इसके सम्बन्ध में कई लड़ाइयों का भी वर्णन है। इनका एक मठ काशी (घण्टाकर्ण) है। कुंभ मेले में ये भोजनादि के लिए निर्वाणी अखाड़े में सम्मिलित होते हैं।

आनन्द अखाड़ा—इसका निर्माण केथागिरि महराज तथा रामेश्वर गिरि आदि द्वारा कराया गया था।

आवाहन अखाड़ा—इसका निर्माण मिरिच गिरि, दीनानाथ गिरि आदि ने कराया था।

जूना अखाड़ा—इसके निर्माता मोखामगिरि, सुन्दर गिरि, मौनी दिगम्बर आदि थे।

---

१. 'The Sadhus have an organisation which is designed to meet the the needs of offence and deffence against other orders and even against the civil authority, if need be one of the unitsin this organisation is calleid an 'Akhara'.--G. S. Ghurye, Indian sadhtes. (on. cit.), p. 91.

छः प्रमुख अखाड़ों सम्बन्धी सामान्य विवरण

क्र० सं०	अखाड़े का नाम	स्थापना वर्ष पारस्परिक रूप में	स्थान जहाँ इसकी सर्व प्रथम स्थापना हुई	इष्टदेव	मुख्यालय का स्थान	विशेष
१—	आनन्द	८५५ ई०	बरार	सूर्य	काशी	
२—	अटल	६४७ ई०	गोंडवाना	गणेश	काशी	
३—	आवाहन	५४७ ई०	—	गणपति दत्तात्रेय	काशी	१५४७ ई० (सर यदुनाथ सरकार के अनुसार)
४—	जूना (भैरव)	१०६० ई०	कर्ण प्रयाग (उत्तार काशी)	दत्तात्रेय (भैरव)	काशी	
५—	निरंजनी	९०४ ई०	माण्डवी (कच्छ)	कार्तिकेय	प्रयाग	१९०४ (सर यदुनाथ सरकार के अनुसार)
६—	निर्वाणी	७४९ ई०	गढ़कुण्डा (छोटा नागपुर)	कपिल	प्रयाग	१७४९ ई०

महानिर्वाणी अखाड़ा प्रयाग के अध्यक्ष महन्त लक्ष्मण गिरि ने ५ जनवरी, १९२९ में इन अखाड़ों का एक विवरण तैयार कर प्रकाशित कराया है। इसके अनुसार इन अखाड़ों में सबसे प्राचीन श्री अटल अखाड़ा है। कहते हैं दिल्ली बादशाहों के समय में इसमें तीन लाख आदमी थे।[1]

इन अखाड़ों की अपनी विशेषताएँ हैं। मठ में जहाँ विभिन्न प्रकार के संन्यासियों का प्रवेश होता है, उनके विपरीत अखाड़ों में केवल नागा संन्यासियों की प्रविष्टि होती है। जी० एस० धूरिये ने 'अखाड़ा' को तुलना 'मिलिटरी रेजीमेन्ट' से की है।[2] ये अखाड़े प्रायः जनसमुदाय के बीच निर्मित हुए हैं। अनेक प्रकार की विचारधारा वाले इनसे शिष्यत्व ग्रहण करते हैं। नागा अखाड़ों का निर्माण 'सिखपंथ' की भाँति हुआ है जहाँ योद्धा संन्यासी निवास करते हैं। इन अखाड़ों का उद्देश्य जनवर्ग में शारीरिक विकास की चेतना को जन्म देना है तथा समुदाय विशेष के लोगों को शारीरिक व्यायाम, हथियार चलाने आदि का प्रशिक्षण प्रदान करना है।

शैव तथा वैष्णव अखाड़ा

अखाड़ों को साम्प्रदायिक आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया गया है। यह विभाजन उनके धार्मिक जीवन-दर्शन पर आधारित है। इनमें एक अखाड़ा शैव

१. यदुनाथ सरकार, नागे संन्यासियों का इतिहास (पूर्वोक्त), पृ० ९३-९४।
२. जी० एस० धूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० ११६।

सम्प्रदाय के नागा संन्यासियों से सम्बन्धित तथा दूसरा वैष्णव वैरागियों से सम्बन्धित है। इन दोनों संगठनों का उदय सन् १६०० तक हो चुका था। इन अखाड़ों में दो प्रकार के संन्यासी रहते हैं। एक स्थानी, दूसरा रमता। स्थानी साधु अपने अखाड़े पर ही रहते हैं जबकि रमता संन्यासी भ्रमणशील होते हैं, वे एक स्थान पर कई दिन तक नहीं रुक सकते।

शैव अखाड़ा

शैवों के ६ प्रमुख अखाड़े हैं। इनके आराध्य देव भैरव हैं। ये शैवों के अति प्राचीन सम्प्रदाय 'कापालिक' का प्रतिनिधित्व कहते हैं। इनमें सबसे पुराना 'जूना अखाड़ा' है। सन् १९५० में इस अखाड़े में ३०० सन्यासी रहते थे। अन्य अखाड़ों से इसकी विशिष्टता यह है कि इसमें नागा महिलाएँ 'अवधूतनी' भी रहती हैं। यद्यपि इस अखाड़े का शुभारंभ प्रयाग में हुआ था किन्तु अब इसकी प्रमुख गद्दी वाराणसी में तथा शाखाएँ प्रयाग, हरद्वार, उज्जैन त्र्यम्बक आदि में हैं। आवाहन अखाड़ा इसी से संबद्ध है।

माण्डवी (कच्छ) में स्थापित 'निरंजनी अखाड़ा' शैवों का तीसरा प्रमुख अखाड़ा है। इसके संरक्षक देवता 'कार्तिक स्वामी' हैं। प्रयाग में इसकी प्रमुख गद्दी है। इसकी शाखाएँ नासिक के निकट त्र्यम्बक, नर्मदा के तट पर ओंकार मानधाता, उज्जैन, वाराणसी और हरद्वार में है। १९५० के आंकड़े के अनुसार इसमें नियमित रूप से कुल ५०० पुरुष संन्यासी निवास करते थे। इसी से सम्बद्ध चौथा अखाड़ा 'आनन्द' है, जिसकी स्थापना बरार में हुई थी। इसके संरक्षक देवता 'अग्नि' हैं।[1]

कुण्डायढ़ (झारखण्ड) के सिद्धेश्वर मन्दिर में स्थापित 'महानिर्वाणी अखाड़ा' शैवों का पाँचवा महत्वपूर्ण संगठन है जिसके कुलदेवता कपिल हैं। इस अखाड़ा के नागा सन्यासियों ने औरंगजेब के विरुद्ध सन् १६६४ में वाराणसी की रक्षा के लिए ज्ञानवापी पर दो युद्धों में भाग लिया था। इसकी प्रमुख गद्दी प्रयाग में है, यह अपने सिद्ध महन्तों के लिए प्रख्यात है। वर्तमान समय में यह संबसे अधिक समृद्ध एवं शक्तिशाली अखाड़ा है। महानिर्वाणी अखाड़ा और इसी से सम्बद्ध दूसरा 'अटल अखाड़ा' अपने विशेष ध्वज और विशेष हथियार के लिए दसनामियों में प्रसिद्ध है। इनके ध्वज को 'सूर्य प्रकाश' और 'भैरव प्रकाश' की संज्ञा दी गयी है[2]।

शैवों का छठाँ प्रमुख अखाड़ा 'अटल' है जिसके आराध्य एवं कुलदेवता

---

१. जी० एम० घूरिये, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० ११६।
२. वही, पृ० ११८–१९।

'गणपति' हैं। इसकी स्थापना गोंडवाना में हुई थी। यदुनाथ सरकार के अनुसार इसकी प्रमुख गद्दी जोधपुर में है। मुगल सम्राटों के समय में इससे सम्बद्ध लोगों की संख्या ३ लाख बतायी जाती है। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए इसने अनेक योद्धा संन्यासियों को जन्म दिया है। यह आठ भागों में विभक्त है जिन्हें 'दावा' कहते हैं। इसमें ५२ 'मढ़ी' हैं। इनके सम्बन्ध में आगे हम विचार करेंगे। इसी प्रकार जूना अखाड़ा से संवद्ध अन्य अखाड़े 'अगन' (अग्नि), 'अलखी' 'सुखड़' और 'गूदड़' हैं। विलसन ने अन्तिम तीन अखाड़ों को 'सूखड़' 'रूखड़' और 'ऊखड़' का नाम दिया है [1]।

आठ 'दावा' और बावन मढ़ी—मढ़ी और दावा के संबंध में स्वामी सदानन्द गिरि ने अपनी सन् १९७६ में प्रकाशित पुस्तक 'सोसायटी एण्ड सन्यासी' में कतिपय विशेष विवरण प्रस्तुत किये हैं। दसनामी संघ के चार महान मठों (जिनकी स्थापना शंकराचार्य ने की थी) ने शताब्दियों के भीतर संगठन तथा सबद्धता के संबंध में कई नियम स्वीकृत किये हैं। यदुनाथ सरकार का कथन है कि संन्यासी के लिए पहले किसी मढ़ी में अपना नाम लिखवाना आवश्यक होता है। मढ़ी को उन्होंने 'गोत्र' तथा दीक्षा का केन्द्र कहा है [2]। मठ केवल एक नाम और एक मढी का होता है। किन्तु अखाड़ों में दसनाम की बावन मढ़ियों के रहने की छूट है। इसी कारण इन्हे पंचायती दसनामी की संज्ञा दी गयी है। संपूर्ण मढ़ियाँ ५२ हैं जिसमें से गिरि के अधिकार में २७ पुरी के अधिकार में १६, भारती के अधिकार में ४ और १ लामा के अधिकार में हैं[3]।

मठेश्वरी धर्म पद्धति में इन बावन नामों की गणना निम्नलिखित रूप में कराई गयी है—

१—श्रृंगेरी मठ, २—शारदा मठ, ३—गोबर्द्धन मठ, ४—ज्योति : मठ ५—सुमेरु मठ ६—परमात्मा मठ ७–कुदाली मठ ८—संखेश्वर मठ ९—काश्यप मठ १०—कुम्भू मठ ११–पुष्पगिरि मठ १२—विरूपाक्ष मठ। १३—हृव्यका मठ १४—शिवगंगा मठ १५—कोपला मठ १६—श्री शैल मठ १७—रामेश्वर मठ १८—रामचन्द्रपुरा मठ १९–अवन्ती मठ २९—हली मठ २१—भण्डागिरिमठ २२—धनगिरि मठ २३—कैवल्यपुर मठ २३—मूलबंगालमठ २५—श्री शैल मठ २६—खिद्रपुरा मठ २७—नृसिंहदेव मठ २८—मौलवनमठ

---

१. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० १२० पर उद्धृत।
२. यदुनाथ सरकार, नागे संन्यासियों का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० ६१।
३. वही, पृ० ६१।

२९—पेठन मठ ३०—माण्डीगरी मठ ३१—काशी मठ ३२—तीर्थराजपुरामठ ३३—तीर्थलीमठ ३४—हरिहरपुरामठ ३५—गंगोत्रीमठ ३६—बुद्धगयामठ ३७—तारकेश्वरमठ ३८—धूमेश्वरमठ ३९—गोलेश्वरमठ ४०—कुडपालमठ ४१—कैरुवामठ ४२—गोहान्दमठ ४३—अनौवार मठ ४४—भीमेश्वरमठ ४५—ओंकारेश्वरमठ ४६—मान्धातामठ ४७—गंगेश्वरीमठ ४८—सिद्धनाथमठ ४९—चिदम्बरममठ ५०—सिद्धेश्वरमठ ५१—विमलेश्वरमठ ५२—अमरनाथमठ ५३—चिनौरमठ । इन मढ़ियों का संबंध ५१ शक्ति पीठों से भी जोड़ा जाता है।

मढ़ी संख्या १ से ३५ तक का विवरण शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र भाष्य में भी दिया गया है। इन मठों की स्थापना या तो शंकराचार्य द्वारा ही की गयी है या उनके द्वारा स्थापित चार पीठों द्वारा—इस सम्बन्ध में कोई निश्चित विवरण प्राप्त नहीं है। कुछ लोगों की धारणा है कि शेष १८ मठों की स्थापना नागा संन्यासियों द्वारा की गयी है अथवा इनके द्वारा ५२ मढ़ी की स्थापना की गयी[१]।

नागा संन्यासियों की इन ५२ मढ़ियों को ८ 'दावा' में विभक्त किया गया है। 'दावा' विभाजन का कोई राजनीतिक अर्थ है[२]। सम्भवतः नागा संन्यासियों ने अपने निवास एवं अधिक संख्या की दृष्टि से अपने को ८ मण्डलों में विभाजित कर लिया था। ये आठ दावा—१ ऋद्धिनाथ दावा २—रामदत्ती दावा ३—चार मढ़ियों का दावा ४—दस मढ़ियों का दावा ५ वैकुण्ठी दावा ६—सहजावत दावा ७—दरियाव दावा ८—भारती दावा।

वैष्णव अखाड़ा

वैष्णव अखाड़ों के उद्भव का समय सन् १६५० से १७१३ के बीच समझा जाता है।[३] इसका उद्भव शैव अखाड़ों के विरुद्ध हुआ था। इनके संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए रामानन्दी सम्प्रदाय के श्री बालानन्द जी ने काफी प्रयास किया है। उन्होंने सैनिक डिवीजन की तरह तीन 'अनी' का निर्माण किया, ये थे—दिगम्बर, निर्मोही, निर्वाणी। दिगम्बर अनी के महन्त इन दोनों से श्रेष्ठ समझे जाते हैं। बालानन्द जी ने अन्य सात अखाड़ों की स्वयं स्थापना की थी। ये हैं—दिगम्बर, निर्मोही, खाकी, निरालम्बी, सन्तोषी और महानिर्वाणी। 'अनी' का संगठन कुम्भ मेला के अवसर पर विशेष रूप से सजधज कर अपनी रंगीन वेशभूषा में मार्च करता है। ये अपने विभिन्न शिविरों के पृथक-पृथक झण्डे फहराते हुए मार्च

---

१. स्वामी सदानन्द गिरि, सोसायटी एण्ड संन्यासी. (पूर्वोक्त), पृ० २०।
२. वही पृ० २०।
३. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त); पृ० २०३-२०८।

करते हैं। इनका सर्वमान्य झण्डा 'अनी' के श्री महंत के शिविर के समक्ष स्थापित कर दिया जाता है।

नागा संगठन का सैनिक अनुशासन

नागा संन्यासियों का संगठन सैनिक संगठन की भाँति अनुशासित होता है। नागा होने पर ये संन्यासी अपना दण्ड, कमण्डल त्याग देते हैं। यद्यपि परम्परागत नाम गिरि, पुरी आदि से वे अब भी सम्बोधित होते रहते हैं किन्तु संन्यास-परंपरा की उक्त वस्तुओं को त्याग देते हैं। अब उनके जीवन में वैयक्तिकता के स्थान पर सामूहिकता का प्रवेश होता है। अब उनमें सामूहिक नेतृत्व के भावना की प्रबलता दिखाई पड़ने लगती है। वे अपने समुदाय की रक्षा के लिए अपना जीवन अर्पित कर देने को सदैव तत्पर रहते हैं। इनकी आरम्भिक दीक्षा का शुभारम्भ इनके 'शिर मुण्डन' द्वारा होता है। इस समय इन्हें 'महापुरुष' की संज्ञा दी जाती है। और ये 'महन्त' या 'कारोवारी' के समक्ष ६ प्रतिज्ञाएँ ग्रहण करते हैं—जिसमें स्वीकार करते हैं कि अखाड़े की समस्त सम्पत्ति सबकी सामूहिक सम्पत्ति है। सभी उन्मादकारी या मादक वस्तुओं से बचकर रहेंगे, इस अखाड़े को छोड़कर किसी अन्य अखाड़े में नहीं जायेंगे। अपने साथियों से कभी झगड़ा नहीं करेंगे। अपने बड़े अधिकारियों के आदेशों का पालन करेंगे। संघ की समस्त वस्तुओं का प्रयोग करेंगे किन्तु उन्हें चुरायेंगे नहीं या केवल अपने लिए नहीं रखेंगे।[१]

योद्धा नागा संन्यासियों की जमात जहाँ पड़ाव करती है उसे 'छावनी' कहा जाता है। सेना में जिस प्रकार 'बिगुल' या 'तुरही' बाजा का प्रयोग होता है, उसी प्रकार ये नागा योद्धा 'नागफणि' का प्रयोग करते हैं। 'नागफणि' की एक आवाज पर सभी योद्धा एकत्र होकर अपने-अपने निर्दिष्ट कार्यों में लग जाते हैं। नियमों की अवहेलना पर ये दण्ड के भागी होते हैं। 'नागफणि' से अवसरानुकूल विविध ध्वनियाँ की जाती हैं। प्रत्येक नागा इसे बजाने का ज्ञान रखता है। जब इनकी सेना मार्च करती है तो उसे 'स्याही' कहा जाता है। 'स्याही' में केवल नर-पशुओं को सम्मिलित होने दिया जाता है। किसी उत्सव के समय इस दल को 'पेशवाई' कहते हैं। इन नामकरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि संगठन के उद्भव के समय इनके ऊपर 'मुगल सेना' का पर्याप्त प्रभाव था और उसी के विरुद्ध इस अर्द्ध सैनिक संगठन को जन्म दिया गया था। इसलिए उनके सैन्य संगठन के विविध नामों का प्रयोग इनके द्वारा भी किया है। कुम्भ मेले के समय अखाड़ों का जो जुलूस चलता है उसे देखकर ऐसा आभास होता है जैसे प्राचीन युग की चतुरंगिणी सेना जा रही हो—रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल चल रहे नागा परंपरागत अस्त्र-शस्त्र से

---

१. स्वामी सदानन्द गिरि, सोसायटी एण्ड संन्यासी, (पूर्वोक्त), पृ० २५।

युक्त होते हैं। रथ सुन्दर सजे होते हैं। उन पर आचार्य मण्डलेश्वर और श्रीमहन्त आरूढ़ होते हैं। शानदार झूल से सजे हाथियों पर 'सचिव' अथवा थानापति पूर्ण सज्जा से सुशोभित होते हैं। घुड़सवार नागा उत्साहपूर्वक अपनी ढाल, तलवार के साथ चलते हैं—पैदल नागा धनुष-वाण से युक्त होते हैं—इस सेना जैसे जुलूस में अद्भुत अनुशासन दिखाई पड़ता है।

अखाड़े में प्रवेश—अखाड़े में प्रविष्ट होने के लिए आवश्यक है कि शिष्य पहले किसी नागा संन्यासी का शिष्यत्व ग्रहण करे। उस नागा संन्यासी का सीधा सम्बन्ध अखाड़े से नहीं होना चाहिए। अखाड़े में प्रविष्ट होने के पूर्व एक संन्यासी को किसी मठ, संन्यासी (वैयक्तिक) या जमात द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। जब तक इन तीनों में से किसी एक का अनुमोदन उसे प्राप्त नहीं होता तब तक उसे अखाड़े में प्रवेश नहीं दिया जा सकता। उदाहरण के लिए महानिर्वाणी पंचायती अखाड़े में प्रवेश की संक्षिप्त विधि निम्नवत् है—

प्रवेशार्थी की सम्यक जाँच हेतु धुनी के बाबा द्वारा 'गिरि' और 'पुरी' उपाधिकारी दो संन्यासी उसके पूर्व वृत्त—गोत्र, कुल, वर्ण आदि की जाँच हेतु नियुक्त किए जाते हैं। जब इनसे अनुकूल आख्या मिल जाती है तो दो वस्त्रधारी उस प्रवेशार्थी की शारीरिक जाँच करते हैं। यदि वह हर अंग से ठीक है, कहीं टूटा अथवा कटा नहीं है—अथवा कोई विधर्मी नहीं जान पड़ता तब वस्त्रधारी धूनी के बाबा से कहते हैं कि 'यह असल निर्वाणी है'। धूनी के बाबा किसी दूसरी जमात के साधु से उसकी शिखा कटवा कर मुण्डन करा देते हैं फिर वह स्नानादि करके पवित्र होकर नया गैरिक वस्त्र धारण करके आता है। उसे पवित्र जल से मार्जन कर पूजन कराया जाता है। पुजारी तीन बार कहते हैं—"बड़े अखाड़े का 'अतीत' पटाङ्गन पर खड़ा है—सौगंज देते हैं महापुरुषों"। तत्पश्चात् धूनी के बाबा अपने हाथ पर उसका एक हाथ रखकर उसके ऊपर फिर अपना दूसरा हाथ रखकर उसे शपथ दिलाते हैं—'बोलो गुरु महाराज की जै—' 'तेरी मेरी करना नहीं, लोहा लंगड़ उठाना नहीं, खाय पीए की मवा, घरे ढके को सौगन्ध, अखाड़ा छोड़ के दूसरे अखाड़े पर जाना नहीं, जिसके पास में रहना उसकी तन-मन से सेवा करना।' फिर कहते हैं—'बोलो गुरु महाराज की जै।"[1]

'अखाड़े' में अवांछित तत्वों का प्रवेश रोकने की दृष्टि से किसी अपरिचित व्यक्ति को प्रवेश नहीं दिया जाता। शारीरिक दक्षता अखाड़े में प्रवेश की एक अनिवार्य शर्त है। संन्यासियों की अनेक परम्पराओं में यद्यपि नागाओं द्वारा परिवर्तन ला दिया गया है किन्तु जाति का प्रभाव अभी वहाँ है। शूद्रों का अखाड़े में प्रवेश बिलकुल वर्जित है। पुष्ट एवं स्वस्थ शरीर के वे ही लोग वहाँ प्रवेश पा

१. महानिर्वाणी अखाड़ा, दारागंज प्रयाग के सचिव द्वारा प्राप्त सूचनानुसार।

श्री महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा कनखल (हरिद्वार) के
सेक्रेटरी श्रीं १००८ महन्त श्री गिरधर नारायण
पुरी जी दिगम्बर अजुर्न पुरी जी को
मखाड़े में प्रवेश देते हुए।

सकते हैं जो अन्य शर्तों के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वर्ग से सम्बन्धित होते हैं। नागा लोग बाल रख भी सकते हैं अथवा बनवा भी सकते हैं। बाल बढ़ाने वाले नागाओं में उसे बाँधने की अलग-अलग रीतियाँ प्रचलित हैं। निर्वाणी अखाड़ा के नागा सिर के दाहिनी ओर बाल बाँधते हैं किन्तु निरंजनी अखाड़ा के लोग इसे बीच सिर पर बाँधते हैं। नागा अपने भाले और बर्छे की पूजा करते हैं। विभिन्न अखाड़ों पर इनके अलग-अलग नाम हैं।

अखाड़े में प्रवेश पा लेने पर नागा संन्यासी को पहले 'वस्त्रधारी' की संज्ञा दी जाती है। 'वस्त्रधारी' से 'नागा' होने के लिए कोई आयु-सीमा निर्धारित नहीं है। वह बिलकुल नवयुवक नहीं है तो प्रायः हरिद्वार, प्रयाग, नासिक, उज्जैन में होने वाले आगामी कुंभ मेले में उसे नागा बना दिया जाता है। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों ने बताया कि नागा संन्यासी को दीक्षित करने के नियमों में प्रायः प्रत्येक अखाड़ों में एकरूपता नहीं है। उदाहरण के लिए एक अखाड़े का नियम इस प्रकार है—किसी महन्त का 'वस्त्रधारी' बनकर शिष्य पहले उनके साथ कुछ दिनों रहता है। यदि वह कुंभ मेले में नागा बनना चाहता है तो अखाड़े का 'कोतवाल' आठो डिवीजन (दावा) को सूचित कर देता हैं, निर्देश देता है कि वे अपने उन सभी 'वस्त्रधारियों' को भेजें जो 'नागा' बनना चाहते हैं। मेले से तीन दिन पूर्व इनके पुराने वस्त्र उतार कर नये सफेद वस्त्र धारण कराये जाते हैं। इन्हें 'पलाशदण्ड' धारण कराये जाते हैं। इसके बाद तीन दिन वह व्रत रहते हुए गायत्री मंत्र का जाप करता है। तीन दिन बाद वे 'श्रद्धा उत्सव' का आयोजन करते हैं जिसमें 'सिद्ध गुरु' (जिसके पास वह सर्वप्रथम आया था) उसके बाल (मूड) काट देते हैं। इस समय उनसे यह भी बता दिया जाता है कि यदि उनकी इच्छा हो तो वे अपने घर वापस जा सकते हैं किन्तु संन्यास ग्रहण कर लेने पर वे ऐसा नहीं कर सकेंगे। इसके बाद स्नान करके तथा विभूति लगाकर वे अखाड़े में जाते हैं जहाँ आचार्य महामंडलेश्वर उन्हें संन्यास मंत्र से दीक्षित करते है। इसके बाद वे अखाड़े में झण्ड के पास खड़े होते हैं, जहाँ नागा गुरु प्रत्येक वस्त्रधारी के वस्त्र अलग कर देते हैं और उसका 'तंग-तोड़' संस्कार करते हैं। उसके बाद दूसरे दिन वे सभी 'स्याही' में सम्मिलित होकर कुंभ स्नान के लिए जाते हैं। 'तंगतोड़' संस्कार के तीन वर्ष बाद वे पूर्णरूप से 'नागा' बन जाते हैं। कुछ अखाड़ों में इन संस्कारों के आयोजन में थोड़ा बहुत अन्तर भी है।[1]

सम्पत्ति व्यवस्था

अखाड़ों के पास अपनी भूमि, भवन, दुकान आदि सम्बन्धी स्थायी सम्पत्ति है। प्रायः सभी अखाड़ों के पास निजी मंदिर हैं। इन सम्पत्तियों की व्यवस्था प्रत्येक

---

१. स्वामी सदानन्द गिरि, सोसायटी एण्ड संन्यासी, (पूर्वोक्त), पृ० ३०।

अखाड़े पर नियुक्त 'थानापति' करता है। 'थानापति' अखाड़े के नागाओं में से 'श्रीपंच' द्वारा चुना जाता है। 'मानापति' की नियुक्ति में जाति तथा प्रान्तीयता के आधार पर किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता। दसनामी संन्यासियों के अखाड़े में देश के विभिन्न भागों के लोग दीक्षित होकर एक स्थान पर सामूहिक रूप में संन्यासी का जीवन व्यतीत करते हैं। दसनामी संन्यासियों के संगठन जैसी उदारता का दर्शन अन्य संगठनों में नहीं होता। आजकल अनेक अखाड़ों के परमहंस संन्यासियों के बीच भी प्रान्तीयता और जातीयता पनप चुकी है और कहीं-कहीं तो सम्पत्ति का अधिकार भी वंशपरम्परानुगत हो चुका है।[1] कुछ अखाड़ों में सम्पत्ति का अधिकार 'पंच' के पास है तो कुछ में नागा अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति भी रखते हैं। वहीं कुछ अखाड़ों की व्यवस्था इतनी सुन्दर एवं सुदृढ़ है कि कोई महन्त सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं कर सकता वस्तुतः इनकी सम्पत्ति का स्वत्वाधिकार आठ 'श्री महन्तों' के पास सम्मिलित रूप में रहता है। ये आठों महन्त एक या दो व्यक्ति को कानूनी मामलों की देखरेख के लिए नियुक्त कर देत हैं। साथ ही ये आठों एक-दूसरे पर बराबर दृष्टि भी रखते हैं। परिणामतः अखाड़ों की सम्पत्ति को न तो कोई बेंच सकता है और न उसका कुछ अन्य दुरुपयोग ही कर सकता है।

अखाड़ों की आय के विभिन्न स्रोत हैं। उन्हें अपने सम्मान में अनेक प्रकार के दान प्राप्त होते हैं जिसमें भूमि-सम्पत्ति, भवन, धन आदि मिलते रहते हैं। कुछ महन्तों ने अच्छा-खासा व्यापार भी कर रखा है। कुछ अखाड़ों में व्याज पर ऋण का लेन-देन भी चलता है किन्तु प्रसन्नता है कि इनके व्याज का प्रतिशत आज के बैंक और डाकघरों से भी कम है। ऋणों के लेन-देन में ऋण वाले का किसी प्रकार से शोषण नहीं किया जाता।

उत्तराधिकार

महन्ती के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में अनेक मठों के अपने विशेष नियम हैं। सामान्यतया किसी मठ का महन्त अपने जीवनकाल में मौखिक या लिखित रूप से (वसीयत द्वारा) अपने किसी शिष्य को अखाड़े का उत्तराधिकारी बना देता है। महन्त की मृत्यु-संस्कार के उपरान्त तेहरवें दिन उसका 'भण्डारा' होता है, जिसमें निकटवर्ती अन्य मठों के लोग भी सम्मिलित होते हैं। इसमें 'कारवारी' पूर्व महन्त द्वारा चुने गये नये महन्त की घोषणा करता है और उपस्थित संन्यासी एवं अन्य सम्भ्रान्तगण उसका अनुमोदन कर देते हैं। यदि समस्त उपस्थित समुदाय किसी चारित्रिक आधार पर उसका विरोध कर दें तो अन्य शिष्य को भी गद्दी

१. स्वामी सदानन्द गिरि, सोसायटी एण्ड संन्यासी, (पूर्वोक्त), पृ० ३२।

देने की व्यवस्था है। किन्तु पूर्वचयनित महन्त के सम्बन्ध में प्रायः ऐसी स्थिति आती नहीं है। क्योंकि लोग पहले से ही उसकी नियुक्ति से परिचित हुए रहते हैं। यदि जीवनकाल में ही किसी महन्त द्वारा अपना उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया गया है तो चार विशिष्ट वैष्णव सम्प्रदाय के अखाड़ों से सम्बद्ध सभी महन्त उसका चयन करते हैं। किसी अखाड़े में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न हो जाने पर शैव या वैष्णव मठों के प्रमुख महन्त अपने संयुक्त प्रयास से विवाद को हल करने का प्रयास करते है।[१]

संगठन की दृष्टि से किसी प्रान्त के सभी मठों को मिलाकर एक मंडल का निर्धारण किया गया है। इन सभी मठों में से किसी एक मठ के महन्त को सभी संन्यासी मिलकर 'मण्लेश्वर' नियुक्त करते हैं। इसे सभी मठों से उत्सवों के समय चन्दे प्राप्त होते हैं। मण्डलेश्वर अपना 'कारोबारी' या कोतवाल नियुक्त करता है। प्रान्त के दोषी संन्यासियों पर अभियोग चलाकर न्यायाधीश के रूप में उन्हें आर्थिक दण्ड या बहिष्कार दण्ड दे सकता है।[२]

आश्रम

'आश्रम' शब्द से वैदिकयुग के धार्मिक पुनरुत्थानकाल का बोध होता है। व्यवस्थित रूप से इन आश्रमों की स्थापना सम्भवतः नवीं शताब्दी में हुई थी। अपनी कई शताब्दियों के बीच की एक लम्बी यात्रा में आश्रमों ने अनेक सम एवं विषम मार्गों को पार किया है।[3] संस्कृत के तत्कालीन ग्रन्थों, काव्य, नाटक उपन्यासादि रचनाओं में अरण्यों में स्थापित अनेक आश्रमों का वर्णन आया है। वर्तमान समय में मठों की भाँति आश्रम भी अनेक स्थानों पर स्थापित हैं। इन आश्रमस्थ संन्यासियों के लिए अपने अलग के नियम-उपनियम हैं।

'आश्रम' शब्द को उत्पत्ति—'श्रम' धातु से हुई है जिसका अर्थ है परिश्रम करना। 'आ' उपसर्ग मर्यादा का द्योतक है। अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर सामाजिक उन्नति के लिए जहाँ श्रम किया जाय। इसमें दो अर्थ निहित है—एक वह स्थल जहाँ परिश्रम या तपसाधना की जाती है, दूसरा 'तप-साधना' या परिश्रम के लिए की जाने वाली क्रिया। इनमें से कौन-सा अर्थ मौलिक है, इस बात में विद्वान एकमत नहीं हैं।[४] इसके अतिरिक्त आश्रम शब्द के कुछ और भी अर्थ होते हैं जैसे

---

१. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, पूर्वोक्त), पृ० २११।
२. यदुनाथ सरकार, नागे संन्यासियों का इतिहास (पूर्वोक्त), पृ० ८२।
३. एच० डी० भट्टाचार्य, कलचरल हेरिटेज आफ इण्डिया, भाग-२, (पूर्वोक्त), पृ० ५९२।
४. पी० एच० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, (बाम्बे : पापुलर प्रकाशन, १९६३), पृ० ८३।

तपस्वियों की कुटिया, वह स्थान जहाँ तपस्वी तप का अभ्यास करते हैं तथा विद्यालय या मानव जीवन की चार अवस्थाएँ[१]। सम्भवतः ब्राह्मण युग के बाद लगभग ई० पू० ७०० में अरण्यवासियों का एक नया समुदाय सृजित हुआ। ये लोग वनों में एक स्थल पर 'वानप्रस्थ' आश्रम में पहुँचकर रहते थे। धीरे-धीरे इन वान-प्रस्थियों के निवास के लिए एक सामुदायिक व्यवस्था का सृजन हुआ जिसे 'आश्रम' की संज्ञा दी गई है। वैदिक ऋषियों ने समस्त जीवन को चार आश्रमों में विभक्त कर रखा था। 'ब्रह्मचर्य' तथा 'संन्यास आश्रम' में पहुंच कर लोग अरण्यवासी बनकर क्रमशः विद्याध्ययन तथा तपश्चर्या किया करते थे। बाद में इन आश्रमों ने धीरे-धीरे अपने वर्तमान रूप को ग्रहण कर लिया। अपने विकास की लम्बी यात्रा के क्रम में 'आश्रम' ने 'जीवन के चार सोपानों' 'संन्यासियों या तपस्वियों की शरणस्थली' तथा 'वान-प्रस्थितियों के आवास स्थान' का रूप ग्रहण करते हुए अपने वर्तमान रूप में आया है। 'आश्रम व्यवस्था' और आज के 'आश्रमों' में बहुत बड़ा अन्तर है फिर भी प्राचीन आश्रम व्यवस्था में ही इनका मूल समझ पड़ता है।

आश्रम व्यवस्था की ऐतिहासिकता—कुछ विद्वानों की धारणा है कि आश्रम व्यवस्था का प्रारम्भ वैदिककाल में ही हो गया था किन्तु वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में 'आश्रम' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। आश्रम का प्राचीनतम संकेत सम्भवतः 'ऐतरेय ब्राह्मण' में माना जाता है किन्तु पी० बी० काणे का विचार है कि आश्रमों के आधार पूर्ववैदिककाल में ही वर्तमान थे।[२] किन्तु उत्तर वैदिककाल में आश्रम व्यवस्था को निश्चित स्वरूप प्राप्त हो गया था। जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ एवं संन्यास, तीन आश्रमों का सृजन हुआ था। उस समय 'वानप्रस्थ' तथा संन्यास एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते थे। छांदोग्य उपनिषद में ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ और वानप्रस्थ तीन आश्रमों का वर्णन है, मनुस्मृति में इन तीन आश्रमों का वर्णन करके 'ग्रहस्थ' आश्रम को इन सबका आधार बताया गया है जिससे सिद्ध होता है कि उस समय चारो आश्रमों की कल्पना की जा चुकी थी।[३] आश्रम व्यवस्था का सुव्यवस्थित रूप 'जाबालि उपनिषद्' में है।

जीवन के चार सोपानों का बोध कराने वाले 'आश्रम' जो पहले जीवन

---

३. पी० डी० सेन, 'आश्रम' इनसाइक्लोपीडिया रेलीजस एण्ड एथिकल, एडिटेड बाई जेम्स हेस्टिंग्स, (एडिनबर्ग : टी० एण्ड टी० क्लार्क ३८ जार्ज स्ट्रीट), वाल्यूम २, पृ० १२८।

२. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग २, (पूर्वोक्त), पृ० ४५०।

३. जे० एन० फारखर, दि क्राउन आफ हिन्दुइज्म, (लन्दन : यूनिवर्सिटी प्रेस, मिलफोर्ड, १९१९), पृ० २१९।

व्यवस्था के परिपोषक थे वही धीरे-धीरे केवल संन्यासियों के आश्रम स्थल का रूप ग्रहण कर लिये। उत्तरवैदिककाल में लोग इन आश्रमों में तपस्या करने के लिए निवास करते थे। ये आश्रम प्रायः घने जंगलों में ऐसे स्थान पर स्थापित थे जहाँ फल-फूल तथा जल आसानी से सुलभ हो जाते थे। यही कारण है कि इन आश्रमों की स्थापना नदी के तट पर या ऐसे स्थल पर होती थी जहाँ जल के कोई सोते आदि हों। कहा जाता है कि वास्तविक संन्यास का विकास 'आश्रम' जैसे संगठनों से ही हुआ है। संन्यासधर्म का वास्तविक प्रतिविम्ब आश्रमों में ही दिखाई पड़ता है।[1]

ऋषियों, महर्षियों के आवास के ये आरम्भिक स्थल अपनी अलग-अलग परम्पराएँ रखते थे। इन आश्रमों में रहकर लोग संयमित ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करते थे। इन्हीं आश्रमों से प्रेरित होकर बौद्ध भिक्षुकों के आवास स्थलों का निर्माण हुआ होगा जिन्हें 'आवास' अथवा 'विहार' की संज्ञा दी गई। आगे चलकर नवीं शताब्दी तक साधु-संन्यासियों के एक व्यवस्थित संगठन के रूप में आश्रमों का पुनरुत्थान हुआ। डा० जी० एस० घूरिए का विचार है कि बुद्ध साहित्य से इस बात का संकेत मिलता है कि बौद्ध भिक्षुकों से प्रभावित होकर ब्राह्मण संन्यासियों ने अपने संन्यास-धर्म तथा अपनी तपश्चर्या को सुव्यवस्थित किया तथा उसे 'कानवेन्चुअल' स्वरूप प्रदान किया।[2] इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध एवं जैन भिक्षुओं ने अपनी नियम-व्यवस्था प्रायः ब्राह्मण संन्यासियों के आधार पर की थी। याकोबी का कथन है कि बौद्ध और जैन भिक्षुओं के लिए जो नियम प्रस्तुत किये गये हैं वे भी गौतम और बौधायन के धर्मसूत्रों में प्राप्त नियमों से पर्याप्त समानता रखते हैं। उसका यह भी कहना था कि निवृत्ति का आदर्श ब्राह्मण धर्म में पहले उत्पन्न हुआ था जो ब्राह्मणों के चतुर्थ आश्रम के रूप में था। बाद में बौद्धों और जैनों ने इसी का अनुकरण किया। किन्तु इतना निश्चित है कि पूर्व प्रचलित आश्रमों से प्रेरणा ग्रहणकर जब बौद्धों ने अपने 'विहारों' की स्थापना कर ली और ब्राह्मण संन्यासियों के नियमों को अपने ढंग से व्यवस्थित कर लिया तब बौद्धधर्म के प्रभाव का उन्मूलन करने की दृष्टि से संन्यासियों ने अपने आश्रमों को एक सामूहिक संगठन का स्वरूप प्रदान कर उन्हें सुव्यवस्थित एवं पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया और इस प्रकार 'आश्रमों' का विकास हुआ।

मुस्लिम शासकों के अत्याचार के कारण भी हिन्दू संन्यासियों को एक सामूहिक संगठन स्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। आगे चलकर

१. जे० एन० फारखर, दी क्राउन आफ हिन्दुइज्म, (लन्दन : आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस मिलफोर्ड, १९१९), पृ० २१९।

२. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० ४४।

चौदहवीं शताब्दी में उन्हें कबीर और नानक का भी सहारा मिला। गुरूनानक ने जिस संगठन को जन्म दिया वह बाद में चलकर सिख-धर्म के रूप में व्यवस्थित हुआ।

इस आश्रम व्यवस्था में वास्तविक जीवन का संचार रामकृष्ण मिशन द्वारा किया गया। उन्होंने आश्रमों को एक जीवन्त एवं गत्यात्मक संगठन का स्वरूप प्रदान किया। यह कहना अनुचित न होगा कि रामकृष्ण मिशन ने इन आश्रमों को पुनरुज्जीवित ही नहीं किया वरन् उन्हें पुनः नयी शक्ति, नये विश्वास और नयी आस्था से परिपूर्ण कर एक नया स्वरूप प्रदान किया[1]।

इन आश्रमों की व्यवस्था संस्कृत वाङ्मय और धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन-केन्द्र के रूप में की गयी थी। वस्तुतः इन आश्रमों की स्थापना सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से प्रतिभासम्पन्न आचार्यों का एक ऐसा सशक्त मोर्चा तैयार करने के लिए हुआ था जो विदेशी मिशनरियों के धार्मिक प्रचार-प्रसार का खण्डन करके ईसाई धर्म के प्रति विरोध करें तथा ईसाई धर्म की ओर भागते हुए भारतीय समाज को रोक-कर सही दिशा प्रदान करें। यही कारण है कि उस समय 'अस्त्रधारी' (नागा संन्या-सियों) और 'शास्त्रधारी' (शास्त्रों का ज्ञान रखने वाले) संन्यासियों का आह्वान हिन्दू धर्म की सुरक्षा के लिए किया गया। इस प्रकार इस स्थिति ने आश्रमों के संगठन एवं विकास के लिए एक महत्वपूर्ण योगदान दिया[2]। इन प्रतिभा सम्पन्न संन्यासियों ने विदेशी धर्म की संकीर्ण धारणाओं पर करारा प्रहार किया और हिन्दू धर्म की सार्वभौम विशेषताओं को प्रकाशित करते हुए उसके महत्व का समुचित विवेचन किया।

महंत और मण्डलेश्वर

'महन्त' शब्द की निष्पत्ति दो अर्थों में हुई है—एक यह कि महन्त शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्दरूप 'महन्तः' से हुई है जिसका अर्थ 'महान' होता है। संस्कृत में बड़े या आदरणीय जनों के लिए प्रायः बहुबचन शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार महन्त शब्द का अर्थ 'महान् आत्मा' होता है। इसका दूसरा अर्थ 'मोहन्त' से निकाला जा सकता है अर्थात् जिसके 'मोह' का 'अन्त' हो गया है, जो सांसारिक आकर्षणों से दूर हो चुका है। संन्यासी समाज के इतिहास में 'महन्त' का पद 'महामण्डलेश्वर' से बाद का है। 'महन्त' शब्द का प्रचलन संभवतः उस समय से

---

१. एच० डी० भट्टाचार्य, कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, पार्ट २, (पूर्वोक्त), पृ० ५९३।

२. यदुनाथ सरकार, ए हिस्ट्री आफ दसनामी नागा संन्यासी, (पूर्वोक्त), पृ० ९१-९२।

हुआ जब दसनामी संन्यासियों द्वारा 'मठों' की स्थापना की गयी। कतिपय विद्वानों का विचार है कि 'महन्त' शब्द का इस अर्थ में प्रचलन १५९० ई० से 'बोध गया मठ' के प्रथम महन्थ घमण्ड गिरि के समय से हुआ। इस मठ के इतिहास से ज्ञात होता है कि दसनामी संन्यासियों ने अपने सम्प्रदाय के सदस्यों के लिए इस मठ का निर्माण किया था। यहाँ ज्ञातव्य है कि 'महन्त' और 'श्री महन्त' में अन्तर है। 'अखाड़ा' संगठन में ५२ मढ़ी आठ को 'श्री महन्त' चुने जाते हैं और 'मठों' के प्रधान को केवल 'महन्त' कहते हैं।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में जब अंग्रेजी शासन में ईसाई धर्म-प्रचार के कारण हिन्दू धर्म को आघात पहुँचने लगा और निम्न वर्गों के अनेक लोग ईसाई धर्म की ओर भागने लगे उस समय युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर दसनामी संन्यासियों को संगठित कर ऐसे विद्वान व्याख्याताओं को तैयार करने का निश्चय किया गया जो ईसाई धर्मावलम्बियों को मुँहतोड़ जवाब दे सकें तथा हिंदू धर्म पर हो रहे विधर्मियों के आक्रमण को रोक सकें। इसके लिए उन योग्य धार्मिक, साधु-चरित वाले, शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न विद्वानों को स्थान दिया गया जो प्राचीनकाल में परमहंस की संज्ञा से विभूषित किये जाते थे। अब लगभग १८०० ई० से वे 'मण्डलेश्वर' कहे जाने लगे[1]। इस प्रकार धर्म के विद्वान् उपदेशक एवं शास्त्रीय ज्ञान से विभूषित पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व वाले संन्यासियों के लिए अब मण्डलेश्वर की उपाधि का प्रयोग होने लगा है। मण्डलेश्वर के संबंध में डा० घूरिये का कथन है कि 'मण्डलेश्वर यदि गवर्नर के समान नहीं था तो भी वह एक कमिश्नर के समान अर्थ रखता था। वास्तविक अर्थों में नागाओं का मण्डलेश्वर उन ब्राह्मण ऋषि-महर्षियों के समान था जो स्वयं राज्य नहीं करते थे बल्कि राजा के सलाहकार के रूप में काम करते[2]। यह उपाधि धर्मोपदेशों के अर्थ में केवल दसनामियों में प्रचलित थी। जब किसी मठ का 'महन्त' इस प्रकार का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लेता था तो उसे मण्डलेश्वर की उपाधि दे दी जाती थी। उसके पद-संस्थापन उत्सव के रूप में उसे 'टीका' कर दिया जाता था और उसे कुछ निश्चित धनराशि 'नजराना' के रूप में दे दी जाती थी, साथ ही सम्बन्धित अखाड़ा या मठ के सदस्य सम्मान के रूप में उसे 'उत्तरीय' (चादर) भेंट करते थे[3]। जब किसी अखाड़े मे तीन या तीन से अधिक 'मण्डलेश्वर' हो जाते थे उस समय उनमें से सर्वश्रेष्ठ मण्डलेश्वर को अखाड़े के 'आचार्य' की पदवी दी जाती थी। उसकी तुलना मध्ययुगीन ईसाई धर्मो-

१. यदुनाथ सरकार, ए हिस्ट्री आफ दसनामी नागा संन्यासी, (पूर्वोक्त), पृ० ९२।
२. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० १२३।
३. यदुनाथ सरकार, ए हिस्ट्री आफ दसनामी संन्यासी, (पूर्वोक्त), पृ० ९२।

पदेशों के अध्यक्षों से की जा सकती है जो धार्मिक केन्द्रों या स्व-नियन्त्रित धार्मिक महाविद्यालयों के प्रमुख आचार्य के रूप में माने जाते थे[१]। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका पद आजकल के 'विभागाध्यक्षों' के समान था जो विद्यालयों में कार्यरत हैं। जहाँ दो या दो से अधिक प्राध्यापकों के बीच से एक को जो वरिष्ठ और योग्यतम् होता है, विभागाध्यक्ष नियुक्त कर दिया जाता है। हर अखाड़े में 'आचार्य' का कार्य कहामंडलेश्वर ही करता है।

बहुत से मण्डलेश्वरों ने अपने लिए अलग एवं स्वतन्त्र 'मठ' या 'आश्रमों' का भी निर्माण किया है। ये आश्रम अब भी सुरक्षित हैं तथा दसनामी संन्यासियों द्वारा उनका धार्मिक प्रचार-प्रसार कार्य बराबर चल रहा है। इसी प्रकार दसनामी संन्यासियों में एक पद महामण्डलेश्वर का भी प्रचलित है। महामण्डलेश्वर ईसाई चर्च के महापंडित 'बिशप' की भाँति होता है। इन महामण्डलेश्वरों ने हिन्दू धर्म दर्शन एवं भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए एवं लोगों के नैतिक उत्थान के लिए वाराणसी तथा इलाहाबाद में कई महाविद्यालयों की स्थापना की है[२]। संप्रति 'मण्डलेश्वर' और 'महामण्डलेश्वर' में कोई भेद नहीं है। दोनों का प्रयोग समान अर्थ में किया जाता है।

मठ और आश्रम

'आश्रम' तथा 'मठों' की कार्यप्रणाली में पर्याप्त अन्तर है। मठ प्रायः साधुओं की कुटी के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनके पास चल और अचल सम्पत्ति होती है। इसके विपरीत आश्रमों के पास कोई भूमि, सम्पत्ति नहीं होती। ये आश्रम के अध्यक्ष को उनके अनुयायितों से प्राप्त दान या अनुदान के आधार पर चलते हैं। कभी-कभी इनके द्वारा कुछ कार्यक्रमों के माध्यम से चन्दा-संग्रह अभियान भी चलाये जाते हैं। अधिकांशतः इन आश्रमों की स्थापना 'परमहंस' संन्यासियों ने अपने विशुद्ध आचरण और वैयक्तिक पाण्डित्य तथा प्रतिभा के बल पर की है।

—●—

---

१. यदुनाथ सरकार, ए हिस्ट्री आफ दसनामी नागा संन्यासी, (पूर्वोक्त) पृ० ९३।
२. वही, पृ० ९२-९३।

3

हिन्दू-धर्मेतर मठीय परम्परा

'मठवाद' : व्युत्पत्ति और परिभाषा

'मठवादी' जीवन दृष्टि को अभिव्यक्त करने के लिए अंग्रेजी में 'मोनास्टीसिज्म' शब्द का प्रयोग होता है। 'मोनास्टीसिज्म' शब्द की निष्पत्ति ग्रीक शब्द 'ओवस' से मानी गयी है जिसका अर्थ है—'एकाकी'। इसी के आधार पर 'माक' या 'मोनास्टरी' शब्द बना जिससे एकाकी जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति या संगठन का बोध होता है। बाद में इसी शब्द से 'नन', 'मोनास्टिक', 'मोनास्टिसिज्म', 'मोनास्टिकली', 'मोनासिज्म' आदि शब्द व्यवहार में आये। अमरकोश में 'मठ' शब्द के संबन्ध में जैसा कि देखा जा चुका है—'मठ: छात्रादि निलयः' अथवा 'मठत्यत्र मठ घञ् अर्थे क'—कहा गया है पर मठीय जीवन-पद्धति को अभिव्यक्त करने वाली विचारधारा के रूप में 'मठवाद' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। वस्तुतः मठों का संगठन साधु-सन्यासियों को संगठित, व्यवस्थित एवं सुनियोजित करने के लिए किया गया था। वही 'मठ-शब्द जो 'संन्यासी की कोठरी', 'साधक की कुटिया', 'विहार', 'शिक्षालय', 'देवालय' आदि के लिए व्यवहृत होता था, आगे चलकर समाज से अलग रहकर विरक्त जीवन व्यतीत करने वाले उन साधु-संन्यासियों के 'आवासस्थल' के रूप में प्रयुक्त होने लगा जो 'मठाधिपति' या 'महंत' के अनुशासन में रहकर सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित विचारों के प्रचार-प्रसार का कार्य करते हैं। इस प्रकार समाज से पृथक् जीवन व्यतीत करने वाले लोगों ने भी अपना एक संगठन तैयार किया और इस संगठन को नियोजित करने के लिए 'मठ' जैसी संस्था को जन्म दिया। यहीं से मठीय जीवन पद्धति या 'मठवाद' का जन्म हुआ। इस प्रकार 'मठ' समाज से पृथक् एकांत जीवन में विश्वास रखता है। एकांत जीवन की इसी मूल भावना को विदेशियों ने 'मठवाद' या 'साधु-सम्प्रदायवाद' के मूल के रूप में स्वीकार किया है। इसके अन्तर्गत ऐसे मठवासी साधुओं को मान्यता प्राप्त है जो शान्तिपूर्वक, समाज से दूर एकांत वातावरण में ईश्वर के प्रति भक्तिभाव से समर्पित होकर या ध्यानमनन के उद्देश्य से चिंतन एवं साधना में रत रहते हैं।[१] मठीय जीवन या 'मठवाद' का तात्पर्य है—'पारिवारिक बंधनों,

---

१. डब्ल्यू० ओ० चाडविक, 'मोनास्टीसिज्म' इण्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, वाल्यूम १०, एडिटेड बाई डेविड एल० सिल्स (मैकमिलन कम्पनी एण्ड फ्री प्रेस, १९६८), पृ० ४१५१।

लैंगिक सुखों तथा सामान्य जीवन के दैनन्दिन कार्यों का परित्याग करके ईश्वर की साधना में लीन होना'।[१] इस प्रकार मठीय जीवन-पद्धति या मठवाद की समस्त विशेषताओं को स्पष्ट रूप से एक साथ परिभाषित किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि 'मठवाद' साधुओं के लिए वह व्यवस्था या वह जीवनदर्शन है जिसके अनुसार शान्तिपूर्ण वातावरण में रहते हुए सब कुछ त्याग कर संन्यासी सामूहिक साधना के लिए एक स्थान पर रहते हैं और सम्प्रदाय विशेष के विचारों का प्रचार-प्रसार करते हैं। 'मठवाद' ने ही विरक्त जीवन व्यतीत करने वाले वैरागियों, संन्यासियों एवं साधुओं के लिए सामूहिक जीवनयापन का दर्शन प्रस्तुत किया है।

मठों की सामाजिक संगठनशीलता

कोई भी जीवन दर्शन वैयक्तिक आधार लेकर ही उत्पन्न होता है। वह एक व्यक्ति की अपनी विचारधारा के रूप में जन्म लेकर धीरे-धीरे वैयक्तिक आधार पर ही दूसरों को प्रभावित करता है। एक से अनेक में संक्रमित होने के बाद उस विचारधारा से सम्बन्धित लोगों का एक समूह बन जाता है। जब एक विचारधारा से सम्बद्ध सभी लोग अपने समूह के लिए कुछ नियमों और व्यवस्थाओं को जन्म देकर उसके अनुसार आचरण करने लगते हैं तब उसे संगठन विशेष की संज्ञा प्रदान कर दी जाती है। वस्तुतः व्यक्ति के ऊपर समाज की इतनी गहरी छाप होती है कि वह समाज से दूर रहते हुए भी बहुत समय तक सामूहिकता का परित्याग नहीं कर पाता। वह धीरे-धीरे अपने समान विचार वालों का एक अलग का समाज बना लेना चाहता है। साधु-संन्यासियों के एकांतप्रिय, वैराग्यपूर्ण वैयक्तिक जीवन में भी सामूहिक जीवनयापन करने तथा 'मठ' जैसी संस्था को जन्म देने का विचार इसी प्रकार की स्वाभाविक प्रवृत्ति का द्योतक है। जी० एस० घूरिए का कथन है कि 'जब एक से अधिक साधक एक ही साथ रहकर एक ही उद्देश्य से ईश्वर की साधना करने लगते हैं तब ईश्वर भक्ति की वैयक्तिक साधना में अन्तर आने लगता है। इस अन्तर का कारण यह है कि संसार से पृथक रहने की नीति साधकों के साथ सामूहिक रूप में रहने पर स्वयं ही बाधित हो जाती है।[२] जब कई विरक्त व्यक्ति एक साथ एक दूसरे के निकट आते हैं और सामाजिक अन्तःक्रिया करते हैं

---

१. आर० माइकेल डेविड नाल्स 'मोनास्टि'सिज्म (क्रियानिस्टी, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वाल्यूम १५), शिकागो: विलियम बेन्टन पब्लिसर, पृ० ६९०–९१।

२. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० १।

तब एकाकी जीवन की स्थिति बदलने लगती है और उनकी सामाजिकता एक नये प्रकार के सामूहिक जीवन को विकसित करती है जो मठीय जीवन या 'मठवाद' के रूप में परिणत होने लगता है। अन्ततः एक ऐसी स्थिति सामने आती है कि मठ में सुव्यवस्थित ढंग से रहने के लिए मठ के नियम बनाये जाने लगते हैं। कालान्तर में इसका परिणाम यह होता है कि मठीय जीवन एक सामाजिक संगठन का रूप ग्रहण कर लेता है और यहीं से सांसारिक जीवन के पूर्ण त्याग एवं व्यक्तिगत साधना सम्बन्धी संन्यासियों के जीवन दर्शन को आंशिक पराजय सी मिलने लगती है।[१] इससे संन्यासियों की उस आदर्श भावना को ठेस पहुँचती है जिसके अनुसार उन्होंने लौकिक जीवन का परित्याग कर वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने एवं वैयक्तिक साधना करने का निर्णय लिया था। इस प्रकार मठीय जीवन में व्यक्ति की एकान्तिक साधना, सामूहिकता का आधार ग्रहण कर लेती है।

'संन्यासवाद' और 'मठवाद' में यद्यपि बहुत अन्तर आ जाता है फिर भी दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। दोनों का लक्ष्य एक ही है किन्तु साधना के पथ में अंतर है। दोनों संसार का त्याग कर, इन्द्रिय सुखों से अलग रहकर एकांतिक साधना करना चाहते हैं। किंतु 'संन्यासवाद' जहाँ व्यक्तिगत साधना लेकर चला था वहाँ 'मठवाद' उस वैयक्तिक साधना को सामूहिकता का रूप दे देता है। 'संन्यास' केवल व्यक्ति का सूचक था किंतु मठीय जीवन धारण कर उसने सामाजिक सङ्गठन के एक सदस्य का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार 'मठवाद' ने संन्यासी के वैयक्तिक जीवन में सामूहिक जीवन का आदर्श उपस्थित कर दिया और 'मठ-सङ्गठन' सामान्य सामाजिक सङ्गठन का एक महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट सङ्गठन बन गया। 'संन्यासवाद' जब 'मठवाद' के रूप में विकसित होता है तब सामाजिक संरचना की दृष्टि से वह एक विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न कर देता है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों को नकारने वाले ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन का परित्याग करने वाले और वैयक्तिक इच्छाओं का दमन करने वाले लोग भी

---

१. Asceticism as an individual practice gets modified to same extent when it brings togather more individuals than one. Two or three ascetics living together or moving togather demonstrate that the ascetic ideal of complete withdrawl is already partially defected'.

—G. S. Ghurye, Indian Sadhus, (op. cit.), p. 1.

सामाजिकता के बंधन में बँध जाते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि मठों में निवास करने के कारण त्यागमय व्यक्तिगत जीवन वाले लोग भी सामूहिक जीवन जीने लगते हैं। उनका संन्यासीरूप जो उन्हें सामाजिक जीवन से पृथक् रहने की प्रेरणा देता है वही उन्हें समाज से दूर रहने पर भी अपना एक पृथक् समाज, अपना एक पृथक् सङ्गठन बनाने के लिए विवश कर देता है। यहाँ उसके सामाजिक संस्कार उसे अपरोक्षरूप में प्रभावित करते हैं और वे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक धार्मिक समुदाय बना लेते हैं, वही समुदाय मठ की संज्ञा प्राप्त करते हैं।[२] स्पष्ट है कि व्यक्तिगत जीवन से सामूहिक जीवन की ओर बढ़ना मानव की एक सामान्य प्रवृत्ति है। संन्यासी भी उस प्रवृत्ति से अलग नहीं रह पाते।

विभिन्न धर्मों में मठीय जीवन की परम्परा

'संन्यासवाद' और 'मठवाद' प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विशिष्ट प्रदेय हैं। 'संन्यासवाद' ने जहाँ वैयक्तिक तप-साधना एवं वैराग्यपूर्ण जीवन को महत्व दिया वहाँ 'मठवाद' ने संन्यासियों की वैयक्तिक साधना को सामूहिक एवं सामाजिक आधार प्रदान किया है। 'संन्यासवाद' में व्यक्ति ने निवृत्तिपरक धार्मिक साधना द्वारा वैयक्तिक उत्थान या जीवन-मरण से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास किया था। संन्यास धर्म की यह प्रक्रिया वैदिक सभ्यता को आद्योपांत प्रभावित करती रही है। कालान्तर में जब जैन और बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ तब 'संन्यासवाद' की एकांतिक जीवन-साधना ने धीरे से सामूहिक आधार ग्रहण कर 'मठवादी' सङ्गठन को जन्म दे दिया। वस्तुतः 'संन्यासवाद' में साधक की एकांत साधना उसके वैयक्तिक उत्थान और मोक्ष तक सीमित थी किंतु 'मठवाद' ने वैयक्तिक साधना को सामाजिक हित में नियोजित कर दिया। इस प्रकार ट्रस्टीशिप का आधुनिक सिद्धांत मूलरूप में मठवाद में परिलक्षित होता है।

श्रमण परम्परा के अन्तर्गत देखा जा चुका है कि तैत्तरीय आरण्यक में श्रमणों को 'वातरशनाः' कहा गया है। ऋक्संहिता के केशिसूक्त में भी मुनियों का

1. 'Thus asceticism leading in its growth to monastic life creates the paradoxical phenomenon of social organization for those who not only negatived but also renounced social connections and individual wants'.-G. S. Ghurye, INDIAN SADHUS, (op. cit.) p. 3

२. जे० सी० ओमन, कल्ट्स कस्टम एण्ड सुपरिस्टिशन्स आफ इण्डिया, (लन्दन, टी० फिशर आनविन, १९०३), पृ० ११।

वर्णन उपलब्ध है। उपनिषदों में भी 'श्रमण' शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट हो चुका है कि वैदिककाल में मुनि-श्रमण ब्राह्मण-प्रधान वैदिक समाज से अलग रहते हुए निवृत्तिपरक साधना में रत थे। ये ब्राह्मण और श्रमण परस्परविरोधी भी थे। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में यूनानियों ने उनके विभेद का उल्लेख किया है।[1] मुनि-श्रमणों की चर्चा जैन और बौद्ध साहित्य में बहुत हुई है। वस्तुतः छठीं शताब्दी का युग एक विशाल धार्मिक आंदोलन का युग था। उस युग की राजनीति पर वर्द्धमान महावीर तथा गौतम बुद्ध जैसे धार्मिक नेताओं का पर्याप्त प्रभाव था।

जैन और बौद्ध धर्म ने वैदिककाल से चली आ रही 'संन्यास परम्परा' को अपने मौलिक ढङ्ग से ग्राह्य करने का प्रयास किया था। इन दोनों धर्मों ने वैदिक परम्परा से चले आ रहे, परिव्राजक समुदाय के आधार पर अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए जैन एवं बौद्ध साधुओं को सुसङ्गठित, सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया। इस प्रकार साधु-संन्यासी जो वैयक्तिक आधार पर निवृत्ति-परक वैराग्य साधन में रत थे उन्हें एक सामाजिक सङ्गठन के रूप में व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया। परिणामतः 'संन्यास' एवं 'तपवाद' की वैयक्तिक साधना ने 'मठवाद' का रूप ग्रहण कर लिया और वैयक्तिक सङ्गठन को सामाजिक सङ्गठन का आधार मिल गया। जैन और बौद्ध धर्मों ने साधु-सङ्गठन को व्यवस्थित कर उनके लिए चैत्य-विहारों या मठों की स्थापनाएँ कीं।

जैन मठ

जैन धर्म के आदिप्रवर्त्तक ऋषभ थे। पहले समझा जाता था कि इस धर्म के प्रवर्त्तक महावीर स्वामी हैं किंतु बाद में यह मालूम हुआ कि महावीर तीर्थंकरों की परम्परा में चौबीसवीं कड़ी थे। जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। जैकोबी ने उन्हीं को जैन धर्म का संस्थापक माना है।[2] ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के पश्चात् वे संन्यासी बन गये थे। उन्होंने ८३ दिन तक समाधि लगाकर मुक्ति प्राप्त की थी। उनका परमज्ञान 'कैवल्य' के नाम से विख्यात है। उनके पास आठ गण और आठ गांधार थे। गणों और गांधारों के आधार पर उन्होंने अपने १६००० श्रमणों को सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया था। ३८,००० भिक्षुणियों ने उनके धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। उनके समस्त अनुयायियों की संख्या लगभग पाँच लाख थी।[3]

---

१. गोविंदचंद पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० ५।
२. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, (नई दिल्ली, यस० चन्द एण्ड कम्पनी, १९७३), पृ० १४४ पर उद्धृत।
३. बी० डी० महाजन, (पूर्वोक्त), पृ० २२४।

महावीर स्वामी ने जैन धर्म के प्रसार के लिए जैन साधुओं को संगठित करने का प्रयास किया और मठीय जीवन को मान्यता प्रदान की। "मौलिक दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि बौद्ध और जैन धर्म स्वतन्त्र आन्दोलन के रूप में उत्पन्न नहीं हुए बल्कि ब्राह्मण धर्म या वैदिकधर्म रूपी एतद्देशीय संस्कृति की शाखाओं के रूप में ही इनका उदय हुआ था।[1] उन्होंने पूर्ववर्ती धर्म की कुछ बातों का चयन कर उन्हें अपने दृष्टिकोण का आधार बनाया। दोनों का संगठन भिक्षु-संघ के रूप में हुआ; अतएव पहले से चले आते हुए जो बहुसंख्यक परिव्राजक सम्प्रदाय थे, उनमें ही ये दो और बढ़ गये, यद्यपि ये उन सब में अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए।[2] जैन और बौद्धों का महत्व इस बात में है कि उन्होंने साधुओं को न केवल संगठित किया वरन् उनको व्यवस्थित कर सामुदायिक संगठन का रूप प्रदान किया और मठों की स्थापना कर उनके लिए विविध नियमावलियों की रचना की।

ब्राह्मण धर्म की समाज व्यवस्था में लगभग आधे से अधिक लोग संसार से विरत होकर सत्य की जिज्ञासा में ज्ञानियों के पथ-प्रदर्शन में भिक्षु या तपस्वी का जीवन विधिवत व्यतीत करते थे। उस समय भी अनिकेत विचरने वाला यह समुदाय विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में संगठित था जो अपने-अपने आचार्यों के द्वारा अनुशिष्ट मत और तप के विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते थे। पाणिनि के व्याकरण में भिक्षु सूत्रों का उल्लेख आता है। उन्होंने 'कार्मन्दिनः' और 'पाराशरिणः' इन दो प्रकार के भिक्षुओं का भी उल्लेख किया है। सम्भवतः इनमें पाराशरी सम्प्रदाय विशेष महत्वपूर्ण था। महात्मा बुद्ध ने भी पाराशरी नामक एक आचार्य के मत का विवेचन किया था (मज्झिम, ३।२९८) गौतम और बौधायन के प्राचीनतम धर्म सूत्रों में भी 'विखनस' कहे हुए सूत्र ग्रन्थ का उल्लेख आता है। 'वैखानसशास्त्र' का नाम श्रामणक भी था। बौद्ध और जैन साधुओं के अनेक नियम पूर्व निर्दिष्ट सन्यासी-नियमों पर ही आधृत हैं। गौतम ने आदेश दिया था कि वर्षा ऋतु में भिक्षु एक स्थान पर रहें (ध्रुवशीलो वर्षासु)। उन्होंने यह भी कहा कि भिक्षु व्यवहार्य वस्तुओं का संचय न करें, प्राणि हिंसा तथा बीज हिंसा भी न करें। भिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने जिन नियमों का उल्लेख किया है उन सब पर ब्राह्मण सन्यासियों का प्रभाव स्पष्टतः दिखायी पड़ता है। जैन और बौद्ध विनय के नियमों पर भलीभांति विचार करके जैकाबी ने सिद्ध किया है कि इन दोनों के आधार

---

१. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सिविलाइजेशन, (अनु०) वासुदेवशरण अग्रवाल: हिन्दू सभ्यता, (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, १९६५), पृ० २२४।
२. वहीं, पृ० २२४।

ब्राह्मण-भिक्षुओं के आचार सम्बन्धी नियम थे। (प्राचीन पुस्तक माला भूमिका, पृ० २२–३०)।[१]

इसमें सन्देह नहीं कि भिक्षु संबंधी नियमों को जैन एवं बौद्ध धर्म प्रवर्तकों ने पूर्व प्राप्त परंपरा से ग्रहण किया था। किन्तु भिक्षुओं को सामुदायिक स्वरूप देकर उनके लिए चैत्यों, विहारों या मठों का निर्माण करने की परंपरा का शुभारंभ जैन एवं बौद्धों से ही हुआ। बाद में जैन एवं बौद्धों के आधार पर ही आचार्य शंकर ने वैदिक धर्म को सुव्यवस्थित करने के लिए इन्हीं मठों का आदर्श ग्रहण किया।

जैन धर्म हिन्दू और बौद्ध धर्म के मध्य की स्थिति का सूचक है। संगठनात्मक दृष्टि से यह धर्म पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित है। कुछ लोगों ने जैन धर्म को ब्राह्मण धर्म की पुत्री के समान कहा था, हालांकि वह पुत्री विद्रोहिणी थी। हिन्दू धर्म के बहुत से प्रचलित विश्वास आज जैनियों में विद्यमान हैं। उनके घरों में पुरोहित और कुल गुरु आज भी ब्राह्मण हैं किन्तु ब्राह्मणों को उनके मन्दिरों में कोई स्थान नही है।[२]

जैन मठ ब्राह्मण साधुओं के आदर्शों पर ही अधिकांशतः आधृत हैं। महाबीर स्वामी के लगभग १४-१५ हजार साधु शिष्य थे। इनकी दूनी संख्या में भिक्षुणियाँ भी थीं। महावीर स्वामी के ग्यारह मुख्य शिष्य या 'गणधर' थे। सम्पूर्ण जैन समुदाय उनके गणधरों द्वारा संचालित मठीय संस्थाओं में विभक्त था। जैन लेखकों ने आगे चलकर इन 'गणधरो' की तुलना ईसा के १२ दूतों से की है। जैकोबी का कथन है कि 'गण का अर्थ है गुरु से प्राप्त मत, कुल का अर्थ है एक शाखा में गुरुओं का आगमन, और शाखा का अर्थ है एक गुरु से निकलने वाली भिन्न-भिन्न शाखाएँ।[३] कल्पसूत्र के अनुसार गणधर इस प्रकार थे—आनन्द, कामदेव, सुरदेव, कुण्डकोलीय, महासायग, सद्दलपुत, चुल्लसायग, आर्य सुधर्मन आदि। ग्यारह गुणधरों में से दस का स्वर्गवास महावीर के जीवनकाल में ही हो चुका था, केवल सुधर्मन ही जीवित रहा। महावीर के पश्चात् वही गद्दी पर बैठा और जैन मठों एवं मन्दिरों का प्रधान बना।[४]

जैनियों ने भी बौद्धों की तरह भिक्षु-विहारों, मठों और गुफाओं का निर्माण कराया था। जिनमें भिक्षु रहा करते थे। उदयगिरि में सिंह गुफा, एलोरा में

१. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सिविलाईजेशन, (हिन्दी अनु०) वासुदेवशरण अग्रवाल, (पूर्वोक्त), पृ० २२६।
२. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास (पूर्वोक्त), पृ० १४९।
३. वही, पृ० १४८।
४. वही, पृ० १४८।

इन्द्रसभा, लक्कुण्डी, पुलितान, आबू पर्वत, गिरनार, पार्श्वनाथ की पहाड़ी के भग्नावशेष, जोधपुर, रणपुर, खजुराहों, चित्तौड़ आदि में ऐसे मठ मिलते हैं। दक्षिण भारत में भी जैनियों के अनेक सुन्दर मठ और श्रवणवेलगोल, मुदाबिद्री तथा गुरुवायंकेरी में आज भी हैं। जैनियों के अनेक मठों एवं मन्दिरों को मुगलकाल में तोड़कर उन पर मस्जिदों का निर्माण करा दिया गया। अजमेर में ढाई दिन का झोपड़ा, दिल्ली के निकट कुतुबमीनार, कन्नौज, धार तथा अन्य स्थानों में बने मुस्लिम सम्प्रदाय के भवन इसके उदाहरण हैं।[1]

महावीर ने जैन साधुओं की व्यवस्था में कार्य और व्यवहार की दृष्टि से चार श्रेणियों का निर्धारण किया था। इनमें साधु (भिक्षु या यती) भिक्षुणी, श्रावक और श्राविका हैं।

हिन्दू और बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्मावलंबी जीवपीड़न से बचने को अधिक महत्त्व देते थे। जैन साधुओं की प्रतिज्ञा प्रायः हिंदू संन्यासियों के समान ही है। अपरिग्रह (इच्छा त्याग) अर्थात् सम्पूर्ण वीतराग स्थिति पर वे अधिक बल देते थे। श्वेतांबरों में सन्ध्या होने के बाद भोजन करने का निषेध था। दिगंबर जैन नारियों को मोक्ष प्राप्ति के योग्य नहीं मानते थे।

जैन मठों में संन्यासियों के लिए विविध नियम

मठ संगठन में जैनियों ने भी हिंदू धर्म की ही भाँति संन्यासियों के आचार पर विशेष बल दिया है। पवित्रता, वस्त्र, आवास, भोजन, भिक्षाटन आदि सम्बन्धी अनेक नियमों का निर्धारण जैन साधुओं के लिए किया गया था। हिंदू धर्म की भाँति ही मानसिक पवित्रता पर बल देते हुए मठवासी साधुओं को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है।

दीक्षा प्राप्त करने के बाद जैन संन्यासियों को शारीरिक शुचिता के लिए दातौन, स्नान आदि करना आवश्यक नहीं था। वे अपने शरीर का ध्यान नहीं रखते थे। उनकी धारणा थी कि शरीर को नंगा रखकर उसे काँटा, कुश, जाड़ा, गर्मी, वर्षा और दंशक प्राणियों से उत्पन्न कष्ट को सहन करने का अभ्यस्त बनाया जा सकता है। महावीर स्वामी स्वयं नंगे भ्रमण किया करते थे। लोग उनकी हँसी उड़ाते थे, पर उन्हें इसकी परवाह नहीं थी। भिक्षु को एक वस्त्र और भिक्षुणी को चार वस्त्र धारण करने का विधान था। वे किसी विशेष प्रकार के वेश को नहीं

---

१. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० १४९।

धारण करते थे। उनको उन्हीं वस्त्रों का उपयोग करने के लिए कहा गया था जो दूसरों द्वारा दिये गये हों।

जैन धर्म अहिंसा और काय-क्लेश पर बल देने के लिए अधिक प्रसिद्ध है। अतिशय अहिंसा का विचित्र फल यह हुआ कि व्यावहारिक जीवन में इनमें मनुष्य जीवन के प्रति उतनी रक्षा का भाव नहीं देखा जाता जितनी पशु, जीवाणु और वनस्पति एवं वीजों के लिए।[1] जैन धर्म में 'स्व' की अस्वीकृति और 'स्व' का मारण अपने अतिवाद के रूप में स्वीकृत है। यहाँ कुछ लोग वस्त्र धारण को पूरी तरह स्वीकार करते हैं, कुछ लोग अस्वीकार करते हैं। इनके नियमों की कठोरता आज २०वीं शदी में भी वैसे ही प्रचलित है। इनमें दीक्षित संन्यासियों को एक वर्ष के परीक्षणकाल पर साधना के प्रारम्भ की मान्यता दी जाती है। ज्येष्ठता अथवा स्वीकृत योग्यता के आधार पर नियुक्त आचार्यों को शिष्यों की जीवन-पद्धति निर्धारित करने का अधिकार दिया जाता है।

इनके मठ-जीवन के नैत्यिक कर्म आज भी अपरिवर्तित हैं। इनका नैत्यिक कार्यक्रम प्रार्थनाओं से प्रारंभ होता है जो सामान्य ढंग पर नित्यप्रति घूम कर की जाती है। मठ के मण्डप कक्ष या मन्दिर में प्रार्थना और सेवा समर्पण के पश्चात् सामूहिक गान द्वारा इनके नैत्यिक कर्म की समाप्ति होती है। माह में दो बार पूर्णचन्द्र दर्शन के अवसर पर ये लोग उपवास, चित्त निरोध और प्रतिमोक्ष (पाप की स्वीकृति) के औपचारिक कथन की क्रिया करते हैं। जैनों के यहाँ कभी-कभी मठ या संघ जीवन को सूचित करने के लिए शोभायात्रा निकालने की व्यवस्था भी स्वीकृत होती है।[2]

जैनधर्म में संघ भेद

महावीर के जीवनकाल में संघ में कोई फूट नहीं पड़ी थी पर उनकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही विरोध उत्पन्न हो गया। जब आनन्द ने उनकी मृत्यु का हाल सुना, उसके मुख से निकला—"मित्र चुन्द, भगवान के सम्मुख चर्चा चलाने का यह अच्छा विषय है।" (डायलग्स; ३–२०३), यह भी लिखा है कि पावा में महावीर की मृत्यु के बाद "श्वेतवस्त्र धारण करने वाले श्रावक, जो नातपुत्त के अनुयायी थे, बड़े क्षुब्ध, उद्विग्न और निगण्ठों के प्रति आकृष्ट हुए" (शाह, जैनिज्म इन नादर्न

---

१. राधाकुमुद मुकर्जी, हिंदू सिविलाइजेशन, (हिन्दी अनु०) वासुदेवशरण अग्रवाल (पूर्वोक्त), पृ० २४६।

२. जे० सी० ओमन, कल्ट्स; कस्टम्स एण्ड सुपर्स्टीशन्स आफ इण्डिया, (पूर्वोक्त), पृ० २००।

इण्डिया, पृ० १०८)।[१] धीरे-धीरे जैनों में आन्तरिक फूट उत्पन्न हो गयी। इसका प्रभाव जैनधर्म के प्रसार पर भी पड़ा। पूर्व भारत में उनका जो प्रभाव था वह धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। आगे चलकर उज्जैन जैनधर्म का केन्द्र बन गया। इस समय उनका दूसरा केन्द्र मथुरा था। इन दो स्थानों पर तत्कालीन जैन संघ के अस्तित्व के अनेक आधार मिलते हैं। इस संघ में महावीर और उनके पूर्ववर्ती जिनों की मूर्तियाँ और चैत्यों की स्थापना. दान द्वारा की गयी थी। उनसे यह भी स्पष्ट होता है कि मथुरा का संघ स्पष्ट रूप से श्वेतांवर था और वह छोटे-छोटे गण, कुल और शाखाओं बँटे हुए थे। यहाँ प्राप्त एक लेख में आचार्य नाग नन्दी की प्रेरणा से जैन उपसिका विकटा द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। स्थविरावली के अनुसार इस गण की स्थापना स्थविर सुस्थित ने की थी जो महावीर के ३१३ वर्ष बाद अर्थात् १५४ ई० पू० में गत हुए। मथुरा के कुछ लेखों से स्पष्ट है कि ये श्वेतांवरों के ही संघ थे क्योंकि इनमें भिक्षुणियों का उल्लेख है। श्वेतांबर भिक्षुणियों को संघ में प्रवेश का अधिकार देते हैं।[२]

वस्तुतः मठीय जीवन का शुभारंभ जैन धर्म से ही माना जा सकता है। जैन धर्मावलंबियों ने भिक्षु-गृहों का निर्माण करना आरंभ कर दिया था और उन्होंने अनुभव किया था कि जैन साधुओं को मठों, चैत्यों तथा संवों में व्यवस्थित करके ही जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। किन्तु इन मठों को सुदृढ़ आधार आगे चलकर बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ही प्राप्त हो सका। इनके पूर्व वैदिक धर्म में 'आश्रम' की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। आश्रमों में आचार्यगणों के संरक्षण में अनेक नैष्ठिक ब्रह्मचारी निवास करते थे। उनके यहाँ ऐसे विद्वानों की भी एक विशाल संख्या थी जो धर्मोपदेश एवं वैदिक चर्चायें किया करते थे। बौद्धधर्म के उदय के पूर्व जैन धर्म में मठीय जीवन ने एक स्वस्थ रूप ग्रहण कर लिया था।

जैन संन्यासियों एवं मठों की व्यवस्था के सम्बन्ध में अर्धमागधी से अनेक ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। इनकी नियम सम्बन्धी पुस्तकें ६ वर्गों में विभाजित हैं : १२ अंग, १२ उपांग, १० प्रकरण, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र तथा ४ विविध ग्रंथ हैं। अंगों में कहानियों के माध्यम से जैन सिद्धांतों की व्याख्या की गई है। इनमें जैन मुनियों के नियमों को भी निर्धारित किया गया है। प्रकरण पद्यमय हैं। इनमें जैन मत के विविध पक्षों का उल्लेख है। छेदसूत्रों में मठों में पालन किये जाने वाले नियमों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उनमें बताया गया है कि नियमों को तोड़ने

---

१. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सिविलाइजेशन, (हिन्दी अनु०) वासुदेवशरण अग्रवाल, (पूर्वोक्त), पृ० २४६।
२. वही, पृ० २४८।

पर क्या दण्ड दिये जा सकते हैं। मूलसूत्रों में जैनमत के बुनियादी सिद्धांतों के वर्णन किये गये हैं।[1]

इस प्रकार मठीय जीवन के शुभारम्भ और उसकी आरम्भिक व्यवस्था में जैनधर्म की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। किंतु मठीय जीवन को एक सुदृढ़ धरातल बौद्धों से ही प्राप्त हुआ। इन लोगों ने मठों को न केवल साधुओं के आवास का स्थल माना वरन् उन्हें शैक्षिक केन्द्रों के रूप में विकसित किया। इनके पूर्व 'गुरुकुल' आचार्य के आवास स्थल ही अध्ययन के केन्द्र थे। पुराणों में धौम्य, कण्व और वाल्मीकि के आश्रमों का वर्णन आया हुआ है। ये आश्रम वैयक्तिक आधार पर सञ्चालित थे किंतु कालान्तर में जैन एवं बौद्ध मठों के आधार पर हिंदू मठों ने भी अपने को सुगठित एवं सुव्यवस्थित किया, साथ ही उन्हें अध्ययन केन्द्र के रूप में विकसित किया।

बौद्ध मठ

मठों को सुव्यवस्थित करके के उनके लिए विशिष्ठ नियम-उपनियमों का निर्धारण करने तथा उनके द्वारा बौद्ध-साधुओं को संगठित करने एवं उन्हें एक निश्चित दिशा देने में बौद्धधर्म की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 'संन्यासवाद' को चाहे सम्पूर्ण विश्व के परिप्रेक्ष्य में लिया जाय, चाहे केवल भारतीय सन्दर्भ में-दोनों ही दृष्टियों से इसमें मठवादी व्यवस्था एवं संगठन को जन्म देने का श्रेय बौद्ध धर्म को ही है। 'संन्यासवाद' के लिए महात्मा बुद्ध का यह एक महान प्रदेय है।[2] सर्वप्रथम बौद्धधर्म ने ही अपने प्रमुख तीन तत्वों में 'संघ' को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया। 'बुद्धम् शरणं गच्छामि', 'संघम् शरणं गच्छामि', 'धम्मं शरणं गच्छामि'—कहकर बौद्धधर्म ने 'संघ' को अपनी दीक्षा का प्रमुख आधार माना है। बौद्धधर्म की इस प्रार्थना से ही स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने 'संघ शरण' के बाद ही 'धम्मं शरणं गच्छामि' का उपदेश किया था। इस प्रकार बौद्धधर्म में 'संघ' एक अनिवार्य शर्त बन चुका था। 'संघ' की संकलपना कर महात्मा बुद्ध ने समान लक्ष्य की प्राप्ति में विश्वास रखने वाले समस्त धर्मावलम्बियों को एक उच्चविचार सम्पन्न व्यक्ति के निदेशन में अनुशासित जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी थी। सर यदुनाथ सरकार के मतानुसार महात्मा बुद्ध ने बौद्ध साधुओं को धर्म प्रचार के एक

---

१. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० १५०।

१. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० ५।

मूल्यवान यंत्र के रूप में स्वीकार किया था।[1] बौद्ध साहित्य में मठ सम्बन्धी नियम-उपनियमों को 'विनय' की संज्ञा दी गयी है। ये 'विनय' बौद्ध साहित्य के अनिवार्य अंग बन गये हैं।

मठों की स्थापना का मुख्य लक्ष्य—एक मत अथवा सम्प्रदाय विशेष में निष्ठा रखने वाले साधुओं की कार्य-पद्धतियों में एकरूपता स्थापित करना तथा उन्हें एक सुगठित रूप देना था। यही कारण है कि महात्मा बुद्ध अपने साधुओं के प्रति बड़ी ऊँची धारणा रखते थे। वे इस बात के प्रति पूर्णतः आश्वस्त थे कि उनके धर्म के प्रचार-प्रसार में उनके शिष्यों का विशेष हाथ रहेगा। इसीलिए 'बुद्ध' और 'धर्म'—दोनों के बीच 'संघ' को मान्यता दी गयी है। 'संघ' से अलग रहकर 'बौद्धधर्म' को प्राप्त करना कठिन था। बुद्ध, संघ और धर्म की शरण में जाने सम्बन्धी प्रार्थना बौद्ध धर्मावलम्बियों की सर्वमान्य प्रार्थना है। जहाँ कहीं भी यह धर्म अपने विशुद्ध रूप में स्थित है, वहाँ यह प्रार्थना अनिवार्य रूप में प्रचलित है। प्रत्येक बौद्ध साधु के लिए अनिवार्य था कि वह 'बुद्ध', 'धर्म' और 'संघ' की शरण में जाय[2]। मोनियर विलियम ने इन तीनों के लिए 'बुद्ध-त्रयी' शब्द का प्रयोग किया है।[3]

महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में ही अनेक मठों की स्थापनाएँ हो चुकी थीं। अनेक श्रेष्ठियों, वणिकों एवं राजाओं ने बौद्ध साधुओं के लिए विहारों का निर्माण कराया था। 'जेतवन' और 'राजविहार' उन्हें उपहार में प्राप्त हुए,

---

१. "Long before the birth of Shanker, monastic order, or organised brotherhoods of religious devotees living togather, under the discipline of a superior authority and co-ordinating the efforts of different houses of the same sect, had been given to India by Budha, he had valued his monks as instrument of his religion so highly that he had made the Monastic order called 'Sangha' a member of the Budhist Trinity equal to Budha and Dharma".

—Yadunath Sarkar, A HISTORY OF DASHNAMI NAGA SAMNYASIS, (op. cit.), p. 3.

२. रिपोर्ट आफ दी हिन्दू रेलीजस इण्डाउमेण्ट्स कमीशन, (पूर्वोक्त), पृ० १४८।

३. मोनियर, विलियम्स एम०, हिन्दुइज्म (लन्दन, १८९७), पृ० ४७६।

थे।[1] मठों का विधिवत उद्भव एवं संगठन कार्य बौद्धों द्वारा ही सम्पादित किया गया। बौद्ध भिक्षुओं ने अनेक 'संघाराम' एवं 'विहारों' की स्थापनाएँ की थीं[2]।

बौद्ध मठों ने बौद्ध धर्म के प्रसार में पर्याप्त योग दिया था। भिक्षुओं और भिक्षुणियों ने सम्मिलित रूप से बौद्धधर्म का प्रचार किया था। बौद्ध विचारों में रहकर वे बौद्धधर्म के नियम-उपनियमों का पालन करते हुए, प्रातः से सायंकाल तक बुद्ध के सन्देश को जनसाधारण तक पहुँचाया करते थे। इन साधुओं को किसी प्रकार की आर्थिक चिन्ता नहीं रहती थी। वे भीख माँगकर सादगी के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे और महात्मा बुद्ध के उपदेशों को जनसाधारण तक पहुँचाते थे। बुद्ध ने भिक्षुओं और भिक्षुणियों को यह उपदेश दिया था—'ओ भिक्षुओं! मानवता और जीवनमात्र के कल्याण के लिए जाओ और भ्रमण करो! एक दिशा में दो भिक्षु न जाएँ, एक दिशा में एक ही भिक्षु जाय"[3]। प्रत्येक मठ के क्षेत्रों का विभाजन कर दिया गया था। इसी प्रकार उससे सम्बन्धित परिव्राजकों के लिए भी प्रचार-प्रसार हेतु क्षेत्र निर्धारित कर दिये गये थे।

इन संघारामो या मठों में प्रायः शिक्षित भिक्षुओं की अधिकता थी, परिणामतः उनके पास अध्ययन के लिए अनेक साधु एकत्र होने लगे। धीरे-धीरे इसी क्रम में ये मठ या विहार शिक्षा के बड़े केन्द्रों के रूप में विकसित हो गये। नालन्दा एक प्रकार का ऐसा ही शिक्षा का केन्द्र था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस विश्वविद्यालय में कई वर्षों तक शिक्षा प्राप्त की थी[4]। नालन्दा प्राचीन काल में बौद्ध विश्वविद्यालय के रूप में प्रख्यात था, इसमें बौद्ध संसार के सभी भागों के लोग विद्याध्ययन के लिए आते थे। बौद्ध धर्म प्रचार के लिए इनके विद्वान भी विश्व के विभिन्न भागों में जाया करते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय मुख्यतः बौद्ध विहार था, इसकी स्थापना बुद्ध की शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार के लिए की गयी थी। इसमें

---

१. राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, (बनारसः महोबोधिसभा सारनाथ, १९५३), पृ० ७०।

२. "Briefly speaking, Budhist doctrines encouraged asceticism and voluntary celibacy and Budhist monks wondering from place to place established monastic institutions called 'Sanghas' and 'Sangharamas". Rep. of the H. R. End. Commission, p. 15.

३. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० १६८।

४. वही, पृ० १६८।

सहस्रों बौद्ध भिक्षु रात-दिन बौद्धधर्म का अध्ययन करते थे। किन्तु धीरे-धीरे यह विश्वविद्यालय बौद्ध ज्ञान के विहार से भी आगे बढ़ गया। समय के साथ ही साथ बौद्धधर्म के साथ ही अन्य विषयों का भी अध्ययन-अध्यापन नालन्दा में प्रारम्भ हो गया। नालन्दा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कई विहार थे। इन विहारों में भी उसी प्रकार छोटे स्तर पर विद्याध्ययन की व्यवस्था थी। नालन्दा से कई मुहरें प्राप्त हुई हैं जिनपर लिखा है—"श्री नालन्दा महाविहार-आर्य भिक्षु संघस्य" एक 'विहार' की भी मुहर प्राप्त हुई है जिस पर अंकित है—"श्री नालन्दा महाविहार-गुणाकार-बुद्ध भिक्षुणाम्[१]।" इससे स्पष्ट है कि नालन्दा को उस समय बहुत सम्मान और अधिकार प्राप्त था। उससे अनेक बौद्ध-विहार सम्बद्ध थे। 'नालन्दा विश्वविद्यालय के पतन का इतिहास एक प्रकार से भारत में बौद्धधर्म के ह्रास का इतिहास है।'[२]

संघ एवं विहार

बौद्धों ने अपने धर्म-प्रचार की दृष्टि से समस्त बौद्धधर्म-प्रभावित क्षेत्र को कई संघों में विभाजित कर दिया था। ये संघ अनेक संघारामों एवं विहारों में विभक्त थे। इनकी अलग-अलग सीमाएँ थीं। सीमाएँ तीन योजन (१२ कोस) से अधिक नहीं होती थीं। इन्हें नदी, नालों से चिन्हित करते थे। प्रारम्भ में भिक्षुओं के लिए कृत्रिम विहारों का निर्देश नहीं था किन्तु उपासकों की दानशीलता और वर्षावास के आग्रह से शीघ्र ही विविध आरामों एवं विहारों का निर्माण प्रचलित हो गया। कहा जाता है कि राजगृह के श्रेष्ठी ने संघ के लिए साठ विहार बनाये थे जिन्हें भगवान बुद्ध ने संघ को पाँच प्रकार के निवास स्थानों की स्वीकृति दी थी। ये थे—विहार, अट्ठयोग; प्रासाद; हर्म्य एवं गुहा। आरंभ में विहार पर्णशाला के रूप में थे। धीरे-धीरे इनमें विकास हुआ। विहारों के चारों ओर आराम (उद्यान) होते थे। छोटे विहारों के एक ओर तथा बड़े विहारों के बीच में गर्भगृह अथवा कोठरियाँ होती थीं। भोजन के लिए पृथक 'उपस्थानशाला' होती थी[३]। संघ के दो भेद थे—(१) गुण, (२) निकाय। राजनीतिक संघ की संज्ञा 'गुण' थी और धार्मिक संघ जिसमें जन्म के कारण छोटे-बड़े का भेद नहीं था (अनोत्तराधर्यं संघ) 'निकाय' कहे जाते थे[४]। चीनी यात्री इत्सिंग का कथन है कि

१. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास; (पूर्वोक्त); पृ० ५७२।
२. वही, पृ० ५७२।
३. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० १६४।
४. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सिविलाइजेशन, (पूर्वोक्त); पृ० १४१।

भारत तथा बृहत्तर भारत के लोगों को चार 'निकायों' का ज्ञान था। इन निकायों के उपासकों की संख्या स्थान-स्थान पर भिन्न थी। जहाँ बौद्धधर्म प्रचलित था वहाँ अन्य धर्म भी उपस्थित थे। संघों के संबन्ध में उसका कथन है कि जब भी 'संघ' द्वारा किसी खेत में फसल उगायी जाती थी तो उत्पादन का कुछ भाग विहार के सेवकों या खेती करने वालों को देना पड़ता था। प्रत्येक उपज को ६ भागों में बाँटकर एक भाग संघ को दे दिया जाता था। विहार का सारा कार्य एक परिषद् की अनुमति से किया जाता था : उसके परामर्श के बिना कोई कार्य नहीं किया जाता था। परिषद् की इच्छा के विपरीत आचरण करने वाले को विहार से निकाल दिया जाता था[1]। इत्सिंग ने लिखा है कि 'नालन्दा विहार' के नियम बहुत कड़े थे। इसमें आवासियों की संख्या तीन हजार थी। इसके अधिकार में दो सौ से अधिक ग्राम थे जिन्हें कई पीढ़ियों के राजाओं ने दान में दिये थे।

संघ का अध्यक्ष 'विनयधर' कहा जाता था। संघ की कार्य-पद्धति जनतन्त्रीय थी। यह संघीय व्यवस्था न केवल धार्मिक वरन् राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में भी प्रचलित थी। इन धार्मिक संघों के समय-समय पर अधिवेशन भी होते थे। ये अधिवेशन संघागार या उद्यान (आराम) में होते थे। इसी से इन विहारों या मठों को 'संघाराम' की भी संज्ञा दी गयी है। अधिवेशन में उपस्थिति की संख्या पर भी विचार किया गया है। 'उपसम्पदा' के अवसर पर कम से कम १० भिक्षुओं की गणपूर्ति का विधान किया गया था। दो या तीन भिक्षुओं के संघों की उपस्थिति पर अधिवेशन का आयोजन ठीक नहीं समझा जाता था। सीमान्त प्रदेशों में जहाँ भिक्षु-संख्या कम थी और १० भिक्षुओं के संघों को एकत्र करने में कठिनाई होती थी वहाँ बुद्ध ने प्रधान को लेकर भिक्षुओं की संख्या घटाकर कम से कम ५ कर दी थी। संघ के अधिवेशन में कोई भी प्रस्ताव उपस्थित किया जाता था। वाद-विवाद केवल इस प्रस्ताव तक सीमित रहता था। असंबद्ध बातों (अनग्र) के लिए वहाँ कोई स्थान न था। प्रस्ताव के पक्षधर मौनधारण कर अपनी सहमति प्रकट करते थे। संघ द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव कर्म कहे जाते थे। इसकी मूल शब्दावली को 'कर्मवाचा' की संज्ञा देते थे[2]।

स्त्री भिक्षुणियाँ

भिक्षु संघों की भाँति भिक्षुणी संघों की भी स्थापना की गयी थी। इसका श्रेय

---

१. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, (पूर्वोक्त); पृ० ५७३।
२ राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सिविलाइजेशन, (पूर्वोक्त), पृ० २२०।

शाक्य स्त्रियों को है।[१]। आरंभ में भगवान बुद्ध स्त्रियों को प्रव्रज्या का अधिकार नहीं देना चाहते थे किन्तु जब गौतमी बहुत सी शाक्य स्त्रियों के साथ केश कटाकर और काषाय वस्त्र धारण कर वैशाली के महावन में भगवान बुद्ध के पास पहुँची उस समय उनके धूल-धूसरित शरीर और साश्रु मुख को देखकर महात्मा बुद्ध करुणार्द्र हो उठे और आठ शर्तों के साथ उनका अनुरोध स्वीकार कर लिए। ये शर्तें थीं—'भिक्षुणियाँ भिक्षुओं का आदर करेंगी, अभिक्षुकुल में भिक्षुणियों का वर्षावास नहीं होगा। हर पखवारे भिक्षुणियाँ भिक्षु संघ से उपोसथ-पृच्छा और अववादोय संक्रमण प्राप्त करेंगी। वर्षावास के अनन्तर भिक्षुणियों को दोनों संघों में दृष्ट, श्रुत एवं परिशंकित तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी चाहिए, भिक्षुणी को दोनों संघों में पक्षमानता करनी चाहिए। दो वर्ष ६ धर्मों में शिक्षित होकर भिक्षुणी को दोनों संघों में 'उपसम्पदा' की प्रार्थना करनी चाहिए। भिक्षुणी को आक्रोश परिभाषण नहीं करना चाहिए। भिक्षुणियों के लिए भिक्षु को कुछ कहने का मार्ग निरुद्ध है, भिक्षुओं के लिए निरुद्ध नहीं है।' शर्तों के वाद भगवान बुद्ध ने का—'यदि स्त्रियाँ इस धर्म-विनय में प्रव्रज्या न पातीं तो यह सहस्र वर्ष तक ठहरता, स्त्री-प्रवज्या के कारण सद्धर्म केवल पाँच सौ वर्ष ठहरेगा।'[२]

वर्षावास

वर्षा के समय परिव्राजकों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था अतः परिव्राजकों में वर्षाकाल के लिए चारिका को स्थगित रखने की प्रथा चल पड़ी। ब्राह्मण भिक्षुओं में भी इस प्रकार की प्रथा थी। वर्षा के दिनों में अनेक हरे तृणों और जीव-जन्तुओं को कुचलते हुए चलना परिव्राजकों के लिए ठीक नहीं था अतः तथागत ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए 'वर्षावास' का विधान किया। इसके अन्तर्गत आषाढ़ी पूर्णिमा या श्रावणी पूर्णिमा के दिन से तीन महीने तक भिक्षुओं के लिए यात्रा का निषेध था और उन्हें अपने विहार में रहना पड़ता था। रोग-आपत्ति, दुर्भिक्ष आदि कुछ विशेष स्थितियों में ही इस अवधि में भिक्षु सात दिन के लिए आवास छोड़ सकते थे। प्रथम बोधि में २० वर्ष अस्थिर वास के समय भगवान बुद्ध ने अनेक बौद्ध विहारों में वर्षावास किया था। अन्त में जेतवन और पूर्वाराम को सदा रहने के लिए उन्होंने अपना निवास स्थान चुना था।[३] वर्षावास के बाद संघ को अपने अपराध की आदेशना आवश्यक था। इसे 'प्रवारणा' कहते

---

१. वही, पृ० २२०।

२. गोविन्दचन्द्र पांडेय बौद्धधर्म के विकास का इतिहास,(पूर्वोक्त),पृ० १५०।

३. राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, (पूर्वोक्त), पृ० ७०–७१।

हैं। यह एक प्रकार से वार्षिक परिशुद्धि है।[1] पाक्षिक परिशुद्धि को 'उपासथ' कहते हैं। इसी समय भिक्षु संघ में चीवर बाँटे जाते थे। चीवर को 'कठिन' कहा जाता था। 'कठिन' के निर्माण के लिए भिक्षु संघ एक भिक्षु को चुनता था, उसे सिलाई का कार्य करने की छूट थी।

सम्पत्ति

सम्पत्ति का अधिकार संघ का माना जाता है। सभी भिक्षु अपरिग्रह व्रत लिये होते थे। भिक्षा में प्राप्त सामग्री पर संघ का अधिकार होता था। अन्न आदि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघ में विशेष भिक्षुओं को अधिकारी नियुक्त किया जाता था। भक्तोद्देशक' अन्न बाँटता था, यागु-भाजक यागु बाँटता था। शयनासन-ग्राहक भिक्षु संघ की ओर से 'विहार' आदि का दान स्वीकर करता था। संघ की सम्पत्ति पर किसी भिक्षु का व्यक्तिगत अधिकार नहीं हो सकता था।

बौद्ध विहारों के आचारविषयक नियम

बौद्ध विहारों में साधुओं की मानसिक एवं शारीरिक शुचिता पर विशेष बल दिया जाता था। बौद्ध भिक्षुओं को मानसिक पवित्रता के लिए दस शीलों के पालन करने का विधान था। ये दस शील थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, नृत्यगान का त्याग, सुगन्ध मालादि का त्याग, असमय भोजन का त्याग, कोमल शैया का त्याग, कामिनी-कांचन का त्याग। इनके लिए इच्छाओं एवं मनोविकारों पर नियन्त्रण रखने का उपदेश दिया जाता था। ये साधु एकाग्रचित्त, ध्यानावस्थित होने का अभ्यास करते थे। भिक्षुओं को एकान्त में किसी नारी से बात करने का निषेध था। शारीरिक शुचिता पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। विहारों में ऊष्णस्नान के लिए स्नानगार बने हुए थे।[2]

बौद्ध भिक्षुओं के लिए नग्नता का निषेध था। कुशचीर, वल्कलचीर या मृगचर्म का भी निषेध था। परिव्राजकों को चीवर धारण करने का विधान था। इन्हें उत्तरासंग, अन्तर्वासक एवं संघाटी कहते थे।[3] चीवरों को रखने के लिए संघाराम में एक भाण्डागार होता था। आसनों के लिए प्रत्यस्तरण, रोगियों के लिए कौपीन, मुँह पोछने के लिए अंगोछा एवं थैला आदि आवश्यक परिष्कार वस्त्र

१. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० १५२।
२. देवेन्द्रलाल, प्राचीन भारत में सन्यास और सन्यासी, (पूर्वोक्त), पृ० ४४।
३. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० १६४।

का विधान था।[१] रेशमी वस्त्रों का प्रयोग निषिद्ध था।[२] जूता पहनने का विधान आरम्भ में नहीं था पर बाद में रात के समय एकतल्ले का जूता पहनने की छूट दे दी गयी थी। चर्म का धारण करना निषिद्ध था।

भिक्षुओं को भिक्षा में प्राप्त अन्न से ही निर्वाह करना पड़ता था। 'आराम' के भीतर रखे, भीतर पकाये और स्वयं पकाये का खाना उनके लिए निषिद्ध था। भिक्षुओं को मांस खाने पर प्रतिबन्ध था। जीवक ने एक बार पूछा था कि बौद्ध भिक्षु मांस खा सकते हैं या नहीं? बुद्ध ने कहा—'भिक्षु सभी जीवों के प्रति प्रेमभाव रखता है अतः वह जानबूझकर मांस नहीं माँग सकता। यदि भिक्षा में उसे स्वयं ही मांस प्राप्त हो जाय तो वह उसे खा सकता है। परन्तु वह मांस विशेष रूप से उसी के लिए बनाया हुआ नहीं होना चाहिए।' विहार में प्राप्त खाद्यों के रखने के लिए एक विशेष स्थान होता था जिसे 'कल्प्यभूमि' कहा जाता था।

भिक्षुओं के लिए लम्वे केश रखने एवं आभूषण धारण करने का निषेध था। भिक्षुओं को केवल लोहे एवं मिट्टी के पात्रों के प्रयोग का आदेश था। भिक्षाटन के लिए आदेश था कि भिक्षु विधिवत अपने वस्त्र पहन कर गाँव में प्रवेश करें। गाँव में वे वेर तक न रुकें। भोजन या भिक्षा देने वाली स्त्री का मुख न देखें। किसी द्वार पर बहुत देर तक प्रतीक्षा न करें। अपने विवेक से समझ लें कि भिक्षा मिलने वाली है या नहीं। भिक्षा माँगकर विहार में सबसे पहले लौटने वाले भिक्षु को अन्य भिक्षुओं के लिए आसन, जल, पादपीठ आदि की यथास्थान व्यवस्था करनी पड़ती थी। भोजन के पश्चात् भोजनालय की स्वच्छता तथा आसन और पाद-पीठ आदि को यथास्थान रखने का काम अन्त में आने वाले भिक्षुओं को करना पड़ता था।

बौद्धों में गुरुवाद की परम्परा अपेक्षाकृत कम थी। बुद्ध भगवान ने व्यक्ति विशेष को अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाया था। वे धर्मानुशासन को ही आदर्श मानते थे। उन्होंने आनन्द से कहा था—"मैं यह नहीं सोचता कि मैं भिक्षु संघ का नेतृत्व करूँ, भिक्षु संघ मेरे पीछे-पीछे चले।...इसलिए तुम लोग आत्मदीप बनकर रहो, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्यशरण... ...।[३]

---

१. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १६५।
२. देवेन्द्र लाल, प्राचीन भारत में सन्यास और सन्यासी, (पूर्वोक्त), पृ० ४५।
३. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, (पूर्वोक्त); पृ० १३५।

बुद्धशासन में गुरु का रूप 'कल्याणमित्र' का है और उसका कार्य मार्ग-दर्शन है। धर्म ही उनके लिए 'यान' या मार्ग है। धर्म को देखना बुद्ध को देखना है। धर्म ही बुद्ध की वास्तविक काया है। बुद्ध ने 'उपसंपदा' तथा 'प्रवज्या' का अधिकार भिक्षुओं को ही दे दिया था[1]।

मठ परम्परा को जैन एवं बौद्ध धर्म की देन

जैन धर्म का उदय बौद्ध धर्म के पूर्व ही हो चुका था। जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। महावीर स्वामी जी जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। वे महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। दोनों धर्म श्रमण परम्परा से सम्बद्ध थे। इनके उद्देश्य भी प्राय; एक समान ही थे किन्तु इनके आचार-विचार में पर्याप्त अन्तर भी है। दोनों धर्म वेद के विरोधी हैं, दोनों मोक्ष को अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। दोनों ने तप और संयम को मोक्ष के लिए आवश्यक माध्यम माना है। वैदिक यज्ञ-यागादि को दोनों अस्वीकार करते हैं। दोनों ईश्वर कर्त्तत्ववाद के विरुद्ध हैं। दोनों में एकान्त तप को महत्व दिया गया है। इनके साथ ही कई असमानताएं भी हैं। तथापि दोनों अहिंसा के पक्षधर हैं किन्तु जैन धर्म में बौद्ध धर्म की अपेक्षा अहिंसा पर अधिक वल दिया गया है। इसी प्रकार जैन भिक्षु कायिक तपस्या पर अधिक जोर देते हैं, किन्तु बौद्ध कम।

दोनों धर्मों के संन्यासियों के आचार-विचार चैत्य एवं विहार सम्बन्धी नियम भी प्रायः पूर्व परम्परा से प्राप्त हिन्दू संन्यासियों के नियम-उपनियमों पर ही आवृत हैं। महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध दोनों समकालीन थे। अपने-अपने धर्मों के बीच अनेक असमानताओं एवं समानताओं को रखते हुए भी दोनों धर्म एक दूसरे से बहुत प्रभावित हुए। जैन धर्म का सुगठित प्रचार एवं प्रसार महावीर स्वामी के समय में हुआ था। यही कारण है कि प्रायः इन्हें ही लोग जैन धर्म के प्रवर्त्तक रूप में स्वीकार करते हैं जबकि वस्तुतः ये २४वें तीर्थंकर थे।

---

१. 'प्रवज्या की इच्छा से जब बुद्ध के यहाँ उपसम्पदा के लिए भिक्षुओं कीभीड़ होने लगी तो उन्होंने भिक्षु संघ को धर्मोपदेश देते हुए प्रवज्या तथा उपसम्पदा का अधिकार उन्हें ही दे दिया। उपसम्पदा में भिक्षु पहले सिर तथा दाढ़ी के बाल मुड़ाकर काषाय वस्त्र धारण करते थे फिर एक कंधेपर अंगोछा रखकर भिक्षुओं की पादवंदना करते थे, फिर उकडू बैठकर हाथ जोड़ तीन बार दुहराते थे— बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।
—वाचस्पति गैराला, भारतीय धर्म व्यवस्था, (इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, १९६२), पृ० १८७।

महात्मा बुद्ध तथा महावीर स्वामी, दोनों ने ही 'संन्यासवाद' को मोक्षप्राप्ति का एकमात्र सीधा, सरल एवं सच्चा मार्ग माना था। किन्तु इनके पूर्व ही 'संन्यासवाद' भारतीय धरती पर स्थान बना चुका था। महावीर और महात्मा बुद्ध से पूर्व ही अनेक ऐसे संन्यासी हो चुके थे जिन्होंने न केवल स्वयं संन्यास जीवन का वरण किया था वरन् तत्कालीन समाज के लोगों को भी संन्यास द्वारा सर्वस्व त्याग का पाठ पढ़ाते हुए वैराग्यपूर्ण जीवन को जीवन के वास्तविक आचरण के रूप में घोषित किया था और इस प्रकार उन लोगों ने मानव जाति का बहुत बड़ा हित किया था[1]। संन्यासियों के आचरण विषयक नियमों तथा धार्मिक व्यवस्थाओं में हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म की एकता को देखकर अनेक विद्वानों ने बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म के अंग के रूप में ही स्वीकार किया है। मैक्समूलर का विचार है कि 'बौद्ध धर्म कोई नया नहीं दीख पड़ता। यह तो अपने धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक रूपों में भारतीय बुद्धि की एक स्वाभाविक देन है।'[2] इसी प्रकार बौद्धधर्म के नैतिक आदर्शों का विवेचन करते हुए हायकिन्स ने लिखा है कि—"बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक ने नैतिकता का कोई नवीन आदर्श जनता के सन्मुख उपस्थित नहीं किया। वह प्रजातन्त्रवादी नहीं था। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि ब्राह्मणों के विरुद्ध उसने कोई नवीन योजना बनाई थी।"[3] बौद्ध धर्म के उद्‌भव को प्रेरित करने वाली परिस्थितियों की ओर संकेत करते हुए ओल्डेनबर्ग ने कहा है कि बुद्ध से चार सौ वर्ष पूर्व ही इस प्रकार के विचारों का आन्दोलन भारत में चल रहा था, इस आन्दोलन ने ही बौद्ध धर्म के लिए मार्ग तैयार कर दिया था।'[4]

भिक्षुओं के संघ निर्माण को भी देखा जाय तो प्रकारान्तर से ब्राह्मण-धर्म में मिल जाता है। मानव जीवन को 'चार आश्रमों' में विभक्त करना और तीन आश्रमों (गृहस्थ को छोड़कर) को संन्यास भावना से सम्बद्ध करने का कार्य वैदिक धर्म में ही हो चुका था। उस समय दो प्रकार के ब्रह्मचारी थे—'उपकुर्वन और नैष्ठिक'। 'उपकुर्वन' कुछ समय के लिए ब्रह्मचारी रहता था जबकि 'नैष्ठिक' ब्रह्मचारी आजीवन विद्यार्थी एवं ब्रह्मचारी रहता था। इन दूसरे प्रकार के ब्रह्मचारियों की तुलना बौद्ध भिक्षुओं से की जा सकती है। वानप्रस्थी और संन्यासी तो

१. जी० यस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० ३-४।
२. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० १७५ पर उद्धृत।
३. वही, पृ० १७५।
४. वही, पृ० १७६।

बौद्ध भिक्षुओं की ही श्रेणी में थे। ब्रह्मचर्य के अनेक नियमों को बौद्ध भिक्षुओं पर लागू किया गया था। ब्रह्मचारी और बौद्ध भिक्षु दोनों भिक्षा ग्रहण करते थे। गौतम और आपस्तम्ब दोनों ने वानप्रस्थ आश्रम को भिक्षुओं का आश्रम बताया हैं।[1] हिन्दू धर्म में 'परिव्राजकों' के लिए वर्षाकाल में चलना वर्जित था। ठीक यही नियम बौद्ध धर्म में देखने को मिलता है।

हिन्दू और बौद्ध धर्मचर्या के इन विविध नियमों में एकरूपता होते हुए भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मठ-प्रणाली बौद्ध धर्म की महान देनों में से एक है।[2] यद्यपि सामान्यरूप में यह प्रणाली 'ब्राह्मण' और 'श्रमणों' में भगवान बुद्ध के पूर्व से ही परिलक्षित होती है। दोनों घर-बार छोड़कर तप और संयम का कठोर जीवन व्यतीत करते थे। 'श्रमण' परंपरा को ही बौद्ध भिक्षुओं ने ग्रहण कर उनके जीवन को व्यवस्थित एवं अनुशासित करके उन्हें बौद्ध जीवन दर्शन में दीक्षित किया था। यही कारण है कि भगवान बुद्ध स्वयं भी 'श्रमण' कहलाये थे किन्तु बौद्ध भिक्षुओं का एक संगठन तैयार करने, उनके लिए एक विशिष्ट मठ प्रणाली को जन्म देने तथा उन्हें सामूहिक जीवन यापन करते हुए भिक्षाटन करने के साथ ही साथ बौद्ध धर्म की शिक्षाओं, नीतियों एवं उसके नियमों से भारतीय समाज को प्रभावित करने का एक संगठित प्रयास सर्वप्रथम मठों के माध्यम से महात्मा बुद्ध ने ही किया था। बौद्धों से पूर्व वैदिक जीवन में आश्रम प्रणाली का उदय हो चुका था। अनेक संन्यासी तपोवन एवं आश्रमों रहकर जप-तप के नियमों का आचरण करते थे किन्तु वर्तमान अर्थ में मठ-प्रणाली का उदय उनके समय में नहीं हुआ था।

वस्तुतः कोई भी सामाजिक संगठन अचानक एक दिन में अंकुरित नहीं हो जाता, उसके लिए उपयुक्त भूमि, वातावरण एवं उर्वरक की आवश्यकता होती है। वैदिककाल से चले आ रहे संन्यासियों, वैरागियों, परिव्राजकों, मुनियों एवं श्रमणों ने इसके लिए न केवल एक आधारभूमि तैयार की थी वरन् देश के कोने-कोने में विचरण करने वाले उनके विशाल वर्ग ने स्वयं को संगठित करके अपनी अद्भुत शक्ति के सदुपयोग द्वारा धर्म-प्रचार के कठिन कार्य को सरल बना देने का एक विश्वास भी उत्पन्न कर दिया था। जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तकों ने अपने धर्म-प्रचार के लिए अपने अनुयायी साधुओं को संगठित कर उनके लिए स्थान-स्थान पर बिहारों, चैत्यों, संघारामों या मठों की स्थापना कर उनके आवास एवं आचरण सम्बन्धी नियमावलियों को सुनियोजित किया। हिन्दू धर्म एक विस्तृत धरातल का

---

१. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, (पूर्वोक्त) पृ० १७६।
२. वही, पृ० १७७।

स्पर्श करता था। वह जो कुछ कहता था, सम्पूर्ण मानवता के लिए कहता था। वह किसी वर्ग विशेष तक सीमित नहीं था इसलिए उसने कभी प्रचार एवं प्रसार की दृष्टि से दूसरों को अपने अभिप्सित धर्म में दीक्षित करने का प्रयास नहीं किया। प्रचार और प्रसार की आवश्यकता उसे होती है जो सीमित होता है, जिसे अपनी सीमा के विस्तार की अपेक्षा होती है, जो सम्पूर्ण मानव जाति को अपने धर्म में दीक्षित कर देना चाहता है। जैन और बौद्ध धर्म एक प्रकार के प्रचारक धर्म हैं। अतः उन्होंने अपने धर्म-प्रचार के लिए साधुओं को सुसंगठित एवं सुनियोजित करने का प्रयास किया। इस कार्य की अपेक्षा हिन्दू धर्म को उस समय हुई जब इन दोनों धर्मों ने उसे प्रभावित कर उसमें विघटन उत्पन्न करने का प्रयास किया तथा हिन्दू धर्म का विरोध करना आरम्भ कर दिया। जब हिन्दू धर्म की अवहेलना करते हुए इन दोनों धर्मों ने हिन्दू धर्म में प्रतिष्ठित सृष्टिकर्त्ता भगवान की सर्वथा उपेक्षा की, वेदों में वर्णित विधि-विधानों पर तनिक भी विश्वास नहीं रखा, साथ ही स्वयं अपने प्रवर्त्तकों को ही जन-रक्षक एवं भगवान के रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया, उस समय हिन्दू धर्म ने भी आदि शंकराचार्य के माध्यम से अपने को व्यवस्थित करने का प्रयास किया। 'ईंट का जवाब पत्थर से देना' तथा 'लोहे को काटने के लिए लोहे का प्रयोग करना' एक सामान्य कहावत हैं। आवश्यकता पड़ने पर शंकराचार्य ने इस कहावत के अनुसार ही मठ-प्रणाली पर आधारित जैन एवं बौद्ध धर्मों का मूलोच्छेदन हिन्दू मठों की स्थापना द्वारा आरम्भ किया।

'जावालि उपनिषद' में चारों आश्रमों का पहली बार एक पृथक विवेचन प्राप्त होता है। मनुस्मृति में एक स्थान पर तीनों आश्रमों की चर्चा करके गृहस्थ आश्रम को तीनों का आधार बताया गया है।[1] कुछ विद्वानों की धारणा है कि आश्रमों के आधार पूर्व वैदिककाल में ही वर्तमान थे। संन्यासधर्म में वेद की महत्ता का उल्लेख करते हुए वसिष्ठ (वसिष्ठ १०-४) का कथन है—'संन्यासेतसर्वं कर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत। वेदसंन्यसनात्छद्रः तस्माद् वेदं न संन्यसेत।[2] किन्तु बौद्ध धर्म में वैदिक विधि-विधानों की अवहेलना की गयी है। वैदिक धर्म में संन्यास जीवन का दो प्रकार से विधान था—एक गृहस्थ आश्रम के बाद से, दूसरा ब्रह्मचर्य आश्रम से ही। आजीवन संन्यासपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले साधुओं की अपनी विशेष प्रतिष्ठा थी। संन्यासपूर्ण जीवन की ये दोनों विशेषताएँ जैन और बौद्ध

---

१. 'यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्तु संस्थितम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्तु संस्थितम्॥—मनुस्मृति।

२. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग २, (पूर्वोक्त), पृ० ४२०।

धर्मेतर प्राचीन भारतीय संस्कृति के दो मौलिक आदर्श हैं जो भारतीय इतिहास में आजतक बराबर चले आ रहे हैं।[१] इस प्रकार 'संन्यासवाद' में जहाँ तक संन्यासियों के विधि-विधान, उनके सामान्य संगठन एवं उनकी सामूहिक शक्तिमत्ता एवं वैराग्य-पूर्ण जीवनादर्शों की बात है, वह महात्मा बुद्ध से बहुत पूर्व ही अपने अस्तित्व में आ चुकी थी किन्तु मठ-प्रणाली को जन्म देकर साधुओं को संगठित कर उनके लिए सामुदायिक जीवनचर्या का निर्माण करने का महत्वपूर्ण कार्य बुद्ध द्वारा ही किया गया। 'संन्यासवाद' के प्रति बौद्ध धर्म की देन का मूल्यांकन करते हुए जी० एस० घूरिए ने ठीक ही कहा है कि 'सन्यासवाद' विशेषकर भारतीय संन्यासवाद को बौद्धों का प्रमुख प्रदेय मठ-प्रणाली का संगठन है।[२]

कुछ लोगों की धारणा है कि जैन धर्म संभवत: पहला धर्म है जिसमें संगठित मठ-जीवन को मान्यता मिली। इसमें सन्देह नहीं कि जैन धर्म का उदय बौद्ध धर्म से पूर्व ही हो चुका था। बुद्ध के समकालीन महावीर स्वामी जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे किन्तु उनके पूर्व तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। 'पार्श्व' ऐतिहासिक व्यक्ति थे। पार्श्वनाथ का काल कुछ लोगों ने ईसवी पूर्व आठवीं शती माना है। 'पार्श्व' के अनुयायियों में आर्यदत्त की प्रमुखता में सोलह हजार श्रमण और पुष्पकुला की प्रमुखता में अड़तीस हजार भिक्षुणियों का वर्णन आया है[३]। निश्चय ही भिक्षु-भिक्षुणियों के इतने बड़े संगठन की देखरेख एवं स्थान-स्थान पर इनके आवास के लिए जैन मठों की व्यवस्था रही होगी। किन्तु इस प्रकार के मठों का वर्णन उपलब्ध नहीं है। आचरांगसूत्र (१-७-२-२) के आधार पर देवेन्द्रलाल का विचार है कि हिन्दू सन्यासियों की भाँति जैन संन्यासियों को भी घर बनाने का विधान नहीं था। ऐसी परिस्थिति में वह श्मशान, शून्यागार; गुहा या

---

१. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० ४।

२. 'Buddha's main contribution to Asceticism in general and Indian asceticism in particular is the organization of monastic order. The monk, who was only an ideal type, in his collective aspect of monastic order becomes an object of worship. The three refuges of Buddhism to which Buddhists offer self surrender are Buddha, Dharma and Sangha; sangh meaning collection or gathering in the totality of monk's or the Monastic order'' G.S. Ghurye, Indian Sadhus, (op.cit.)p.5.

३. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सिविलाइजेशन; (पूर्वोक्त) पृ० २३४

शिल्पशाला में रह सकता था[१]। संन्यासियों के आवास के सम्बन्ध में बसिष्ठ का विधान भी इसी प्रकार का है (बसिष्ठ १०,१२-१३)। सम्भवतः पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म में मठों की समुचित व्यवस्था नहीं हो सकी थी। महावीर स्वामी के समय में जैन मठों की व्यवस्था आरम्भ हुई। यह कहना कठिन है कि महात्मा बुद्ध ने पहले मठों का श्रीगणेश किया या महावीर स्वामी ने; किन्तु इतना स्पष्ठ है कि जैन मठ बहुतायत में ब्राह्मण साधुओं द्वारा स्थापित आदर्शों पर आधारित हैं। महावीर स्वामी के स्वर्गवास के संबंध में कहा गया है कि उन्होंने पहला 'वर्षावास' अस्थिक ग्राम में बिताया था, तीन चातुर्मास्य चम्पा और पृष्ठिचम्पा में, बारह वैशाली और वाणिय ग्राम में; चौदह राजगृह और उनके बाहरी भाग (बाहिरिका) में, छ मिथिला में, दो मद्रिका में, एक आलभिका में, एक पणित भूमि (व्रजभूमि) में, एक श्रावस्ती में और एक पाषापुरी में, जहाँ राजा हस्तिपाल के अधिकरण में उनकी मृत्यु हुई (कल्पसूत्र १२२)। आचरांग (१।८।२) में लिखा गया है कि अपने इन बिहारों के दौरान उन्होंने कर्मशाला; सभा, कूप, विपणि, निर्माणशाला, तृणकुटी, निषधा, उद्यानशाला, नगर-श्मशान, जीर्ण आयतन या वृक्षमूल इन सब आवास स्थानों में चुपचाप अनेक कष्ट भी सहे[२]। इससे स्पष्ट है कि महावीर स्वामी के समय तक इस धर्म ने मठ-प्रणाली को अपना लिया था किन्तु तब तक जैन मठ सुव्यवस्थित नहीं हो सके थे। बाद में बौद्ध मठों के आदर्शों पर उन लोगों ने भी अपने संन्यासियों के लिए मठों को सुव्यवस्थित किया तथा भिक्षु-गृहों एवं गुफाओं का निर्माण किया[३]।

बौद्ध मठों की ऐतिहासिक विशेषताएँ

बौद्ध मठों की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—यथावत साधुवृत्ति (मेन्डीकेन्सी) तथा संघ की प्राथमिकता। महात्मा बुद्ध ने जिस मठ प्रणाली को अपने भिक्षुओं के सामुदायिक जीवन के लिए स्वीकार किया था, वह मातृभाव के विकास में पर्याप्त सहायक थी। उसमें जन्म, जाति या वर्ग के आधार पर कोई विभाजन नहीं था। उसने जाति प्रथा को अपने धर्म में प्रविष्ठ ही नहीं होने दिया। उसके संघ में सभी लोगों को सम्मिलित होने की अनुमति थी। धर्म के तीन प्रमुख तत्वों में 'संघ' का महत्वपूर्ण स्थान था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि गण-तन्त्र के प्रदर्शक होने के कारण महात्मा बुद्ध ने अपने बाद संघ का नेतृत्व किसी व्यक्ति को न सौंप कर

---

१. देवेन्द्रलाल, प्राचीन भारत में संन्यास और संन्यासी; (पूर्वोक्त), पृ० ३९।
२. राधाकुमुद मुकर्जी, हिंदू सिविलाइजेशन (पूर्वोक्त), पृ० २३८।
३. बी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, (पूर्वोक्त), पृ० १४९।

उसमें 'धर्मराज्य' एवं 'गणराज्य' की स्थापना की। उनका यह भी विचार है कि 'विनय' में उल्लिखित अनेक गणतन्त्रीय प्रक्रियाएँ बौद्ध संघ ने संभवतः गणराज्यों में प्रचलित व्यवहार से लिए थे। जो भी हो इतना निश्चित है कि महात्मा बुद्ध का भिक्षु संगठन गणराज्यों के संविधान से प्रभावित अवश्य था। संघ की निरन्तर वृद्धि के लिए सात अपरिहेय धर्मों का उल्लेख किया गया है, यथा—'संघ की सन्निपात बहुलता', समग्रता, यथाप्रज्ञप्त शिक्षापदों का असमुच्छेद, स्थविर भिक्षुओं का सत्कार, तृष्णा के वश में न होना, आरण्यक शयनासन में सापेक्ष होना और प्रत्यात्म स्मृति को उपस्थापित करना'[1]। इसी प्रकार का उपदेश उन्होंने वज्जियों को भी उनके गणराज्य की उन्नति के लिए दिया था। तात्पर्य यह है कि महात्मा बुद्ध ने मठ संगठन की सफलता का सूत्र—आपसी मेल-मिलाप, आपसी बातचीत के बीच सर्वसंमत निर्णय, परम्परानुगमन, बड़े-बूढ़ों के प्रति आदरभाव के बीच देखा था।

भिक्षु संघ में पहले एकान्तशीलता की प्रधानता थी। धीरे-धीरे उसमें संवासशीलता का विकास हुआ। अनेक प्राचीन ग्रंथों में भिक्षु के लिए खड्ग विषाण (गैंडे) के समान एकाकी जीवन की प्रशंसा की गयी है। किन्तु धीरे-धीरे यह एकान्तिकता का जीवन सामूहिक आवासिकता में परिवर्तित हो गया। देवदत्त ने महात्मा बुद्ध से भिक्षुओं के लिए कठोर जीवन का अनुरोध किया था किन्तु बुद्ध ने उसे अस्वीकार कर दिया था (विनय, ना० चुल्लवग्ग, पृ० २९८-९९)[2]। तात्पर्य यह कि वे भिक्षुओं के जीवन के लिए आरण्यकचर्या को धीरे-धीरे समाप्त कर देना चाहते थे और समस्त बौद्ध संन्यासियों के लिए मठीय जीवन को सुगम बनाना चाहते थे। साथ ही भिक्षुओं में तथागत के साहचर्य का औत्सुक्य और भिक्षुओं की संख्या वृद्धि उनकी एकान्तचर्या के पक्ष में न थी। पौषध में भिक्षुओं के लिए नियतरूप से सम्मिलित होना आवश्यक था और 'चारिका' का निषेध था, परिणामतः समृद्ध उपासकों ने संघ की सुविधा के लिए विहारों का निर्माण कराया और दान दिये।[3] भिक्षुओं के लिए निर्देश था कि समग्र रूप में संघ में सम्मिलित होकर उसके कार्यों का सम्पादन करें।

---

१. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, (पूर्वोक्त) पृ० १३८।

२. ,, ,, ,, पृ० १२८ पर उद्धत।

३. ,, ,, ,, (पूर्वोक्त), पृ० १३८।

देखा जा चुका है कि संन्यासी जीवन व्यतीत करना या व्यवस्थित सामुदायिक जीवन व्यतीत करना भारतीय जीवनधारा की प्रमुख विशेषता रही है। गौतम बुद्ध ने बुद्ध धर्म में जिस मठ-प्रणाली का प्रवर्त्तन किया वह भी अपने में कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। क्योंकि हिन्दू धर्म में व्यवहृत संन्यास पद्धति से ही उन्हें इस प्रकार की प्रेरणा मिली थी। भगवान बुद्ध ने अपने अनुयायियों को प्रेरित किया था कि वे सभी उनकी पवित्र पुस्तकों में निर्दिष्ट शिक्षाओं को भली प्रकार समझें और उन्हें अपने जीवन में उतारें।

बौद्ध मठों में जातिगत श्रेष्ठता की कोई बात ही नहीं थी। मठ का द्वार सभी के लिए खुला था, वहां ज्येष्ठता को ही श्रेष्ठता का आधार माना जाता था। आरम्भ में भिक्षु संघों में नारियों के लिए कोई स्थान नहीं था किन्तु बाद में नारियों को भी भिक्षु संघों में प्रवेश दे दिया गया। फिर भी भिक्षुणियों का संघ बुद्ध धर्मावलम्बी किसी भी देश में अधिक मान्यता नहीं प्राप्त कर सका।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने हीनयान और महायान दोनों शाखाओं में प्रचलित मठवाद का चित्रण किया है। नालन्दा स्थित पवित्र मठ का उन्होंने विशेष विवरण दिया है। यह सर्वसम्मत सिद्ध हो चुका है कि बुद्ध धर्म ने मठवाद के लिए एक उर्वर भूमि एवं वातावरण प्रस्तुत किया जिससे उस काल में मठ-संस्थानों ने चरमोत्कर्ष प्राप्त किये। यही कारण है कि मठवाद के संस्थापकों में महात्मा बुद्ध को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम स्थान दिया जाता है।[१]

बौद्ध धर्म अपने उत्कर्षकाल में देश-विदेश से लोगों को भारतवर्ष के लिए आकृष्ट करता रहा है। समाज पर भी बौद्ध भिक्षुओं का अत्यधिक प्रभाव था। बौद्ध मठों के सामाजिक प्रभाव के चरम उत्कर्ष को तिब्बत में देखा जा सकता है; जहाँ बौद्ध साधुओं या भिक्षुओं की संख्या सम्पूर्ण जनसंख्या के लगभग ८वें हिस्से के बराबर है। तीन शताब्दी तक यहाँ के प्रशासन पर आध्यात्मिक शासनाध्यक्ष दलाई लामा का नियन्त्रण रह चुका है। सीलोन, मध्य इग्लैण्ड एवं अन्य योरोपीय देशों में भी बौद्ध भिक्षुओं को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था।[२] सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब ह्वेनसांग ने भारत की यात्रा की थी उस समय हिन्दू धर्मावलम्बियों में मठ

---

१. जे० के० मिश्र, दी सोसियो-इकानोमिक कन्डीशन आफ साधू आरगेनाइजेशन इन पिलिग्रोमेज सेण्टर इन यू० पी० (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध निदेशक, प्रो० आर० एन० सक्सेना, समाजशास्त्र विभाग, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा ,, पृ० १५३।

२. डब्ल्यू० ओ० चाडविक, इण्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया, (पूर्वोक्त); पृ० ४१८।

उतने संगठित नहीं थे जितने बौद्धों के विहार एवं मठ संगठित एवं सुव्यवस्थित थे। हिन्दू संन्यासी पहले स्थानीय मन्दिरों में ही निवास करते थे। शंकराचार्य ने ही पहले पहल आठवीं शताब्दी में सुसंगठित रूप में हिन्दू मठों की स्थापना की और शैव संन्यासियों के दस संघों को या तो मान्यता दी या उनकी स्थापना की।[१]

इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने संन्यास-जीवन की एकान्तिकता में सामूहिक जीवन का संचार किया और मठों में रहने वाले लोगों को अनुशासित, नियन्त्रित एवं सुसंगठित किया। इन मठों का धार्मिक मामलों में विशेष महत्व था। धार्मिक प्रगति और भिक्षुओं के आध्यात्मिक विकास की दिशा में इनका प्रभाव स्वतः स्पष्ट है। भगवान बुद्ध ने भिक्षुचर्या को बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक अनिवार्य शर्त रखी थी। मठों के सामूहिक संन्यासी-जीवन में संसार से विरक्त होकर एकान्तिक साधना करने वाले लोगों में भी सामाजिकता एवं भाई-चारे का सम्यक् विकास हुआ।

बुद्ध धर्म का संघ सामुदायिक, धार्मिक-जीवन और आध्यात्मिक क्रिया-कलापों का प्रथम संगठन जाना जाता है क्योंकि उसके पूर्व का धार्मिक जीवन प्रायः समाज में ही सम्पन्न होता था या फिर अरण्यों में रहने वाले ऋषि-मुनियों के आश्रमों में संचालित होता था। किन्तु उस समय इनकी सामूहिकता सीमित एवं संकुचित थी। बौद्ध मठों के संगठन जैसा स्पष्ट स्वरूप उनमें परिलक्ष्छित नहीं होता था। निश्चय ही भारतीय मठवाद के ऊपर बुद्ध धर्म के संगठन की विचारधारा ने पूर्ण प्रभाव स्थापित किया है। मठों को शैक्षिक संगठन के रूप में विकसित करने का प्रयास भी सर्वप्रथम बौद्धों द्वारा ही किया गया। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक जीवन में आचार्यों के आश्रमों में रहकर ब्रह्मचारियों के विद्याध्ययन की परम्परा वैदिककाल से ही चली आ रही थी किन्तु उसका स्वरूप बहुत कुछ वैयक्तिक था। ये सम्बन्धित आचार्य के शिष्यों तक ही सीमित थे। जबकि अधिकांश बौद्ध मठों ने शिक्षा के वृहद केन्द्र के रूप में अपने को विकसित कर लिया था। इस प्रकार मठीय केन्द्रों में शिक्षण संस्थाओं के संचालन की सम्भावना जाग्रत हुई। नालन्दा का बौद्ध मठ इसका निदर्शन है।[२] जिसने आरम्भ में बौद्ध दर्शन के अध्ययन केन्द्र के रूप में विकसित होकर विश्वविद्यालय का रूप ग्रहण कर लिया।

हिन्दू मठों की ऐतिहासिकता

हिन्दू धर्म की मठवादी व्यवस्था में आचरण शुद्धता, चारित्रिकता, निर्धनता, अनुशासनप्रियता तथा आज्ञापालन को महत्ता दी गयी है। हिन्दू धर्म में 'मठवाद'

---

१. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज; (पूर्वोक्त), पृ० ६।

२. " " (पूर्वोक्त), पृ० ४४।

का आरम्भ बुद्ध धर्म के प्रभाव से ही हुआ। मठवादी व्यवस्था में संन्यासी केवल आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत ही नहीं रहे वरन् वे स्वयं भी पूज्य बन गये। हिन्दू धर्म एक व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित है। उसमें संन्यासपूर्ण जीवन की स्वीकृति एक गृहस्थ के लिए भी रही है। मानव जीवन के चार सोपानों में से अन्तिम सोपान संन्यास ही था। इसलिए बौद्धों के पूर्व वैदिक धर्म को मठवादी व्यवस्था ग्रहण करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। किन्तु बाद में जब जैन एवं बौद्ध संन्यासियों का चारों तरफ जाल-सा बिछने लगा और वैदिक धर्म को हानि पहुँचाने का प्रयास किया जाने लगा तब हिन्दू धर्म को भी मठवादी व्यवस्था-ग्रहण कर वैष्णव एवं शैव संन्यासियों को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता हुई।

रहस्यवाद तथा संन्यासवाद के सम्बन्ध में मानवजीवन की जो नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं उन्होंने ही 'मठवाद' को जन्म दिया है (इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, पृ० १०८)[1]। आत्मा और शरीर एक दूसरे के विरोधी हैं। आत्मा मुक्त होती है, वह स्वच्छन्द विचरण करते हुए अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेना चाहती है। शरीर स्थूल और नश्वर होता है। आत्मा जब अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तब शरीर नष्ट हो जाता है। शरीर की क्षणभंगुरता का ध्यान करके ही मनुष्य सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, वह जन्म-मरण के बन्धनों से रहित होने के लिए मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। किन्तु सांसारिक जीवन की चिन्ताओं से घिरा एक सामान्य व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ तभी हो सकता है जब संसार से दूर रहकर वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त करने का सक्रिय प्रयास करे। संसार से निवृत्त होकर वैराग्यपूर्ण साधना द्वारा जीवन के अन्तिम आदर्श-मोक्ष की प्राप्ति के लिए संन्यासी वर्ग ने जिस सामूहिक संगठन को जन्म दिया वही 'मठवाद' के रूप में प्रचलित हुआ।

प्राचीन भारतीय जीवन का संन्यासधर्मी आदर्श मठ-जीवन को प्रोत्साहित करने में एक विशिष्ट भूमिका रखता है। यदि संघ या मठ-जीवन की कामना के लिए समग्रत: किसी एक भावना को उत्तरदायी ठहराया जाय तो वह भावना जीवन के प्रति भारतीय विचारधारा ही हो सकती है। बुद्ध धर्म के प्रभाव के कारण भारतवासी, जीवन को एक बुराई के रूप में देखने लगे और संसार को एक बन्धन समझकर उससे अपने को पृथक करने के लिए केवल जीवन के परम लक्ष्य-मोक्ष की

१. जे० के० मिश्र, दी सोसियो-इकानोमिक कण्डीशन आफ साधू आरगेनाइजेशन इन पिलिग्रिमेज सेन्टर इन यू० पी०, (पूर्वोक्त), पृ० १६०।

अपेक्षा करने लगे (इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, पृ० ८०३)[१]। जबकि वैदिककाल से ही योगी की अर्धोन्मीलित दृष्टि का वर्णन मिलता है जिसका प्रतीकात्मक अर्थ लोक एवं परमलोक में समन्वय स्थापित करना है। अर्थात् आधी दृष्टि सांसारिक जीवन की ओर सजग रहे और साथ ही आधी दृष्टि परमात्मचिन्तन में लीन रहे।

'मठवाद' की ऐतिहासिकता पर विचार करते हुए आर० एस० हार्डी (ईस्टर्न मोनासिज्म, पृ० ३४८)[२] का कथन है कि यूरोप में मठवाद का प्रचार जिस युग में हुआ उससे कहीं पूर्व ही पूर्व के देशों में मठीय जीवन व्यतीत किया जा रहा था। किन्तु उसके उद्भव का इतिहास उसी प्रकार अज्ञात है जिस प्रकार सर्वप्रथम जिस नदी के तट पर तप आरंभ किया गया होगा, उस नदी की धारा का उद्गम् अज्ञात है। भारतवर्ष में भिक्षुओं की संस्था के चिह्न बहुत पहले से ही दृष्टिगोचर होते हैं। कहा जा सकता है कि पन्द्रह सौ ईसापूर्व एकान्तसेवी संन्यासी या 'श्रमण' उपस्थित थे। ६ सौ ईसवी पूर्व से दो सौ ई० पूर्व तक ऐसे अनेक साधु थे जो सामूहिक संगठनहीन संस्थाओं में समूह बनाकर आश्रमवासी के रूप में रहते थे। उपनिषद् तथा ऐसे ही अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि इस प्रकार समूह में रहने की प्रवृत्ति कुछ हद तक जलवायु, अकाल, प्लेग आदि के कारण उत्पन्न होती थी। एक मठवादी व्यवस्था विभिन्न काल, देश एवं धार्मिक व्यवस्था के बीच मान्य थी।

भारत के सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास में मठवाद की एक विशिष्ट भूमिका रही है। भारत में इसके संस्थागत रूप का दर्शन विहार, मठ, गुरुद्वारा और अखाड़ा के रूप में होता है। ये संस्थागत समूहवादी प्रवृत्तियाँ सामूहिक जीवन पर आधृत थीं और विभिन्न धर्म, संस्कृति एवं सम्प्रदायों के विविध रूपों में दृष्टिगत होती थीं। संगठनात्मक दृष्टि से इनमें अन्तर था, फिर भी इनमें एक समान प्रवृत्ति यह थी कि ये सभी सामूहिक जीवन और उच्च आध्यात्मिक जीवन की खोज में संलग्न थे।[3]

हिन्दू धर्म में मठवाद का वास्तविक स्वरूप प्रथम् बार नवीं शताब्दी में दिखायी पड़ा। जब शंकराचार्य ने अपने दस शिष्यों को लेकर मठवादी व्यवस्था

---

१. जे० के० मिश्र, दी सोसियो-इकोनोमिक कण्डीशन आफ साधू आर्गेनाइजेशन, इन पिलिग्रिमेज सेन्टर इन यू० पी०, (पूर्वोक्त), पृ० १६० पर उद्धृत।

२. वही।

३. एच० डी० भट्टाचार्य, कल्चरल हेरिटेज् आफ इण्डिया, (पूर्वोक्त), पृ० ५८२।

को मान्यता प्रदान की और भारत की चारो दिशाओं में प्रमुख तीर्थस्थानों पर चार मठों की स्थापना करके उसके प्रमुख व्यक्ति को 'जगत्गुरु' की संज्ञा प्रदान की। हिन्दू मठों की यह परम्परा न केवल शैवों वरन् वैष्णवों में भी समानरूप में प्रतिष्ठित हुई। आगे चलकर नागा संन्यासियों के अखाड़ों का उद्भव हुआ। इस प्रकार सिक्ख धर्म के सभी सम्प्रदायों—अकाली, निर्मली तथा उदासीन साधुओं ने भी मठों की स्थापना की। सत्रहवीं शताब्दी तक भारत के अनेक सम्प्रदायों ने मठीय जीवन को अंगीकार कर अपने सम्प्रदाय को सुसंगठित, सुव्यवस्थित एवं सुप्रचारित करने का प्रयास किया।

ईसाई धर्म में मठ-प्रणाली

ईसाई धर्म के प्रचार तथा प्रसार में उनके मठों और मठवासियों से अत्यधिक सहायता मिली है। भारतीय संस्कृति के अलावा एकमात्र ईसाई संस्कृति ही ऐसी है जिसमें संन्यासवाद को एक वैधानिक स्वरूप दिया गया है। ईसाई 'संन्यासवाद' का जन्य इजिप्ट में लगभग ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी में हुआ। जिसके प्रेरक सन्त अन्थोनी थे। सन्त अन्थोनी प्रारम्भ में एकान्तप्रिय संन्यासी का जीवन व्यतीत कर रहे थे किन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि लगभग तीसरी शताब्दी में उनके चारो ओर उनके शिष्यों का समुदाय एकत्र होने लगा और उनकी एकान्तिक जीवनचर्या भंग हो गयी। इस प्रकार 'ईसाई मठवाद' के जन्मदाता सेण्ट अन्थोनी थे। पाश्चात्य ईसाई धर्म में संन्यासवाद तथा 'मठवाद' के क्षेत्र में सेण्ट वेनेडिक्ट का कार्य बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा है। छठीं शताब्दी के आरंभ में उन्होंने योरोपीय जाति के लोगों में प्रचलित मठीय व्यवस्था को विशेष रूप से प्रभावित किया है। उन्होंने योरोपीय लोगों की परिस्थितियों के बीच मठीय जीवन के आदर्शों की स्थापना की।[१]

ईसाई मठवादी व्यवस्था में आचरण एवं संयम संबन्धी अनेक विशेषताएँ भारतीय 'मठवाद' के अनुकूल हैं। गरीबी, ब्रह्मचर्य, वैराग्यपूर्ण जीवन, नम्रता और आज्ञापालन आदि की प्रायः सभी विशेषताएँ ईसाई धर्म में मठीय जीवन से वैसे ही संपृक्त हैं जैसे हिन्दू मठीय जीवन से। ईसाई धर्म की मठवादी व्यवस्था में आत्मदमन, उपवास तथा सांसारिक सुखों का परित्याग करना पड़ता है निर्धनता-पूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है। इन स्थितियों में आचरण में विनम्रता तथा आज्ञापालन को विशेष महत्व दिया गया है। आरंभ में ईसाई मठवादियों को केवल प्रार्थना करनी पड़ती थी। वे सांसारिक कार्यों से बिल-

१. जी० एस० घूरिए, इण्डियन साधूज, (पूर्वोक्त), पृ० ७।

कुछ अलग रहते थे किन्तु बाद में उनके लिए कुछ कार्य भी निश्चित कर दिये गये। सन्त अगस्टीन ने संन्यासियों को कुछ कार्यों के प्रति प्रोत्साहित किया है। उन्होंने उनके लिए शारीरिक तथा मानसिक दो प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया है। शारीरिक कार्यों में मठ के उपयोग की सामान्य वस्तुएँ यथा चटाई आदि का निर्माण करना तथा बौद्धिक कार्यों में धार्मिक रचनाओं के पठन-पाठन पर विशेष बल दिया है। चर्च के कार्यों में सहायता देना प्रत्येक ईसाई मठवासी का कर्त्तव्य है।

ईसाई मठवाद में प्रार्थना को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त मौनव्रत, एकान्तवास और स्थिरता को विशेष महत्व दिया गया है। ईसाई धर्मसेवी जिस मठ का सदस्य बनता है वह आजीवन उसका सदस्य बना रहता है। आरंभिक दिनों में ईसाई संन्यासी अधिकांशतः मरुभूमि या वनों के निर्जन स्थलों में एकान्त जीवन व्यतीत करते हुए स्वयं अपने स्वामी थे, किन्तु कालान्तर में वैयक्तिक जीवन में आने वाली अनेक कठिनाइयों एवं समस्याओं का समाधान करने में अपने को असमर्थ पाने के कारण वे धीरे-धीरे सामूहिक जीवन की ओर आकृष्ट हुए। परिणामतः संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ और उनमें संस्थाओं के प्रधान के चयन का भी क्रम बना और इन प्रधानों के आदेशों पर चलना तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करना मठीय जीवन का अनिवार्य अंग बन गया।[१]

आवास की दृष्टि से संन्यासियों के विविध रूप

ईसाई धर्म में मठीय जीवन के विविध रूप मिलते हैं—

(१) **एकान्तवासी**—ये संन्यासी प्रायः मरुभूमि तथा निर्जन वनों में एकान्तवास करते थे। इनमें सन्त योहन बपतिस्मा, सन्त पाल, सन्त एन्थोनी प्रमुख हैं।

(२) **अनाकोरिट्स (Anochorites)**—ये भी निर्जनसेवी होते हैं किन्तु इनका उद्भव मिस्र, प्लेस्टाइन और सीरिया में हुआ था। कमाल डोलसे, कारयूनियनस, सन्त आस्टीन इसी प्रकार के सन्त थे।

(३) **एकान्तवासी एवं स्तम्भ निवासी**—ये सन्त चहारदीवारी के भीतर का जीवन पसन्द करते थे। सामाजिक जीवन यापन तथा समाज के सम्पर्क में रहना इन्हें पसन्द नहीं था। स्तम्भवासी सन्तों का जीवन और भी विशिष्ट ढंग का था। वे स्तम्भ के ऊपर निवास करते थे। किन्तु इनकी संख्या अत्यल्प थी।

(४) **द्रुमाश्म (Dendrites)**—ये संन्यासी पेड़ की कोटरों या उस पर मचान बनाकर रहते थे।

---

१. श्यामधर सिंह, कैथोलिक ईसाई मिशन–एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, (पूर्वोक्त), पृ० ४४–४५।

(५) मठवासी (Cenobites)—मठवासी संन्यासियों की जीवनचर्या एकान्तवासियों से अलग ढंग की थी। ये सामान्य लोगों की भाँति सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे। एकान्तवासियों की तुलना में ये समाज के प्रति अधिक उत्तरदायी थे। ये अपने वैयक्तिक जीवन के सुधार के साथ ही साथ सामाजिकों के जीवन को भी सुधारना चाहते थे। ये सन्त समाज के लिए अधिक कल्याणप्रद सिद्ध हुए हैं। मठीय जीवन को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित करने में सन्त वेसेल और सन्त बेनेडिक्ट ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, उन्होंने मठीय जीवन की नियमावली भी प्रस्तुत की थी।

(६) सेराबाइट्स और गिरोवेगिर सरकम सेलोन्स (Sarabaites and Gyrovagirc Cirumcerllones)—इस प्रकार के संन्यासियों का गठन सन्त जेरोम ने किया था। इस वर्ग में सैरावाइट्स संन्यासी दो या तीन की संख्या में एक मठ में रहते थे। ये किसी विशिष्ट नियम से बँधे नहीं थे। इन्हें प्रत्येक कार्य की स्वतन्त्रता थी। दूसरे वर्ग के लोग एक मठ से दूसरे मठ में घूमते रहते थे। ये असत् प्रकृति के सन्यासी थे। इनके अस्थिर जीवन के प्रति सच्चे ईसाई सन्त प्रायः असन्तुष्ट रहते थे।

(७) काटेमटी (Catemati)—इस प्रकार के संन्यासी अपेक्षाकृत अधिक रूढिवादी थे। ये शरीर के प्रति बिलकुल उदासीन रहते थे। इन्हें अपने शरीर की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती थी। कठिन जीवन से इन्हें प्रेम था। ये दाढ़ी रखते और नंगे पैर विचरण करते थे। ये काले रंग का कपड़ा पहनते थे।

(८) आपोटिक्टीज (Apoticties)—इस प्रकार के ईसाई संन्यासी येरुसलम तथा एशिया माइनर में मिलते हैं। इनमें अधिकांश एक मठ में निवास करते तथा उसके नियमों का पालन करते हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो भ्रमणशील एवं अस्थिर निवास के पोषक हैं, जो एक मठ से दूसरे मठों में प्रायः घूमते रहते हैं।

ईसाई संन्यासियों के बीच पनपने वाले मठीय जीवन का आरम्भ तप साधकों से ही हुआ है। उस समय वास्तव में तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करने वाले एकान्तसाधक ही संन्यासी की संज्ञा पाते थे। तपश्चर्या और मठवाद एक दूसरे से भिन्न हैं। तपश्यचर्या वैयक्तिक जीवन का आधार लेकर चलती रहती है जबकि मठवाद एक सामाजिक संस्था के रूप में संगठित हुआ है (इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स)[1]। ईसाई धर्म के प्रवर्तकों में सुख त्याग तपस्या की भावना विद्यमान थी। तप एवं त्याग का वैयक्तिक जीवन व्यतीत करते हुए

---

१. श्यामधर सिंह, कैथोलिक ईसाई मिशन : एक समाजशास्त्री अध्ययन, (पूर्वोक्त), पृ० ४६ पर उद्धृत।

जब ईसाई संन्यासियों ने तपश्चर्या को सामूहिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया तथा उसके लिए एक संगठन को जन्म दिया, उसी समय से ईसाई धर्म में मठवाद का सूत्रपात हुआ। आगे चलकर ईसाई धर्म के अन्दर मठवाद दो समूहों में विभक्त हो गया—एक यहूदी तथा दूसरा इसेंस और थेराप्युटे (Jews, Essenes and the Therapeutae) दोनों वर्गों ने मठवादी जीवन को प्रश्रय दिया और इसके माध्यम से ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य अपने-अपने ढंग से सम्पन्न किया।

ईसाई धर्म में मठवाद का विकास

ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार विश्व के प्राच्य एवं पाश्चात्य देशों में बहुत पहले से ही रहा है। पाश्चात्य देशों की अपेक्षा प्राच्य देशों में ईसाई धर्म में मठवाद के उदय की निश्चित रेखा खींचना बड़ा कठिन कार्य है फिर भी प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर इतना निश्चित है कि ईसाई धर्म में मठवाद का उदय तीसरी या चौथी शताब्दी में प्राच्य देशों में हो चुका था और ईसाई सभ्यता ही हिन्दू सभ्यता के अतिरिक्त एकमात्र सभ्यता है जिसमें संन्यासवाद को जीवन के एक वैधानिक ढंग के रूप में स्वीकृति प्राप्त है। प्राच्य देशों में ईसाई धर्म के अन्तर्गत मठ-प्रणाली का उदय सन्त एन्थोनी के जीवनकाल में ३०५ ई० में हुआ था[१]। मिश्र में इसका अत्यधिक प्रसार हुआ था। सन्त एन्थोनी ने जिस मठ की स्थापना की थी वह वास्तव में संन्यासियों का एक समुदाय था जो सामूहिक सन्यास जीवन के लिए तत्पर हुए थे और कतिपय नियमों से एक दूसरे से सम्बद्ध थे। इसी समय मिश्र में अगोनियस तथा लायेर ने भी एकान्तवासी संन्यासियों के लिए मठ की स्थापना की थी। इनके शिष्यगण झोपड़ी या कुटिया बनाकर रहते थे। ये शनिवार और रविवार को मठीय चर्च में एकत्र होकर सामुदायिक कार्य-कलापों का सम्पादन करते थे। इन धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिए आठ पुरोहित थे। क्लासियक इतिहास के अनुसार नाइट्रिया (Nitria) की मरुभूमि में छ सौ एकान्तवासी संन्यासी थे। इनमें प्रत्येक सन्यासी को जीवनयापन के लिए कठिन श्रम करना पड़ता था। सन्ध्या के

---

१. "Basides Indian Culture, Christian Culture is the only one which has recognized asceticism as a legitimate mode of life. Christian Asceticism is known to have begum in Egypt about the third or the fourth century A. D. and is associated with St. Anthony".

—G. S. Ghurye, Indian Sadhus, (op. cit.), p. 6.

समय इनके यहाँ सामूहिक प्रार्थना एवं भजन का विधान था। सभी लोग सामूहिक रूप में अनुशासित जीवन व्यतीत करते हुए अपनी तप-साधना में तत्पर थे। अमोनियस की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यगण मठीय जीवन की परम्परा को अक्षुण्ण-रूप में चलाते रहे।

नाइट्रिया पर्वत के ६ मील दक्षिण में स्केट (Scate) की मरूभूमि में एकान्तवासी संन्यासियों के एक दूसरे उपनिवेश का प्रादुर्भाव हुआ। ये लोग भी चर्च में शनिवार तथा रविवार को सम्मिलित होते थे। उनमें मेक्रियस (Macrius) महान् (३८३-३८७) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कालान्तर में नाइट्रिया एवं पूरा मिस्र मठवासियों का बहुत बड़ा गढ़ बन गया। थेबाइड (Thebaid), लिकोपोलिस (Lecopolis), कोप्रिस (Kopris) तथा आक्जिकस (oxyrhnchues) में दस हजार भिक्षु और बीस हजार भिक्षुणियाँ रहती थीं। इसी प्रकार अरसिनो (Arsinoe) में भी दस हजार भिक्षु निवास करते थे (इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, पृ० ७८८)[१]।

मिश्र में याकोमियस ने भी मठीय जीवन की ओर ईसाई संन्यासियों का ध्यान आकृष्ट किया था। तेवेना के तट पर उसने स्वयं एक मठ की स्थापना की थी। वहाँ मठीय जीवन के रूप में वही पाया जाता है। याकोमियस के बाद उसके शिष्य 'स्कोनडी' ने भी संन्यासियों के एकान्त जीवन को मठीय जीवन में स्थानान्तरित करके मठवाद के व्यापक विकास में योगदान दिया था।

मिस्र के बाद मठवाद का प्रसार सिनाइटिक प्रायद्वीप में हुआ, जहाँ कई मठों की स्थापना हुई। इसी प्रकार प्लेस्टाइन तथा सीरिया में मठवाद का विकास हुआ। प्रसिद्ध ईसाई सन्त 'जेरोम' (सन् ३७३) चाकिस (Chalcis) की मरूभूमि में एकान्तवासी संन्यासी के रूप में रहा करते थे। इसके बाद एशिया माइनर, कान्स्टैन्टीनोपिल (constantinople) और साइप्रस (Cyprus) तक भी मठवाद का प्रसार हुआ। केपाडोसिया (Cappadocia) में सन्त ग्रिगोरी, नजीयांजुस, और सन्त वेसिल, सन्त ग्रिगोरीनिस्सा आदि ने मठवासी संन्यासियों के लिए अनेक विधि-विधानों का निर्माण किया। सन्त बेसिल द्वारा प्रतिपादित मठीय आचरण एवं नियमों का पालन आजतक प्राच्य मठवासियों में बराबर परम्परा के रूप में होता चला आ रहा है[२]।

---

१. श्यामधर सिंह, कैथोलिक ईसाई मिशन : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, (पूर्वोक्त), पृ० ४९ पर उद्धृत।

२. वही, पृ० ४४-४५।

प्राच्य देशों से मठवादी व्यवस्था का प्रसार पाश्चात्य साम्राज्यों में भी हुआ। इस सम्बन्ध में सन्त बेनेडिक्ट (४८०–५४०)[1] की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने ईसाई धर्म में मठीय जीवन को पाश्चात्य परिस्थितियों के अनुकूल बनाने तथा तत्कालीन समाज में उनके संगठन को स्थायी बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इटली, ब्रिटेन, आयरलैंड, सेल्टस, स्पेन, अफ्रीका आदि देशों में मठवाद का शुभारम्भ बेनेडिक्ट के पूर्व ही हो चुका था किन्तु उनके संगठनों में विशेष सजीवता नहीं थी। इन संगठनों को अधिक व्यावहारिक एवं समाजोपयोगी बनाने का कार्य बेनेडिक्ट के अनुयायियों ने ही किया। उन्होंने सविस्को और मान्टिकैसिनो में दो मठों की स्थापना की और उनमें रहनेवाले मठवासी संन्यासियों के लिए अनेक नियम भी बनाये। प्रारम्भिक मध्ययुग के महान पोप सन्त अगस्टाइन (६०४ ई०) ने सन्त बेनेडिक्ट द्वारा बनाये गये नियमों के आधार पर अपने घर में ही एक मठ की स्थापना की थी। इटली तथा अन्य योरोपीय देशों में सन्त बेनेडिक्ट द्वारा प्रतिपादित मठीय जीवन के आदर्शों का पालन ५५० से ११५० ई० तक होता रहा है।[2] 'ऐंग्लो सेक्सन' जाति में जिस ईसाइयत की नींव सन्त अगस्टाइन ने डाली थी वह मठीय प्रतिमान के ऊपर ही आधारित थी।[3]

फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में १३वीं शताब्दी तक अनेक मठों की स्थापना हो चुकी थी। इसी काल में फ्रांसिस्कन, डोमिनिकन, कारमेल्टिस, और आगस्तिन

---

१. सन्त बेनेडिक्ट का जन्म सन् ४८० ई० में इटली के एक उच्च परिवार में हुआ था, उन्होंने युवावस्था में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था। धीरे-धीरे उनके अनेक अनुयायी हो गये। उन्होंने अनेक मठों की स्थापना की। बेनेडेक्टाइन सम्प्रदाय के समस्त व्यक्ति जितेन्द्रियता, निर्धनता और आज्ञा पालन की शपथ लेते थे।

२. For about 600 years, c.550c. 1150, in Italy and other European countries monastic life based on the code of St. Benedict was the only tyfe of religious life. This monastic infiuence continued to dominate the Church untill the emergence of the universities and the foundation of the orders of Mendicant Friars in the second half of the 12th century.

—G. S. Ghurye, Indian Sadhus, (op. cit.), p. 7.

३. श्यामधर सिंह, कैथोलिक ईसाई मिशनः एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, (पूर्वोक्त), पृ० ४९।

संन्यासियों के धार्मिक संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ था। किन्तु १४वीं, १५वीं शताब्दी तक मठवाद में अनेक व्यभिचारों का प्रादुर्भाव हो गया और सन् १५१७ ई० में मार्टिनलूथर किंग ने कैथोलिक चर्च की बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाई। परिणामतः एक बार पुनः मठीय जीवन में पवित्रता, सादगी एवं सरलता लाने का प्रयास किया गया।

१९वीं शताब्दी में रोमन कैथोलिक मठों का विकास नये धार्मिक संगठनों के रूप में हुआ। इस समय अनेक धर्म संघों की स्थापना हुई। इन धर्म संघों के सदस्य जीवन भर के लिए निर्धनता, ब्रह्मचर्य तथा आज्ञापालन का व्रत लेते हैं तथा चर्च द्वारा अनुमोदित धार्मिक नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। इन धर्म संघों से सम्बन्धित हजारों स्त्री-पुरुष मिशन क्षेत्रों में काम करने लगे।

२०वीं शताब्दी के इस विज्ञान-प्रधान युग में भी मठीय जीवन की महत्ता बराबर बनी हुई है। भौतिक सुखों के पीछे अनेक प्रकार के षडयन्त्र चल रहे हैं। नैतिक मूल्यों का बराबर ह्रास होता जा रहा है। ऐसे समय में लोगों में सादगी, सरलता एवं आडम्बरहीन जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयास प्रत्येक धार्मिक संगठन कर रहा है। इन आदर्शों को प्राप्त कर लोगों में भाई चारे की भावना उत्पन्न करने के लिए कैथोलिक मिशन पुनः मठीय जीवन स्थापित करने के लिय प्रयत्नशील हैं। किन्तु प्रोटेस्टैण्ट सुधारवादी न केवल ईसाई धर्म में सन्यास-वाद का विरोध करते रहे हैं वरन् ईसाई मठों को नष्ट-भ्रष्ट करने में भी ये सहायक हुए हैं[१]।

महिला-मठ या आश्रम (कनवेन्ट)

'कानवेन्ट' शब्द लैटिन भाषा में 'कान्वेन्टस' शब्द से निष्पन्न है। इसका अर्थ 'सभा' अथवा 'जनसमुदाय' है। मठवाद के इतिहास में इसके दो भिन्न अर्थ

---

१. 'It is well known that the protestant reformation of Christianity not only protested against asceticism but also led to the despoilation of the monasteries. Protestant Christianity having rejected ascetic and monastic life altogather has acclaimed only one ideal type namely,that of the householder or the non-monk catholic christianity, however has continued to own and encourage the monkish type in spite of various vicissitudes and difficulties.

—G. S. Ghurye, Indian Sadhus, p. 8–9.

हैं—एक धार्मिक समुदाय विशेषकर भिक्षुणियों का समुदाय, दूसरा वह भवन जिसमें धार्मिक समुदाय के लोग निवास करते हैं। आजकल इसका अर्थ ईसाई भिक्षुणियों के निवास-स्थान से लगाया जाता है। इसे हम ख्रीष्टीय महिला मठ या विहार की संज्ञा दे सकते हैं किन्तु पहले इसका अर्थ 'महिलाओं' के ही संगठन से प्रतिबद्ध नहीं था[1]।

आजकल आधुनिक धर्म संघ एक सीमा तक लोकोपकारी एवं समाजोपयोगी कार्यों में जुटा हुआ है। उसके माध्यम से अनेक विद्यालयों, धर्मशालाओं, चिकित्सालयों, अनाथालयों, दातव्य औषधालयों आदि की स्थापनाएँ हुई हैं। ईसाई धर्म के 'कानवेन्ट' प्रजातन्त्रीय प्रतिमानों पर आधारित हैं। यहाँ सामूहिक निवास; सामूहिक भोजन के साथ सामूहिक श्रम पर भी जोर दिया जाता है। 'कानवेन्ट' का स्थानीय संचालन महिला प्रधान द्वारा होता है। कानवेन्ट के प्रधान के आदेशों का पालन करना, जीवन भर ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा निर्धनतापूर्ण जीवनयापन करना प्रत्येक पादरिन के लिए आवश्यक होता है। कानवेन्ट में सेवा भावना से प्रेरित नारियों को ही स्थान दिया जाता है। इन्हें प्रायः १८-२० वर्ष की अवस्था में कानवेन्ट में प्रवेश दिया जाता है। शिष्यता ग्रहण करने के बाद एक अथवा दो वर्ष का तक नयी शिष्याओं को कानन्वेट-जीवन के अनुसार अभ्यस्त होने का अवसर दिया जाता है। तीसरे वर्ष से ये आदेशपालन, आजीवन ब्रह्मचर्य धारण एवं निर्धनतापूर्ण जीवन यापन का विधिवत व्रत धारण करती हैं। इस बीच संघ तथा संघ की सदस्याओं—दोनों को एक दूसरे की परिस्थितियों एवं आचरणों को समझने का पूरा अवसर मिल जाता है। यदि दोनों सन्तुष्ट हों तो सदस्या को कानवेन्ट भी दीक्षित कर दिया जाता है और सदस्याएँ धर्मसंघीय जीवन भर उक्त तीन व्रतों का पालन करती रहती हैं।

ईसाई धर्म के आरम्भिक दिनों में ईसाई धर्म प्रचार-प्रसार में इन कानवेन्टों का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। आजकल कैथोलिक ईसाई धर्म के प्रचार तथा प्रसार में कानवेन्ट विशेष रूप से सहायक हो रहे हैं।

ईसाई मठीय जीवन में आचार-विचार सम्बन्धी नियम

ईसाई धर्म में 'प्रोटेस्टैन्ट' सम्प्रदायवादी 'सन्यासवाद' तथा 'मठप्रणाली' के

---

1. 'A religious association, a body of monks, friars or nuns forming one local community (The restriction of word to convent of women is not historical)'.

—William Little H. W. Fowler, The Shorter oxford English Dictionary, (London : oxford University Press, 1970), p.386.

घोर विरोधी रहे हैं। मठ प्रणाली को अस्त-व्यस्त करने में उनकी विशेष भूमिका रही है किन्तु कैथोलिक ईसाइयत के अनुयायी विकट परिस्थितियों के बीच भी संन्यासवाद एवं 'मठवाद' के समर्थक रहे हैं। 'प्रोटेस्टैन्ट' पन्थावलम्बी ईसाई संन्यासवादी एवं मठवादी जीवन का विरोध करते हुए गृहस्थों के लिए केवल एक ढंग के आदर्शवादी जीवन (आइडियल टाइप) को महत्व देते हैं।[1] कैथोलिक ईसाइयों ने दो आदर्शों को अपनाया है—एक संन्यासी जीवन, दूसरा गृहस्थ जीवन। गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले ईसाई ईसा के आदर्शों पर चलते हुए तथा अपने घर में ही अपने दैनिक कार्य-कलापों को करते हुए ईसाइयत का अनुपालन करते हैं जबकि संन्यास-जीवन व्यतीत करने वाले कैथोलिक ईसाई स्वावलम्बनपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए न केवल समाजसेवा का कार्य करते हैं वरन् गृही ईसाइयों को आध्यात्मिक शिक्षा भी देते हैं। कैथोलिक पादरियों का जीवन बहुत कुछ भारतीय संन्यासियों से मिलता-जुलता है। इनका क्रमिक विकास भी भारतीय संन्यासियों के ही आदर्शों पर सर्वप्रथम इजिप्ट में हुआ था।[2]

इस प्रकार कैथोलिक धर्म में दो प्रकार के ईसाई धर्मावलम्बी होते हैं—एक गृही, दूसरे गृह-त्यागी। गृहत्यागी पादरी घर से सम्बन्ध विच्छेद कर ईसाई धर्म के प्रसार के लिए अपने को समर्पित कर देते हैं। ऐसे ईसाई संन्यासी या पादरियों के लिए आचार-विचार विषयक कुछ नियमों का निर्धारण किया गया है—

(१) गृह-त्याग—ईसा के अनुसार गृह एवं परिवार का त्याग कर देने से व्यक्ति जीवन के अन्तिम उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठतर स्थान प्राप्त कर लेता है। गृहत्याग से वह मानवता की सेवा के लिए अपने को पूर्णतः समर्पित कर देने में समर्थ हो जाता है। यद्यपि आरम्भ में गृहत्याग पर अधिक बल नहीं दिया जाता था किन्तु आगे चलकर ५वीं शताब्दी तक इस नियम को अनिवार्य बना दिया गया है। यह आदर्श एक प्रकार से हिन्दू मठीय जीवन के आदर्शों पर आधारित है।

---

1. Protestant Christianity having rejected ascetic and monastic life altogather has acclaimed only one ideal type, namely, that of the householder, or the non-nonk. Catholic Christianity, however, has continued to own and encourage the monkish type inspite of various vicissitudes and difficulties'.

—G. S. Ghurye, Indian Sadhus (op. cit.), p. 9.

२. वही, पृ० ९।

(२) लबादा अथवा वस्त्र धारण—कैथोलिक संन्यासियों के लिए रोमी लबादा अथवा एक विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करना आवश्यक है।

(३) क्रास—सभी संन्यासियों के लिए क्रास पहनना आवश्यक है।

(४) निर्धनता—प्रत्येक कैथोलिख संन्यासी आजीवन निर्धन रहने का व्रत लेता है।

(५) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य कैथोलिक संन्यासियों का अनुशासनात्मक प्रतिबन्ध है।

(६) आज्ञा-पालन—मठ के प्रधान या मिशन के अध्यक्ष के आदेशों का पालन करना प्रत्येक पादरी का अनिवार्य कर्त्तव्य होता है।

(७) दूसरों के उपार्जन पर आश्रित—इनके भोजनादि की व्यवस्था चर्च के माध्यम से होती है।

नवप्रविष्ट ईसाई संन्यासी के लिए एक-दो वर्ष का परीक्षणकाल दिया जाता है। इस अवधि में अपने कार्यों में सफल होने के बाद उन्हें दीक्षित कर दिया जाता है।

कैथोलिक ईसाई मिशन

महात्मा गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य सुसम्पन्न किया था। उसी प्रकार ईसा ने भी अपने शिष्यों के माध्यम से युगवाणी या मिशन तथा युगादर्श को सम्पूर्ण संसार के समक्ष उपस्थित किया। महात्मा ईसा ने ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अपने प्रिय शिष्यों को अपने पास बुलाकर उनमें से बारह शिष्यों का चयन किया था। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवनकाल में ही अपने मिशन (सन्देश) के प्रचार-प्रसार के लिए एक मिशन की स्थापना कर दी थी। उस मिशन का अध्यक्ष संत पीटर को नियुक्त किया गया था। संत पीटर संन्यास एवं मठीय परम्परा में पूर्ण आस्था रखते थे। उन्होंने ईसा के सन्देशों को संसार भर में प्रचारित-प्रसारित करने का प्रयास किया। किन्तु कालान्तर में प्रोटेस्टैन्ट सम्प्रदाय के उदय के कारण इसकी एकता को धक्का लगा। फिर भी इस विरोध के कारण कैथोलिक मिशनरियों के प्रचार कार्य में और अधिक तेजी आ गयी और वे संन्यासपूर्ण तथा संन्यासरहित (गृही), दोनों जीवन आदर्शों को अपनाकर मानवता की सेवा में सन्नद्ध हैं, संन्यासपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले कैथोलिक संन्यासी आध्यात्मिकता के प्रचार, जनसेवा तथा ईसा के सन्देशों के प्रसार कार्य द्वारा लोकहित के कार्यों में संलग्न हैं।[1]

---

1. 'Catholic Christian Culture has continued to be served by two ideal types–the ascetic and the non-ascetic. The ascetic ideal types has exerted not only to spritualize the other type but a se to do selfless service in the cause of society'.
—G S. Ghuriye, Indian Sadhus, (op. cit), p.9.

कैथोलिक संन्यासियों के आदर्श, भारतीय मठवादी परम्परा से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। महात्मा बुद्ध ने जिस प्रकार अपने धार्मिक विचारों को स्थायी बनाने के लिए लोकतन्त्रात्मक आदर्शों पर संघ की स्थापना की थी और परिव्राजकों के लिए अनेक नियम-उपनियम भी बनाये थे उसी प्रकार से महात्मा ईसा ने भी अपने जीवनकाल में अपने चुने हुए शिष्यों का एक मिशन बनाया था जो आज भी उत्तराधिकार संगठनपूर्वक पूर्व निर्मित आदर्शों पर चलते हुए कैथोमिक मिशन के रूप में वर्तमान है। धर्म संघों के संगठन, संन्यासियों के आचरण तथा धर्माध्यक्षों की नियुक्ति आदि सम्बन्धी नियम बहुत कुछ भारतीय संन्यासियों, मठवासियों, महन्तों तथा मण्डलेश्वरों से मिलते-जुलते हैं।

4
शैव मठ : परिचय

दार्शनिक-पृष्ठभूमि

सभ्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य एवं प्राचीन भारतीय चिन्तन का उत्कृष्टतम भण्डार वैदिक साहित्य है। ऋग्वेद में वर्णन आया है कि विष्णु अपने तीन चरणों से सारी सृष्टि को धारण करता है—'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपार्दाभ्य: अतो धर्म्माणि धारयन्'।[१] सम्पूर्ण प्रकृति त्रिगुणात्मिकता है—सत, रज और तम–विष्णु के ही तीन पद हैं। प्राचीन भारतीय समाज का गुण कर्मानुसार वर्गीकरण—'वर्ण-विभाजन'–इसी सत, रज और तम की प्रधानता के आधार पर किया गया है। सृष्टि की निरन्तरता का रहस्य—सृजन, पोषण और संहार इन्हीं तीन गुणों पर आधृत हैं।

सृजनकर्त्ता ब्रह्मा के उपासकों की संख्या अत्यल्प है—पूरे भारत में 'ब्रह्मा' का केवल एक मन्दिर दक्षिण भारत में पाया जाता है। सृष्टि के रक्षक विष्णु के उपासकों को 'वैष्णव' और महेश-रुद्र या शिव के उपासकों को 'शैव' के रूप में जाना जाता है। शिव के कुछ उपासकों ने उनके 'अर्धनारीश्वर' स्वरूप की उपासना की है। शक्ति के बिना शिव सामर्थ्यहीन हैं—'शव' हैं, ऐसा मानने वाले शक्ति के उपासक ही शाक्त-सम्प्रदाय के जनक हैं। देश के विभिन्न भागों में पौराणिक काल से शक्तिपीठों की स्थापना है जिससे शाक्त सम्प्रदाय के लोग प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

दशनाम शैव मठ : स्थापना एवं साम्प्रदायिक विशिष्टता

सर्वप्रथम आदि शंकराचार्य (सम्वत् ८४५, ८७७ वि०) ने बौद्ध और जैनधर्मावलम्बियों के अवैदिक नास्तिक सिद्धान्तों का खण्डन कर वैदिक दर्शन-अद्वैत वेदान्त और श्रुति, स्मृति प्रतिपादित सनातन धर्म को तर्कपूर्ण आधार प्रस्तुत किया। आपने अपने दर्शन तथा वैदिक धर्म के प्रचारार्थ सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर वेद विरुद्ध मतावलम्बियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अपने तार्किक प्रवचनों द्वारा सर्वसाधारण को प्रभावित किया और देश की चारों दिशाओं में चार प्रधान केन्द्रों के रूप में मठों-

---

१. दयानन्द, धर्मविज्ञान, (बनारसः भारत धर्म महामण्डल, शास्त्र प्रकाशन विभाग, १९३९), पृ० ७ पर उद्धत।

पीठों की स्थापना की। उत्तर में ज्योतिर्मठ, दक्षिण में शृंगेरी मठ, पूर्व में गोवर्द्धन मठ और पश्चिम में द्वारका मठ की स्थापना कर अपने चार प्रमुख शिष्यों को अपने प्रतिनिधि के रूप में 'शंकराचार्य' पद पर प्रतिष्ठित कर अपने 'मठाम्नाय' ग्रंथ द्वारा यह व्यवस्था दी कि भविष्य में इस पद पर प्रतिष्ठित होने वाले सभी आचार्य उन्हीं के 'रूप' में 'शंकराचार्य' कहे जायेंगे।

वैदिककाल से ही 'शिव' को प्रधान देवता के रूप में मानने वाले संन्यासियों की सुदीर्घ परम्परा शंकराचार्य के बहुत पहले से चली आ रही थी। नारायण, ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव, गौड़पादाचार्य और गोविन्दाचार्य की शिष्य परम्परा में उत्पन्न शंकराचार्य ने सभी शैव संन्यासियों को दश उपाधियाँ—गिरि, पुरी, भारती, वन, पर्वत, अरण्य, सागर, तीर्थ, आश्रम और सरस्वती प्रदान कर एकताबद्ध किया। दशनाम संन्यासियों का संबंध चारों प्रधान मठों से जोड़कर उनका कार्य-क्षेत्र, उनका आम्नाय, गोत्र, देवता, वेद, महावाक्य आदि निर्धारित कर सुस्पष्ट आचार संहिता प्रस्तुत की है। दशनाम संन्यासियों का यह सम्प्रदाय अद्वैतवादी शैव के रूप में जाना जाता है। इन्हीं के स्थायी आवास शैव मठ के रूप में देश के विभिन्न भागों में स्थापित हैं।

सभी दशनाम-संन्यासी 'दण्डी', 'परमहंस' और 'नागा' श्रेणी में विभक्त हैं। 'नारदपरिव्राजकोपनिषद्' में वर्णित विधि से इन्हें संन्यास की दीक्षा दी जाती है। इनका मुख्य संस्कार 'श्राद्ध', 'सावित्रीमंत्र' तथा 'विरजा होम' से संबंधित कर्मकाण्ड है। 'दण्डी' संन्यासी आजीवन 'दण्ड' धारणा करते हैं जो बाँस की छड़ी होती है जिसके ऊपरी भाग में गेरुआ वस्त्र और पवित्र यज्ञोपवीत बंधा होता है। दण्डी संन्यासी ब्राह्मण वर्ण से ही लिए जाते हैं। दशनामी संन्यासियों में केवल तीर्थ, आश्रम और 'सरस्वती' ही दण्डी हो सकते हैं। सामान्यतया 'ब्रह्मचर्याश्रम समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' के अनुसार सभी आश्रमों से होकर ही संन्यास आश्रम में प्रवेश करने का निर्देश दिया गया है। किन्तु सन्यास आश्रम का महत्व इस बात में है कि इस आश्रम में ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधे भी प्रवेश लिया जा सकता है।

संन्यास की दीक्षा लेने के सात दिन के अनन्तर जो संन्यासी दण्ड त्याग देते हैं उन्हें त्यक्त दण्डी कहते हैं। यह 'द्विज', ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण से लिए जाते हैं। त्यक्त दण्डी में ही परमहंस और नागा दो उपभेद हैं। परमहंस की दीक्षाविधि वही है जो ऊपर संन्यासाश्रम में प्रवेश की विधि बतलाई गयी है। इन परमहंस संन्यासियों का सम्बन्ध उन सात अखाड़ों से है जिन्होने वैदिक धर्म की रक्षा के लिए शास्त्र के साथ ही शस्त्र का भी प्रयोग किया है। परमहंसों को दिगम्बर भी कहते हैं।

नागा संन्यासियों की प्रवेश-विधि अन्य संन्यासियों से भिन्न है। सर्वप्रथम नव-प्रवेशार्थी किसी 'मढ़ी' से संपर्क करता है जो कुम्भ के अवसर पर उसे 'धूनी वाले बावा' के समक्ष प्रस्तुत करता है, जो 'गिरि' और 'पुरी' उपाधिकारी किन्हीं दो संन्यासियों को उस प्रवेशार्थी के पूर्व जीवन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए नियुक्त करते हैं। जब उनसे अनुकूल सूचना मिल जाती है तो दो दूसरे नवयुवक संन्यासियों से उसके सभी अंगों की परीक्षा कराई जाती है। यदि उसके सभी अंग ठीक हुए, शरीर से स्वस्थ पाया गया, कहीं कटा या टूटा नहीं है तो उसे 'असल' घोषित करके धूनी के वावा के समक्ष ले आते हैं जो संन्यास की सामान्य प्रक्रिया 'श्राद्ध' विरजा होम तथा सावित्री मंत्रोपरांत अपने हाथ में उसका हाथ पकड़कर निम्न प्रतिज्ञा कराते हैं—(१) व्यक्तिगत सम्पत्ति-संग्रह नहीं करेंगे। सब सम्पत्ति नागा पञ्चायत-अखाड़े की होगी। (२) अखाड़े की सम्पत्ति का उपयोग पूरा करेंगे लेकिन चुरायेंगे नहीं। (३) अपना अखाड़ा छोड़कर दूसरे अखाड़े पर नहीं जायेंगे। (४) आपस में दूसरे नागा से कभी लड़ेंगे नहीं। (५) कोई नशा कभी नहीं करेंगे। (६) अपने से बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेंगे। इसके बाद संबंधित अखाड़े के 'गुरु' की तीन बार जय बोलते हैं।

तीन दिन के उपवास के अनंतर प्रेषण मंत्र दिया जाता है जिसके बाद ही वह दण्ड त्याग देता है। प्रातः ३ बजे के लगभग अपने अखाड़े के परम्परागत अस्त्र 'माला' के पास खड़ा होता है और उसका साधक गुरु उस पर पवित्र जल छिड़ककर उसकी जननेन्द्रिय की वीर्यवाहिनी नसें खींचकर मसल देता है जिसे 'तंगतोड़' संस्कार कहते हैं। इस संस्कार के तीन वर्ष पश्चात् वह पूर्ण नागा दिगम्बर हो जाता है।

समस्त 'नागा' संन्यासी सात अखाड़ों के रूप में संगठित हैं। महानिर्वाणी, आनंद, अटल, आवाहन, जूना, निरंजनी और निर्वाणी। सभी अखाड़े ५२ मढ़ियों तथा ८ दावों में विभक्त हैं जिनका प्रशासन प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित संविधान द्वारा निर्मित पंचायत द्वारा होता है। समस्त दशनाम संन्यासी अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि के आधार पर 'कुटीचक', 'बहूदक', 'हंस' और 'परमहंस' के रूप में श्रेणीबद्ध हैं।

उपर्युक्त समस्त शैव संन्यासी शिखा-सूत्र त्यागकर गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं। शरीर पर भस्म या विभूति लगाते हैं। मस्तक पर तीन आड़ी रेखायें चंदन या विभूति से खींचकर बीच में या नीचे गोल तिलक लगाते हैं। कुछ लोग अर्धचंद्राकार बनाकर उसके बीच में विंदु देते हैं। गले में रुद्राक्ष की माला पहनते हैं। सावित्री मंत्र पढ़ते हैं। अद्वैतवादी संन्यासी पंचदेव अर्थात् शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य तथा गणेश की उपासना करते हैं।

कनफटा शैव मठ

योगियों की परंपरा में कनफटा शैव अत्यन्त प्राचीन है। नाथ पंथ के प्रवर्त्तक गुरु गोरखनाथ ने इनका पुनर्गठन दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किया। इस पंथ के योगियों की मान्यता है कि जब तक शरीर तथा उसकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं लाई जातीं, प्राणों के नियमन पर पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त होता तथा अपनी चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध नहीं हो जातीं, तब तक वह निर्मल अथवा निस्तरंग आत्मतत्व हमारे अन्तःकरण में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता। योग-साधना का मुख्य ध्येय किसी प्रकार चित्त वृत्तियों की बहिर्मुखता या बहुमुखता को अन्तर्मुखता या एकमुखता में परिणत करना है।[१]

गुरु गोरखनाथ ने हठयोग की विवेचना करते हुए लिखा है कि "शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग यदि अवरुद्ध कर लिया जाय तो उसका व्यापार ६४ संधियों में होने लगेगा। इससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक एक ऐसे सिद्ध में परिणत हो जायगा जिसकी छाया नहीं पड़ती।"[२]

नाथ पंथ के प्रवर्त्तक गोरखनाथ ने ही कान में छिद्र कराके कुण्डल पहनने की परंपरा चलाई। ये कनफटे योगी 'शिव' को सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में पूजते हैं। यह हठयोग और तांत्रिक उपासना को ही मोक्ष का साधन बतलाते हैं। इस पंथ के समस्त संन्यासी गोरखनाथ मठ गोरखपुर के ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ के प्रयत्न से स्थापित 'अखिल भारतवर्षीय भेष बारह पंथ-योगी महासभा' द्वारा इस समय संगठित हैं। यह बारह शाखायें देश के भिन्न भिन्न भागों में विभिन्न काल में हुए सिद्ध नाथों से संबंधित हैं। नाथपंथी जातिगत भेदभाव नहीं मानते हैं। इस पन्थ के संन्यासी गेरुआ वस्त्र, विभूति-भस्म और त्रिशूल धारण करते हैं। कर्णकुण्डल कनफटा योगी की विशिष्य पहचान है।

अघोरपन्थी शैव मठ

कालूराम के शिष्य कीनाराम इस सम्प्रदाय के साधुओं के मठों के संगठन-कर्त्ता या उद्धारक के रूप में जाने जाते हैं। कुछ लोग गोरखनाथ के शिष्य ब्रह्मगिरि को इसका प्रवर्त्तक मानते हैं। यह शिव के उपासक होते हैं। सर्वत्र समानता का दर्शन करते हैं। पंच मकारोपासना में विश्वास रखते हैं। मांस, मछली, मुद्रा, मैथुनादि का निषेध नहीं करते हैं। सामान्यतया नदी के तट पर या श्मशान में साधना करते हैं। अघोरी सभी पशुओं का तथा मनुष्य का मांस भी खा सकते हैं। यह थोड़े

---

१. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, (इलाहाबाद, लीडर प्रेस, १९७२), पृ० ५८।

२. वही।

का मांस नहीं खाते हैं। मदिरा, गाँजा, भाँग आदि नशे का सेवन करते हैं। गेरुआ या लाल रङ्ग का वस्त्र पहनते हैं, गले में रुद्राक्ष की, हड्डियों की या दाँतों की भी माला पहनते हैं। मस्तक पर त्रिपुण्ड लगाते हैं। जातिगत भेद-भाव नहीं मानते हैं।

वीर शैव या लिंगायत मठ

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक वसेश्वर कर्नाटक प्रांत के राजा विज्जल के यहाँ सम्वत् १२१३ से १२२३ वि० तक प्रधानमंत्री थे। यह परमतत्व की 'लिंग' के रूप में उपासना करते हैं। 'परशिव' तथा 'पराशक्ति' का सामरस्य ही लिंग है। इसकी सम्यक् अनुभूति के लिए शिवयोग की व्यवस्था की गयी हैं। वीर शैव या लिंगायत मुख्यतः दक्षिण भारत में पाए जाते हैं। इनका मठ वाराणसी में जंगमवाड़ी मठ है। लिंगायत शिवोपासक हैं। शिव का प्रतीक 'लिंग' यह चाँदी में मढ़ाकर गले में धारण करते हैं। यह बाल-विवाह विरोधी तथा विधवा विवाह के समर्थक हैं। सिद्धांततः जाति-पाँत के विरोधी हैं। वीर शैवों में अष्टवर्ण संस्कार उनकी विशिष्टता है। यह गुरु, लिंग, विभूति, रुद्राक्ष, मंत्र, जंगम, तीर्थ और प्रसाद में पूर्ण आस्था रखते हैं। मस्तक पर दो आड़ी रेखाओं के नीचे गोल तिलक लगाते हैं। वीर शैवों का जीवन आत्म-चिंतन तथा मनन तक ही सीमित न होकर विश्व-कल्याण की भावना से ओतप्रोत है। यह किसी प्रकार के समाजगत भेदभाव में विश्वास नहीं करते और जीविकोपार्जन के लिए किए जाने वाले प्रत्येक कार्य को ईश्वरार्पित कर्म समझते हैं। ऐसे कार्य को यह 'कायक' संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि 'कायक' ही 'कैवल्य' या 'कैलाश' है। इनके लिए व्रत-भंग सह्य है किन्तु काय का भंग कदापि सह्य नहीं है।

शैव मठों की उपर्युक्त परम्परा के अतिरिक्त करालिंगी सम्प्रदाय, गणपति पन्थी तथा कापालिक पन्थी शैव भी व्यक्तिगत रूप से यत्र-तत्र पाए जाते हैं किन्तु पूर्वी उत्तर प्रदेश में इनका कोई मठ नहीं है। आधुनिक काल में सुधारवादी शैव मठ के रूप में शिवोऽहम् पन्थी स्वामी अखण्डानन्द ने चित्रकूट में पीलीकोठी में कुछ वर्ष पूर्व 'स्वर्गाश्रम' की स्थापना की है जो पूर्णतः ज्ञानमार्गी शैव विचारधारा पर आधारित है।[1] इस सम्प्रदाय के साधु भी अन्य शैवों की भाँति गेरुआ वस्त्र तथा भस्म-तिलक धारण करते हैं। यह उच्च स्वर में "शिवोऽहम्" बोलते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रस्थान करते हैं। यह समाजकल्याण के कार्यों में—विद्यालय, चिकित्सा संस्थान तथा नैतिकता और धर्म-प्रचार में विशेष रुचि रखते हैं।

---

१. बी० डी० त्रिपाठी, साधूज आफ इण्डिया, (पूर्वोक्त), पृ० ७६।

प्रायः सभी प्रकार के शैव मठों पर निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जा रही हैं—

(१) सभी साधु पारिवारिक जीवन से पृथक हैं। कुछ तो विवाह के पूर्व ही संन्यासी हो गए हैं और कुछ विधुर होने पर या नैराश्य अथवा वैराग्य की स्थिति में मठ पर आते हैं।

(२) सभी साधु सम्प्रदाय की वेश-भूषा, तिलक, भस्म या विभूति धारण करते हैं।

(३) गले में अपने सम्प्रदाय की माला रुद्राक्ष धारण करते हैं।

(४) पंचकेश युक्त रहते हैं अथवा पञ्चभद्र होते हैं

(५) जीविका के लिए अंशतः मठ की सम्पत्ति पर और अंशतः दानपर निर्भर होते हैं।

(६) कुछ न-कुछ समाज सेवा का कार्य सभी मठों पर हो रहा है।

(७) साम्प्रदायिक पूजा-कर्मकाण्ड कुछ-न-कुछ सभी मठों पर प्रचलित है।

(८) आधुनिकता का प्रभाव कुछ कम या अधिक सभी शैव मठों पर परिलक्षित हो रहा है।

(९) मठों या अखाड़ों पर स्थायी रूप से रहने वालों तथा निरन्तर भ्रमणशील रहने वालों का अलग-अलग वर्ग है।

मठ पर स्थायीरूप से रहने वाले महन्त या अन्य साधु विशेष अवसरों पर अथवा तीर्थयात्रा के उद्देश्य से ही अन्यत्र जाते हैं। रमता पंच या नागा जमात निरन्तर भ्रमणशील रहकर 'कुम्भ' मेला में परस्पर मिलते हैं और अपने संगठन को सुदृढ़ बनाने हेतु विचार-विमर्श करते हैं।

श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी [इलाहाबाद]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

महात्मा बुद्ध के अनुयायियों ने प्राचीन काल से भारत में मान्य वैदिक सनातन धर्म को लुप्त करने का जो प्रयास किया था, उसका प्रतिकार आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शंकराचार्य ने अपने दस शिष्यों के नेतृत्व में दशनाम संन्यासियों को संगठित करके किया। तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी उपाधिधारी संन्यासियों को संगठित कर देश के चारों कोने में स्थापित चार पीठों से इन्हें सम्बद्ध किया गया। वन' और 'अरण्य' को गोवर्द्धन पीठ से, 'तीर्थ' और 'आश्रम' को शारदापीठ से, 'गिरि', 'पर्वत' एवं 'सागर' को ज्योतिष्पीठ से तथा 'सरस्वती', 'भारती' और 'पुरी' को शृंगेरीपीठ से सम्बन्धित कर देश के सभी क्षेत्रों में सनातन-धर्म के प्रचार-प्रसार का एक महत्वपूर्ण कार्य किया गया। इन दशनामी नागा संन्यासियों का प्रधान कार्य शैवमत का अवलम्बन करते हुए वैदिक सनातन धर्म की श्री वृद्धि में योगदान देना तथा शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैत दर्शन का प्रचार-प्रसार करना था।

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हिन्दू राजाओं के बीच बढ़ रहे पारस्परिक कलह का लाभ उठाकर अलाउद्दीन खिलजी, फिरोजशाह तुगलक आदि मुस्लिम शासकों ने आक्रमण करके जहाँ एक ओर हिन्दू राजाओं को पराजित कर देश की विभिन्न रियासतों पर अधिकार कर लिया वहीं दूसरी ओर धर्मान्ध मुस्लिम शासकों ने सनातनधर्म को बलपूर्वक नष्ट करने का भी प्रयास किया। इन मुस्लिम शासकों ने भारत को 'काफिरों' का देश कहकर तलवार के बल पर हिन्दुओं का दमन कर, उनके मन्दिरों को तोड़-फोड़कर इस्लाम धर्म की स्थापना का प्रयास किया। उनका विचार 'दारुलहर्ष' को 'दारुले इस्लाम' में परिवर्तित करना था।[1]

उक्त परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में दशनाम संन्यासियों के मान्य महन्तों ने पारस्परिक विचार विनिमय द्वारा यह निश्चित किया कि विधर्मियों का उत्तर केवल शास्त्र-बल से नहीं दिया जा सकता, उसके प्रतिकार के लिए शस्त्र का सहारा लेना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से सैनिक प्रशिक्षण देकर युवा संन्यासियों की संगठित सेना तैयार की गयी। सामरिक और सैनिक दृष्टि से संगठित इन संन्यासियों की शक्ति का समुचित उपयोग करने के लिए देश के विभिन्न भागों में सात अखाड़ों की स्थापना की गयी। प्रत्येक अखाड़ा किसी प्रसिद्ध स्थान पर समय-समय पर होने वाले अपने पराक्रमी नायक के नाम पर ५२ टुकड़ियों में विभक्त है जिन्हें ५२ मढ़ी कहते हैं।[2] यह मढ़ियाँ आठ 'दावों' में विभक्त हैं। सभी अखाड़ों में प्रमुख है—'श्री महानिर्वाणी अखाड़ा।'

महन्त-परम्परा

श्री पंचायती महानिर्वाणी अखाड़े की स्थापना कब हुई, इसका निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। परम्परागत मान्यता है कि विक्रम संवत् ८०५ की अग्रहायण, दशमी, गुरुवार को गढ़कुण्डा के मैदान में श्रीसिद्धेश्वर मन्दिर के प्रांगण में सर्वश्री रूप गिरि सिद्ध, उत्तम गिरि सिद्धराम स्वरूप गिरि सिद्ध, शंकरपुरी 'मौनी', दिगम्बर भवानीपुर 'उर्ध्ववाहु', देव वन मौनी, ओंकार भारती, पूर्णानन्द भारती आदि ने की।[3] इस अखाड़े के 'गुरु' तथा इष्ट महामुनि 'कपिल' हैं।

अखाड़े के महन्त गोसाईं राजेन्द्र गिरी का उल्लेख इतिहास में १७५१-

---

१. ओंकारपुरी, दशनामी सन्त तथा हमारा राष्ट्र, (प्रयाग : पंचायती अखाड़ा, १९६६), पृ० ७।
२. वही, पृ० ८।
३. लालपुरी, श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय, (हरिद्वार : पंचायती अखाड़ा, महानिर्वाणी कनखल), पृ० ८३।

१७५३ के बीच मिलता है। ये झांसी से १२ मील उत्तर-पूर्व मोठ नामक स्थान पर रहते थे और अपने पराक्रम से १४४ गांवों पर अधिकार कर इन्होंने एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण भी कर लिया था। बाद में राजेन्द्र गिरि जी बुन्देलखण्ड से प्रयाग चले आये।[1] अखाड़े का मुख्य कार्यालय पहले नागपुर, पना, बड़ौदा आदि शहरों में रहा है। यह कार्यालय सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इलाहाबाद स्थानान्तरित होकर आया। इसका पुराना नाम 'श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी फिरके गोसाइयान नागा जमाअत' है उसी का अनुवाद 'दशनाम नागा संन्यासी श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी' करके सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट १८६० के अन्तर्गत ९ अगस्त, १८९९ को नियमावली पंजीकृत की गयी। महन्त बालकपुरी और दत्तगिरि जी ने सर्वप्रथम रजिस्ट्रेशन कराया, जिसका संशोधन २४-७-४३ को तत्कालीन सचिवों द्वारा किया गया। समय-समय पर कुम्भ पर्व पर चुने गये सचिवों में से तीन 'सचिव' मुख्य कार्यालय दारागंज प्रयाग पर रहते हैं।

सम्प्रति निम्नलिखित महन्त मुख्यालय पर सचिव पद पर है—महन्त श्री स्वामी चन्द्रशेखर गिरि, महन्त श्री ओंकार पुरी, महन्त श्री अनन्तनारायण पुरी। इन तीनों सचिवों के नाम से अखाड़े का संयुक्त खाता है। पंचायत के प्रतिनिधि के रुप में इन्हें ही अखाड़े की ओर से कार्य करने का अधिकार है।

सम्प्रदाय-परिचय

सनातन दशनाम नागा-दिगम्बर-संन्यासियों का वह समुदाय जो महामुनि 'कपिल' को अपना 'गुरु' और इष्टदेव मानता है, श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी का सदस्य होता है। इनका उद्देश्य सिद्ध 'कपिल' और शंकराचार्य के सिद्धान्तों का प्रचार करना है। इनमें अखाड़े के मुख्यालय पर रहने वाले तथा जागीर का प्रबन्ध करने वाले साधु गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं, भस्म तथा चन्दन पूरे ललाट पर तीन वेंड़ी रेखा में लगाते हैं, जिसे बीच में एक खड़ी रेखा बिन्दु बनाकर मिलाते हैं। गले में रुद्राक्ष की माला पहनते हैं, चन्दन अथवा भस्म दोनों भुजाओं पर तथा वक्षस्थल पर भी लगाते हैं। पूर्णतः मुण्डित होते हैं अथवा दाढ़ी और सिर के बाल जटा जैसी रखते हैं, जो जटा बांधते हैं, उसे सिर पर दाहिनी ओर बांधते हैं। इनमें एक वर्ग 'नागा' या दिगम्बर होता है, जो रमता पंच कहलाता है, वह पूर्णतः नग्न रहते हैं। इनका एक विशेष संस्कार होता है जिसे 'तंगतोड़' कहते हैं।

इस अखाड़े का अपना परम्परागत ध्वज है जो मुख्यालय तथा कुम्भ पर्व पर छावनी में लगाया जाता है। गुरु 'कपिल' मुनि का दिया हुआ वरदान स्वरूप 'सूर्य

---

१. ओंकारपुरी, दशनामी सन्त तथा हमारा राष्ट्र, (पूर्वोक्त), पृ० ९।

प्रकाश' और 'भैरव प्रकाश' दो भाला है जो इनका विशेष अस्त्र है। यह तलवार तोप, धनुष-वाण का प्रयोग भूतकाल में करते रहे हैं। कुम्भ मेले के अवसर पर इनकी छावनी में एक शानदार ध्वज वहुत ऊँचे बाँस में फहराता रहता है। ध्वज-दण्ड के पार्श्व में मिट्टी का एक स्तूप निर्मित होता है जिस पर चढ़ने के लिए चारो तरफ सीढ़ियाँ बनी होती हैं। स्तूप की चोटी पर कुछ शंख, एक पुष्पपात्र, महादेव की छोटी मूर्ति और चिकनी पालिश वाले मोमवत्ती-दण्ड रखे जाते हैं।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी का मुख्य कार्यालय इलाहाबाद शहर के दारागंज मुहल्ले में निराला मार्ग पर स्थित है। मुख्य भवन लगभग दो एकड़ क्षेत्रफल में पुराने ढंग से पत्थर के बड़े-बड़े खण्डों से निर्मित चार खण्ड का दुमंजिला मकान है। प्रवेश द्वार पर 'श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी' लिखा हुआ है। लगभग ९ फीट ऊँचा, चाढ़े चार फीट चौड़ा मजबूत लकड़ी का बना फाटक है। ४० फीट की गैलरी से भीतरी आंगन में प्रवेश करते हैं। आंगन से पहले ही बरामदे में दो ऊँची चौकियाँ रखी हुई हैं जिन पर 'कोठारी' के बैठने का स्थान है। इस बरामदे से पहले ही आधुनिक संसाधनों से युक्त एक अतिथि-भवन है जिसमें अखाड़े से सम्बन्धित या अन्य विशिष्ट अतिथि आने पर विश्राम करते हैं।

आँगन से होकर आगे जाने पर 'सचिवों' के बैठने के लिए सामने से खुलने वाला एक वड़ा कमरा है जिसमें गद्दी लगी हुई है। मर्करी, सीलिंग फैन लगा हुआ है और टेलीफोन का रिसीवर रखा हुआ है। इस कमरे से संलग्न लॉकर या सेफ-रूम है जिसमें नियमित रोकड़-वही लिखने वाले मुनीम और 'कोठारी के बैठने का स्थान है। इसमें लोहे की आलमारी, सेफ 'गन' रखने का स्थान है। पुराने ढंग के लोहे के बने बड़े-बड़े ट्रंक हैं जिनमें अखाड़े के परम्परागत सामान हैं जो कुम्भ पर्व पर प्रयुक्त होते हैं। इसी आँगन के दूसरे बरामदे में 'धूनी' लगती है जहाँ 'साधु' 'शम्भू पंच' तथा नागा संन्यासी बैठते हैं। इस आँगन में ही समय-समय पर सभा-गोष्ठी आदि आयोजित होती है।

प्रथम आँगन से ही बायीं तरफ के बरामदे से दूसरे आँगन में जाने का मार्ग है। इस खण्ड में प्रवेश करते ही महामुनि 'कपिल' का मन्दिर है। इसमें गुरु कपिल की मूर्ति के अतिरिक्त पंच देवताओं की मूर्तियाँ हैं जिनको शास्त्रीय विधि से नित्य पूजा की व्यवस्था हैं। इस खण्ड के आंगन में जाली लगी हुई है जिससे कोई पक्षी अथवा ऊपर से कोई वस्तु गिरने का भय नहीं है। इस खण्ड के तीनों बरामदे 'भण्डारा' के प्रयोग में आते हैं। एक बरामदे में रसोई गृह है, एक में वर्तन आदि रखने और सफाई का प्रबन्ध है और एक बरामदे में जिसकी फर्श मोजेक से बनी है-

बैठकर एक साथ लगभग ५० व्यक्तियों के भोजन करने की व्यवस्था है। इसमें कई सीलिंग फैन और 'मर्करी ट्यूब' हैं।

प्रथम खण्ड के आंगन से ठीक सामने जाने का मार्ग है। एक बड़े दरवाजे से होकर तीसरे खण्ड में प्रवेश करते हैं। यहीं 'स्नानगृह' और शौचालय बने हुए हैं जिसमें केवल नागा संन्यासी, शम्भू-पंच ही जाते हैं। इसके आगे चलकर गोशाला है, जिसमें एक साथ १५-२० गायें रहती हैं। यहीं पर चारा काटने, चारा रखने, जानवरों को पानी पिलाने तथा गृहस्थी-खेती का सामान रखने का प्रबन्ध है। इस खण्ड में पुराने ढंग के शौचालय बने हुए हैं। इस समय यह परिचारकों सेवकों के प्रयोग में आता है।

तीसरे खण्ड से पूर्व जहाँ स्नानगृह है वहीं से चतुर्थ खण्ड के आंगन में जाने का मार्ग है। इस आंगन में एक यज्ञशाला है। इसी खण्ड में 'महानिर्वाण वेद विद्यालय' का भवन है। इसमें विद्यालय के प्रयोग के लिए पर्याप्त कमरे हैं। अध्यापन कक्ष, प्राचार्य-निवास, गोष्ठी, कक्षा एवं छात्रावास की समुचित व्यवस्था है। एक पुस्तकालय एवं वाचनालय भी है। इस पुस्तकालय से शोधकर्ता को भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। महाविद्यालय के प्राचार्य श्री मानिकचन्द मिश्र राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त अत्यन्त प्रगल्भ व्यक्ति हैं। संन्यासियों की अनेक क्रियाओं का रहस्य समझने में इनसे पर्याप्त सहायता मिली है।

प्रथम खण्ड की दूसरी मंजिल पर तीन बड़े-बड़े कमरे हैं जिनमें संन्यासी रहते हैं। इसी मंजिल के एक कमरे में एक 'सचिव' और एक 'कोठारी' का विश्राम कक्ष है। तीसरी मंजिल पर दो छोटे-छोटे कक्ष है जिनमें एक में एक 'सचिव' के विश्राम की व्यवस्था है। इस विशाल भवन के सामने सड़क की ओर खुलने वाले हिस्से में कुल २० दुकानें हैं और दूसरी मंजिल पर कुछ आवास योग्य कमरे हैं जो किराये पर दिये गये हैं। पूरे भवन में विद्युत प्रकाश हेतु बल्ब एवं पंखे लगे हुए हैं।

अचल एवं चल सम्पत्ति

सम्प्रति अखाड़े की सम्पत्ति-जमींदारी, जागीर, माफी, मकान, बाग आदि अचल और नकद तथा गाड़ी-कार, कृषि-उपकरण आदि चल सम्पत्ति के रूप में हैं। अखाड़े के सचिव से सम्पत्ति का निम्नलिखित विवरण प्राप्त हुआ है—

माण्डा (इलाहाबाद)	—	बाग ३० एकड़, कृषियोग्य २० एकड़ भूमि
मजगवां　"	—	कृषि योग्य १०० एकड़ भूमि
सोनापुर　"	—	२०० एकड़ कृषि योग्य भूमि
तुलसी (मिर्जापुर)	—	५० एकड़ कृषि योग्य भूमि

चल सम्पत्ति लगभग ५ लाख रुपये बैंक में स्थायी निधि है। एक अम्बेडर कार भी है। इलाहाबाद नगर में १०० मकान किराये पर हैं।

प्रशासन-तंत्र

अखाड़े के सुचारु-संचालन, व्यावहारिक तथा नैतिक नियंत्रण एवं सर्वरूपेण नियमन के लिए साधारण (शम्भुपंच) और श्री रमता पंच (कार्यकारिणी) इन दो पंचायतों द्वारा कार्य होता है।

(अ) साधारण पंचायत (शम्भुपंच)

(१) सदस्य—दिगम्बर, नागा-दीक्षा प्राप्त अखाड़ा-प्रविष्ट महापुरुष से लेकर श्री महन्त तक अखाड़े के सभी महापुरुष इस पंचायत के सदस्य माने जायेंगे।

(२) अधिवेशन—साधारणतः इस पंचायत का अधिवेशन कुम्भ पर्वों पर ही होता है किन्तु आवश्यकतानुसार बीच में भी कार्यकारिणी पंचायत या साधारण पंचायत के पचहत्तर प्रतिशत सदस्यों के अनुरोध पर विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है।

(३) कार्यक्रम—निर्धारित कार्यक्रम के अतिरिक्त अधिवेशन के बीच के कार्यकाल का अखाड़ा सम्बन्धी विवरण अवश्य रखा जायगा।

(४) कर्त्तव्य—अखाड़े के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यथासम्भव प्रयत्न करना।

(५) अधिकार—अखाड़े की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर साधारण पंचायत का अधिकार है।

(आ) श्रीपंच और कार्यकारिणी पंचायत

(१) सदस्य—परम्परागत नियमानुसार प्रायः कुम्भपर्व के अवसर पर अखाड़े के हर प्रकार के सदस्यों की उपस्थिति के बहुमत से आठ दावों के आठ श्री महंतों का निर्वाचन होता है। यह 'श्रीमहन्त' कार्यकारिणी के सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त आठ 'कारबारी' या सहायक महन्त सम्पूर्ण अखाड़े से चुने जाते हैं। श्रीमहन्त की स्थिति 'राजा' जैसी और 'कारबारी' की स्थिति प्रधानमंत्री जैसी होती है। यह परम्परा शिवाजी के अष्ट अमात्यो की परम्परा से मिलती-जुलती है। 'कारबारी' और 'श्रीमहन्त' कार्यकारिणी के सदस्य होते हैं। इस पंचायत को श्रीपंच, रमता पंच, तथा परमेश्वर भी कहते हैं। कार्यकारिणी का निर्णय सर्वसम्मत होता है।

(२) कर्त्तव्य—श्रीपंच का कर्त्तव्य है कि सब प्रकार से अखाड़े के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करें।

(३) अधिकार—

(क) श्रीपंच को अखाड़ा के प्रधान-कार्यालय तथा शाखाओं से सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रबन्ध का अधिकार है।

(ख) श्रीपंच को अधिकार है कि अखाड़े कुल सदस्यों में से किसी एक या अधिक

को अखाड़े के व्यवहारिक कार्य के लिए सेक्रेटरी (सचिव) नियुक्त करें। इस समय कुल छः सचिव नियुक्त हैं जिनमें तीन मुख्यालय पर रहते हैं। एक हरिद्वार, एक ओंकारेश्वर और एक भर-जागीर (महाराष्ट्र) की शाखा कार्यालय पर हैं।

(ग) श्रीपंच को अधिकार है कि परम्परागत नियमानुसार भ्रमणशील रहने के कारण प्रधान कार्यालय और शाखा-कार्यालय के लिए अखाड़ा के सदस्यों में से कार्यकर्ता नियुक्त करें, बदलें या हटावें। इस प्रकार से नियुक्त कार्यकर्त्ताओं को थानापति कहते हैं। इस समय आठ 'थानापति' कार्यरत हैं।

(इ) कारबारी—

(क) परम्परागत नियमानुसार जिस प्रकार और अवसर पर साधारण पंचायत द्वारा श्रीमहन्तों का निर्वाचन होता है, उसी प्रकार कारवारीगण का भी निर्वाचन होता है।

(ख) अखाड़े के उद्देश्यों की सिद्धि के लिए हर प्रकार से प्रयत्न करना तथा श्री पंच को सहयोग देना और अपने को सौंपे गये कार्यों को साधिकार करना, यह इनके कर्त्तव्य और अधिकार हैं।

(ई) सेक्रेटरी—सचिवों का यह कर्त्तव्य होगा कि जिस विभाग में उनकी नियुक्ति की गयी है, अखाड़ा सम्बन्धी उस विभाग के प्रत्येक कार्य का संचालन अखाड़े की उन्नति और भलाई के लिए करें और करायें, साथ ही अखाड़ा-सम्बन्धी अपने विभाग के प्रत्येक कार्य के लिए श्रीपंच के प्रति उत्तरदायी रहें। सेक्रेटरी ही न्यायालय में अखाड़े की ओर से प्रतिनिधित्व करते हैं।

(उ) कोठारी—प्रधान कार्यालय तथा शाखा स्थानों-मठों में कोष का कार्य करने वाले को 'कोठारी' कहते हैं। इनकी नियुक्ति उस विभाग के सेक्रेटरी, थानापति आदि की सम्मति से श्रीपंच द्वारा की जाती है। 'कोठारी' ही अखाड़े की चल; अचल, सम्पत्ति का रख-रखाव करता है और साधारण पंच, श्रीपंच, सेक्रेटरी और थानापतियों की राय से उनका उपयोग करता है। यह कोषाध्यक्ष जैसा होता है। शाखा-मठों के कोठारी अलग होते हैं।

(ऊ) थानापति—इस समय आठ थानापति हैं। यह अखाड़े के भिन्न-भिन्न स्थानों की व्यवस्था के लिए श्रीपंच द्वारा नियुक्त हैं। यह अखाड़े की उन्नति के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते हैं[1]।

---

१. दशनाम नागा संन्यासी श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी, प्रधान स्थान-दारागंज, प्रयाग का संशोधित स्थापना-पत्र-नियामावली', २४-७-४३ से उद्धृत, पृ० ५।

उक्त पदों के अतिरिक्त अखाड़े पर साधारण सदस्य—नागा संन्यासी, १ पुजारी, २ भण्डारी और १० सेवक, २ ड्राइवर रहते हैं। अखाड़े पर नौकर को 'बाबू' आदर सूचक शब्द और भंगी को 'बढ़े आदमी' कहते हैं। इस अखाड़े का नौकर किसी एक महन्त या सचिव का व्यक्तिगत नौकर न होकर सम्पूर्ण पंचायत का नौकर होता है। इसीलिए उसे कोई डांट, फटकार नहीं सुना सकता और श्रीपंच की पूर्व अनुमति के बिना नौकर को निकाला नहीं जा सकता। नौकर को किसी साधु की अपेक्षा दोहरी चिप्पी (रोटी) देने की परम्परा है।

आगन्तुक-विवरण

अखाड़े से सम्बन्धित प्रतिमाह औसतन एक सौ महात्मा यहाँ आते हैं। सामान्य ढंग पर अखाड़े से सम्बन्धित, शाखा-मठों से सम्बन्धित गृहस्थ शिष्य भी महीने में लगभग ५० की संख्या में आते हैं। विशेष पर्व यथा—कुम्भ मेला, दशहरा, जन्माष्टमी आदि अवसरों पर कुल मिलाकर दो हजार गृहस्थ शिष्य और वर्ष भर में विभिन्न मेला तथा उत्सवों पर तीन हजार साधु अखाड़े पर आते हैं जिनके आवास, भोजन, जलपान की व्यवस्था अखाड़े की ओर से की जाती है। यहाँ स्थायी रूप से २५ साधु रहते हैं।

समय-समय पर विशिष्ट अतिथि—राजपुरुष, मन्त्री, मुख्य मन्त्री, राज्यपाल भी अखाड़े पर आते हैं। मण्डलेश्वर, 'सचिव' तथा श्रीमहन्त भी विशेष अवसरों पर अखाड़े पर ही आकर रहते हैं। संस्कृत-दिवस समारोह, कालिदास-जयन्ती समारोह तथा शंकराचार्य-जयन्ती, कपिल-जयन्ती आदि अवसरों पर शिक्षा विभाग के उच्चाधिकारी तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा न्यायवादियों के भी पधारने की जानकारी प्राप्त हुई है। संस्कृत-साहित्य तथा हिन्दी साहित्य के वरिष्ठ विद्वानों को सम्मानित करने की भी परंपरा है।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

अखाड़े पर सामान्यतया तीन सचिव, तीन थानापति, एक कोठारी, तीन शम्भुपंच, दो पुजारी, आठ 'बाबू' रहते हैं। इनके अतिरिक्त अतिथि महात्मा अथवा गृहस्थ शिष्य आगन्तुक के रूप में रहते हैं। महापुरुषों की दिनचर्या प्रातः ३ बजे से नित्य कर्म, स्थान-ध्यान से प्रारंभ होती है। जाड़े में प्रायः ६॥ बजे और गर्मियों में प्रातः ५॥ बजे 'चाय' (शुद्ध दूध में बनी हुई) 'धूनी' के पास अथवा बरामदे में सबको चीनी मिट्टी के प्याले में दी जाती हैं। कुछ वरिष्ठ महापुरुष 'सचिव', 'श्रीमहन्त' चाय नहीं ग्रहण करते हैं। उनकी रूचि के अनुसार दूध अथवा फल की व्यवस्था रहती है। इस प्रातः कालीन चाय के बाद सभी थानापतियों तथा कारबारीगण को अपने निर्धारित काय-क्षेत्र पर जाना होगा।

पुजारी नित्य प्रात: ४ बजे से पूर्व ही संगम क्षेत्र चले जाते हैं। वहीं से स्नानादि से निवृत्त होकर ताँबे के घड़े में जल लाते हैं। इसी गंगाजल से ही महामुनि 'कपिल' और पंचदेवों की सविधि पूजा होती है। गंगाजल का ही प्रयोग भोजन बनाने में भी होता है। पूजा के समय सचिव तथा उपस्थित कारबारी भी मन्दिर में उपस्थित होते और पूजा में भाग लेते हैं। प्राय: १० बजे तक भोजन तैयार हो जाता है। मुख्य मन्दिर में भोग लगाने के उपरान्त दरवाजे पर खड़े होकर भण्डारी आवाज देते हैं 'पंचों भण्डारा तैयार है—हरिहर ......' इस आवाज के बाद सभी उपस्थित महापुरुष-अधिकारी तथा आगन्तुक एक साथ एक पंक्ति में अलग-अलग कुश-आसन पर बैठते हैं। सबके सामने थाली, कटोरी, गिलास और एक बड़ा लोटा (जलपात्र) रखा रहता है। भोजन परसे जाने के बाद अखाड़े के महापुरुष मंत्र बोलते हैं, जिसे सभी लोग दुहराते हैं, तत्पश्चात् 'नम: पार्वती पतये नम:' कहते हैं, तब सभी लोग भोजन प्रारम्भ करते हैं। सभी के लिए एक समान सात्विक भोजन की व्यवस्था होती है। 'बाबू' अर्थात् नौकर को दोहरी चिप्पी अर्थात् दुहरी खुराक की व्यवस्था है। क्योंकि उसे शारीरिक श्रम करना होता है। यह उदार-परम्परा अन्यत्र नहीं है। फार्म पर या मवेशियों को चराने के लिए यदि किसी नौकर को सवेरे ही जाना होता है तो जाने के पहले ही उसे ताजा भोजन तैयार करके खिलाने का निर्देश पूर्व संध्या को हो जाता है।

भोजनोपरान्त विश्राम करके पुन: अपने कार्य पर महात्मा चले जाते हैं। अपराह्न ३॥ बजे सामूहिक चाय की व्यवस्था प्रात: जैसी ही होती हैं। सायंकाल नित्य कर्म के उपरान्त स्नान एवं संध्या पूजन करके 'आरती' की जाती है। इष्टदेव के मन्दिर में आरती के समय अखाड़े पर उपस्थित सभी महापुरुषों, साधुओं, छात्रों, शिक्षकों, आगन्तुकों की उपस्थिति आवश्यक होती है। महानिर्वाणी अखाड़े के साधु आरती के समय अपनी गुरु परम्परा का स्मरण अवश्य करते हैं—

> नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं, शक्तिश्च तत्पुत्र पराशरञ्च।
> व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं, गोविन्दयोगीन्द्रमथास्यशिष्यम्।
> श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्पादञ्च हस्तामलकञ्च शिष्यम्।
> तंत्रोटकं वार्तिककारमन्यान स्मद्गुरुन् संतत मानतोस्मि॥'

आरती के पश्चात् सामूहिक रूप से इष्टदेव महामुनि 'कपिल' की जयजयकार तथा अन्त में हर-हर-महादेव का उद्घोष करते हैं।

सायंकालीन भोजन के लिए मध्याह्न की ही भाँति पुकार की जाती है। सोते समय महापुरुषों के लिए गोदुग्ध की भी व्यवस्था है जिन्हें रुचि नहीं है वह नहीं लेते हैं। गोदुग्ध, गोघृत एवं तक्र का प्रयोग होता है।

आय के स्रोत

अचल सम्पत्ति के रूप में अखाड़े के अधीन जिस कृषि योग्य भूमि का उल्लेख किया गया है उसकी व्यवस्था थानापतियों के माध्यम से होती है। सोनापुर की २०० एकड़ भूमि बटाईदारों को खेती के लिए दी गयी है। अन्य पर अखाड़े की ओर से खेती कराई जाती है। कृषि-कार्य से जो अनाज और भूसा मिलता है वह अखाड़े के उपयोग से भी कम है।

मकान के किराये से उल्लेखनीय आय नहीं है। बहुत पुराने समय से यह मकान अत्यन्त साधारण किराए पर दे दिए गए हैं। वह उनकी मरम्मत में ही व्यय हो जाता है। सरकार की ओर से जमींदारी उन्मूलन का वार्षिक भत्ता ३६ हजार रुपये मिलता है। अखाड़े के अन्तर्गत वेणीमाधव मन्दिर, अलोपी बाग मंदिर, रामेश्वर मन्दिर, दत्तात्रेय मन्दिर और अखाड़े पर महामुनि 'कपिल' का मन्दिर है। स्थायी निधि से मासिक व्याज लगभग ५ हजार रुपये हैं। अखाड़े की आय दिन-प्रतिदिन घट रही है। रुपये के लेन-देन का पुराना कारबार अब बन्द हो गया है।

विवाद एवं मुकदमें

सम्प्रति कोई वाद उल्लेखनीय नहीं है। पूर्व में कई मुकदमें उच्च न्यायालय तक जा चुके हैं। रुपये के लेन देन तथा चकबन्दी में भूमि सम्बन्धी मुकदमें चलते थे जो इस समय समाप्त हैं। मकान के किराए सम्बन्धी तथा जमीन की सीलिंग सम्बन्धी मुकदमें चल चुके हैं। सीलिंग के मुकदमें में अखाड़े को कृषि योग्य भूमि और शहरी भूमि में भी छूट मिल गयी है।

राजनीतिक सहभागिता

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखा जा चुका है कि अखाड़े का संगठन राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने तथा वैदिक सनातन धर्म की रक्षा के लिए किया गया था। इन दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अखाड़ा राजनीति में रुचि लेता है, किन्तु स्वयं राजनीति में भाग नहीं लेता है। चुनावों में उम्मीदवारों को विजयी बनाने में अपने प्रभाव का पूरा उपयोग करता है। अखाड़े से सम्बन्धित महापुरुषों ने व्यक्तिगत रूप से स्वातंत्र्य संग्राम में भाग लिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राजनीति से पृथक हो गये।

सामाजिक सेवा-कार्य

दशनामी नागा संन्यासियों के सर्वोच्च संगठन के रूप में महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा कुम्भ, अर्द्धकुंभ तथा प्रतिवर्ष माघ मेला के समय अपने सम्प्रदाय के साधुओं तथा अखाड़े के मठों से सम्बन्धित गृहस्थ शिष्यों के आवास-भोजनादि का

प्रबन्ध करता है। कुंभ मेला में अखाड़ा लगभग दो लाख रुपया व्यय करता है। 'प्रयाग' कुंभ का पूर्ण व्यय महानिर्वाणी अखाड़े को वहन करना होता है। अखाड़े का अन्न-क्षेत्र भी मेला के समय चलता है जहाँ दरिद्रों, अपाहिजों और निर्धनों को भोजन दिया जाता है।

माघ मेला तथा कुंभ मेला के समय वैदिक सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अखाड़े की ओर से मंच बनता है—लम्बा चौड़ा पाण्डाल बनता है, जहाँ श्रोताओं के बैठने का समुचित प्रबन्ध होता है। इस मंच से महामण्डलेश्वर, विद्वान्, महात्मा धार्मिक प्रवचन द्वारा जनता का उद्‌बोधन करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर विद्वानों का समुचित सत्कार किया जाता है। १९७७ के कुम्भ मेले में शोधकर्त्ता ने इस मंच से तीन दिन तक धार्मिक प्रवचन कार्यक्रम का संचालन किया था।

शैक्षणिक-कार्य

११ जनवरी, १९१० ई० से अखाड़े के मुख्य भवन के एक खण्ड में 'महानिर्वाण वेद विद्यालय' स्थापित है। सम्प्रति यह विद्यालय वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से आचार्य श्रेणी तक सम्बद्ध और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा 'क' श्रेणी में मान्यता प्राप्त है। इस विद्यालय के स्नातक देश-विदेश में अपनी विलक्षण प्रतिभा से लोगों को विशेष प्रभावित कर रहे हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् डा० लुडविग और डा० थिम्में ने इसी विद्यालय में चटाई पर बैठकर संस्कृत व्याकरण के सूत्रों का रहस्य समझा है। सम्प्रति विद्यालय में प्रधानाचार्य पद पर राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त वरेण्य विद्वान् पं० मानिकचन्द्र मिश्र कार्यरत हैं। आपके सहयोगी सात आचार्य विद्यालय के यश को बढ़ाने में संलग्न हैं। प्रायः ७० छात्र नियमित शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। तीस छात्र छात्रावास में ही रहते हैं। योग्यता के आधार पर छात्रवृत्ति एवं पुस्तकीय सहायता तथा शिक्षण शुल्क अखाड़े की ओर से दिया जाता है। अन्य शिक्षण संस्थाओं को समय-समय पर दान दिया जाता है।

ज्योतिर्मठ (इलाहाबाद)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आद्य शंकराचार्य दक्षिण भारत में एक ऐसे युग में पैदा हुए थे जब वैदिक, धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं पर चारों ओर से प्रहार हो रहा था। बौद्ध तथा जैन धर्मावलम्बियों द्वारा वैदिक संस्कृति के समस्त मूल सिद्धान्तों का खण्डन किया जा रहा था। वर्णाश्रम व्यवस्था को भारतीय सामाजिक संरचना का आधार नहीं माना जा रहा था। ईश्वर और वेद की चतुर्दिक निन्दा हो रही थी। वेदाधारित संस्कृति तथा सनातन धर्म का लोप होता जा रहा था। चतुर्दिक 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' का नारा लग रहा था।

विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न बालक शंकर ने साठ वर्ष की अल्पायु में ही गुरु-कृपा से सकल शास्त्रों में पाण्डित्य प्राप्त कर लिये और वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के महान् उद्देश्य की पूर्ति हेतु संन्यास-धर्म की दीक्षा लेकर देशाटन पर चल दिए। अपनी इस महान यात्रा में शंकराचार्य ने अनेक बौद्धों तथा जैनियों से शास्त्रार्थ करके उनके मतों का खण्डन और अपने वैदिक अद्वैत दर्शन का मण्डन कर भारतीय जनमानस का समर्थन प्राप्त किया। वैदिक परंपरा को पुनर्जीवन मिलने लगा। शंकराचार्य को बौद्धों और जैनियों के अतिरिक्त मीमांसकों तथा उन दार्शनिकों से भी शास्त्रार्थ करना पड़ा जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे और वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन करते थे।

बत्तीस वर्ष की आयु में आचार्य शंकर ने समस्त भारतवर्ष में वह ज्योति जला दी जिसके प्रकाश से हम आज भी प्रकाशित हो रहे हैं। शंकराचार्य ने भारत की राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण रखने तथा वैदिक सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपने जीवनकाल में ही देश की चारों दिशाओं में प्रमुख तीर्थों में चार मठों की स्थापना की और अपने चार प्रधान शिष्यों को अपने प्रतिनिधि-स्वरूप उन मठों के अधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया। शंकराचार्य ने पूरे देश को चार भागों में विभक्त कर उसे चार आम्नाय की संज्ञा प्रदान की और प्रत्येक आम्नाय के शासन केन्द्र के रूप में इन मठों की स्थापना की—पूर्व में गोवर्द्धन मठ, पश्चिम में शारदा मठ, उत्तर में ज्योतिर्मठ, और दक्षिण में शृंगेरी मठ।

ज्योतिर्मठ का मुख्य पीठ बदरिकाश्रम में स्थापित कर इसके शंकराचार्य पद पर त्रोटकाचार्य अपरनाम आनन्द गिरि को नियुक्त किया। इस मठ के अधीन उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, चण्डीगढ़, हिमांचल प्रदेश, जम्मू एवं काश्मीर, नेपाल और सीमांत प्रान्त तिब्बत और अफगानिस्तान थे। इसी ज्योतिर्मठ की एक शाखा इलाहाबाद में स्थापित की गयी है।

महन्त-परम्परा

ज्योतिर्मठ की महन्त परम्परा का क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। महानिर्वाणी पंचायती अखाड़े के भर जागीर संस्थान के संग्रहालय से प्राप्त एक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ से ज्योतिर्मठ की महन्त-परंपरा निम्नलिखित रूप में प्राप्त हुई है—आदिशंकराचार्य के शिष्य त्रोटकाचार्य (आनन्द गिरि) ज्योतिर्मठ के प्रथम शंकराचार्य नियुक्त किये गये थे। उनके तीन प्रधान शिष्य हुए—नारायणानन्द गिरि, पूर्ण पर्वत तथा सिन्धु सागर।

नारायणानन्द गिरि की शिष्य परम्परा में क्रमशः हरिहरानन्द गिरि, देवानन्द गिरि, ज्ञानानन्द गिरि, विमलानन्द गिरि, आत्मानन्द गिरि, सच्चिदानन्द गिरि, जगतानन्द गिरि, अच्युतानन्द गिरि और सदानन्द गिरि हुए।

सदानन्द गिरि के चार शिष्य हुए—ओङ्कार गिरि, राम गिरि वेद गिरि; ब्रह्म गिरि। राम गिरि ही रामदत्त गिरि के रूप में प्रसिद्ध हुए, जिनके शिष्य मानदत्त गिरि और उनके शिष्य माधव गिरि पीठासीन हुए। प्रायः दो शताब्दी तक ज्योतिर्मठ की परम्परा में कोई शंकराचार्य पद पर अभिषिक्त नहीं हुआ। बदरिकाश्रम से संलग्न बदरीनाथ मन्दिर की व्यवस्था हेतु टेहरी गढ़वालराज के नरेश द्वारा गठित न्यास, मन्दिर की देख-रेख करने लगा। सम्वत् १८२३ विक्रमी में गढ़वाल नरेश ने नम्बूद्री जाति के गोपाल ब्रह्मचारी को 'रावल' की उपाधि देकर बदरीनाथ मन्दिर में पूजन के लिए नियुक्त किया। बारह पीढ़ी तक यही रावल वंश मन्दिर की देखरेख करता रहा।

भारत धर्म महामण्डल के संस्थापक स्वामी ज्ञानानन्द जी के द्वारा १ अप्रैल १९४१ को ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम के शंकराचार्य पद पर स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती का अभिषेक किया गया। आप १९ मई, १९५३ ई० तक शंकराचार्य पद पर आसीन रहे। स्वामी ब्रह्मानन्द के प्रधान शिष्य स्वामी शान्तानन्द जी महाराज को ज्योतिर्मठ के शंकराचार्य पद पर १२ जून, १९५३ को अभिषेक किया गया। स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती ने ही ज्योतिर्मठ की एक शाखा इलाहाबाद में संगम क्षेत्र के सन्निकट अलोपी बाग में लगभग एक लाख रुपये का मकान खरीदकर खोली है। ज्योतिर्मठ के शंकराचार्य पद पर स्वामी शान्तानन्द जी महाराज २८ फरवरी, १९७० तक कार्यरत रहे हैं।

सम्प्रति स्वामी शान्तानन्द जी महाराज एकान्त-साधना कर रहे हैं और इस मठ के शंकराचार्य पद पर २८ फरवरी १९८० को स्वामी विष्णु देवानन्द जी महाराज का अभिषेक कर दिए हैं। वही इस ज्योतिर्मठ-इलाहाबाद शाखा के भी 'महन्त' एवं शंकराचार्य हैं।

सम्प्रदाय परिचय

अद्वैतवादी संन्यासियों के 'गिरि', 'पर्वत' और 'सागर' पदधारी संन्यासी ज्योतिर्मठ से सम्बन्धित हैं। इनका संप्रदाय-आनन्दवार, गोत्र भृगु, वेद-अथर्व है। 'गिरि संन्यासियों के लिए मुण्डकोपनिषद, 'पर्वत' संन्यासियों के लिए प्रश्नोपनिषद और सागर-संन्यासियों के लिए माण्डूक्य उपनिषद निर्धारित है। इनका महावाक्य—'अयमात्मा ब्रह्म', देवी—पुण्यागिरि और देवता—नारायण हैं। इनका तीर्थ बदरिकाश्रम क्षेत्र और आनन्द ब्रह्मचारी हैं। इस मठ के संन्यासी दण्डी संन्यासी होते हैं। बाँस का दण्ड जिसके ऊपरी सिरे पर गेरुआ-वस्त्र बँधा होता है; धारण करते हैं। गले में रुद्राक्ष की माला, ललाट पर भस्म अथवा श्वेत चन्दन के बीच लाल तिलक लगाते हैं। गेरुआ वस्त्र और पूर्ण विरक्त ब्रह्मचारी-जीवन व्यतीत करते हैं। श्री

यन्त्र तथा आद्य शंकराचार्य की चरणपादुका और चन्द्रमौलीश्वर भगवान की विशेष उपासना करते हैं।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

इलाहाबाद के पवित्र संगम-क्षेत्र के सन्निकट अलोपीबाग मुहल्ले में अलोपी देवी के प्रसिद्ध मन्दिर के ठीक सामने 'ज्योतिर्मठ' का विशाल भवन है। सामने लोहे का बड़ा फाटक लगा हुआ है। मुख्य द्वार से प्रवेश करते ही ठीक सामने उद्यान के बीच चन्द्रमौलीश्वर भगवान् शिव का मन्दिर है। मूर्ति के दाहिनी ओर आद्य शंकराचार्य की श्वेत संगमरमर की आकर्षक मूर्ति बनी हुई है और बायीं तरफ ज्योतिर्मठ इलाहाबाद शाखा के संस्थापक तथा ज्योतिष्पीठ के उद्धारक जगतगुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती की श्वेत संगमरमर की मूर्ति स्थापित है। मन्दिर में श्री यंत्र स्थापित है। मन्दिर के आदि शंकराचार्य की पादुका चौकी पर स्थापित है। मन्दिर में ही एक शीशे की भव्य मंजूषा में रेशमी वस्त्र में आवृत 'वेद' प्रतिष्ठित है। सामने लम्बा-चौड़ा बरामदा है जिसमें एक साथ कम से कम सौ व्यक्ति बैठकर भजन-पूजन कर सकते हैं। बरामदे से संलग्न यज्ञ-कुण्ड है। लगभग दो एकड़ क्षेत्रफल में निर्मित वर्गाकार दुमंजिला भवन है, बीच में दो उद्यान हैं, जिनमें कुछ फलदार वृक्ष और सुगन्धित पुष्पों की क्यारियाँ हैं। भवन के एक भाग में साधु-महात्मा रहते हैं, दूसरे भाग में आगन्तुक अतिथियों के निवास का प्रबन्ध है। शेष भाग श्री ज्योतिष्पीठ संस्कृत महाविद्यालय के प्रयोग में है। सामने के भाग में नीचे 'धर्मार्थ' आयुर्वेदिक औषधालय है और ऊपर एक हिस्से में "महेश योगी योगानुसन्धान-केन्द्र" है। एक धार्मिक पुस्तकालय एवं वाचनालय भी संचालित है।

अचल एवं चल सम्पत्ति

ज्योतिर्मठ-इलाहाबाद के नाम से कोई भू-सम्पत्ति नहीं है। स्वामी ब्रह्मानन्द और स्वामी शान्तानन्द महाराज के समय से बैंक में कुछ स्थायी निधि जमा है। चल अचल सम्पत्ति के रूप में 'शंकराचार्य' के प्रयोग में आनेवाली दो 'कार' और एक मिनी बस है। उनके साथ सुविधा की समस्त आधुनिक वस्तुएँ हैं। इलाहाबाद में मठ का जो भवन है, इस समय उसका मूल्य पाँच लाख रुपये के लगभग है।

प्रशासन तंत्र

परंपरागत ढंग पर सम्प्रति जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी विष्णु देवानन्द जी प्रशासन के सर्वोच्च पद पर आसीन हैं। यद्यपि उनके गुरुदेव स्वामी शान्तानन्द जी एकान्त साधना कर रहे हैं, अपने को मुक्त कर लिए हैं, किन्तु नैतिक ढंग से उनका नियंत्रण स्वामी जी पर है। मठ पर दैनन्दिन कार्य-व्यवस्था हेतु पुजारी, भण्डारी,

एक संन्यासी और दो ब्रह्मचारी सदैव रहते हैं। सभी अपने कार्य के लिए पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य जी से निर्देश प्राप्त करते हैं।

आगन्तुक-विवरण

मठ पर पन्द्रह साधु स्थायी रूप से रहते हैं। सामान्यतः प्रतिमास दस गृहस्थ और दस संन्यासी मठ पर आते हैं। माघ-मेला या कुम्भ मेला के समय मठ पर आगन्तुकों की संख्या लगभग एक हजार तक हो जाती है जिनमें लगभग पाँच सौ साधु और पाँच सौ गृहस्थ होते हैं।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

मठ के साधु नित्य प्रातः ४ बजे से अपनी दैनन्दिन क्रिया, स्नानादि से निवृत्त होकर भगवान् चन्द्रमौलीश्वर की उपासना, शिव महिम्न स्तोत्र-पाठ तथा आदि शंकराचार्य और जगद्गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती की मूर्ति-पूजा करते हैं। आदि-शंकराचार्य के खड़ाऊँ की भी पूजा होती है। प्रातः ८ बजे तक मन्दिर में ही धार्मिक ग्रन्थों का पाठ होता है। तदनन्तर अल्पाहार करके बागवानी का निरीक्षण, गो-सेवा आदि कार्य करते हैं। मध्याह्न भोजन के उपरान्त विश्राम और अपराह्न संगम क्षेत्र का भ्रमण करते हैं। सायंकाल स्नानादि से पवित्र होकर आरती में सम्मिलित होते हैं, तदनन्तर धार्मिक सत्संग, प्रवचन आदि होता है। रात्रिभोज के पश्चात् विश्राम करते हैं। आधुनिक सुख-सुविधा के समस्त उपकरण उपलब्ध हैं। संन्यासियों में प्रतीकात्मक ढंग पर त्याग, किन्तु व्यावहारिक ढंग पर राग-भोग की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है।

विवाद एवं मुकदमें

सम्प्रति ज्योतिष्पीठ के पीठाधीश्वर पद की वैधता ही विवादास्पद है। आदि ज्योतिष्पीठ बदरिकाश्रम का सही उत्तराधिकारी कौन है? यह न्यायालय के विचाराधीन है। स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती की वसीयत के अनुसार १२ जून, १९५३ को ब्रह्मनिवास काशी आश्रम में स्वामी शान्तानन्द जी ज्योतिर्मठाधिपति के रूप में अभिषिक्त हुए किन्तु काशी विद्वत्परिषद् तथा कुछ अन्य लोगों ने कृष्णवोधाश्रम जी को उसी पद पर अभिषिक्त कर दिया जो १९७३ ई० में ब्रह्मलीन हो गए। उनके स्थान पर सम्प्रति स्वामी स्वरूपानन्द जी का अभिषेक किया गया गया है। आपको तीनों अन्य शंकराचार्यों तथा काशी विद्वत्परिषद् का भी समर्थन प्राप्त है। न्यायालय ही वास्तविक पीठाधीश्वर का निर्णय करेगा।

राजनीतिक सहभागिता

प्रत्यक्षतः राजनीति में भाग नहीं लेते हैं किन्तु राजनीति के प्रति उदासीन नहीं हैं।

सामाजिक सेवा-कार्य

ज्योतिर्मठ के तत्वावधान में समाजसेवा के क्षेत्र में धार्मिक सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा चिकित्सकीय कार्य किया जा रहा है। गुरुपूर्णिमा-महोत्सव, आदिशंकराचार्य जयन्ती, ब्रह्मलीन स्वामी ब्रह्मानन्द-जयन्ती, गीता जयन्ती तथा आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से नवमी पर्यन्त नवरात्र समारोह विशेष रूप में आयोजित होता है जिसमें नगर तथा बाहर के लोग भी सम्मिलित होते हैं। कुंभ-मेला के अवसर पर तथा माघ मेला के समय संगम-क्षेत्र में धार्मिक प्रवचन का विशेष आयोजन होता है।

संस्कृत साहित्य, व्याकरण, वेदान्त तथा ज्योतिष के अध्ययन-अध्यापन हेतु मठ पर 'श्री ज्योतिष्पीठ संस्कृत महाविद्यालय' संचालित है जो वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से आचार्य श्रेणी तक संबद्ध और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा 'क' श्रेणी में मान्यता तथा अनुदान प्राप्त है। विद्यालय में सम्प्रति शताधिक छात्र दश आचार्यों से शिक्षा ग्रहण करते हैं। अधिकांश छात्र मठ द्वारा प्रदत्त छात्रावास में ही रहते हैं जिनके लिए भोजन, आवास का निःशुल्क प्रवन्ध है। मठ की ओर से छात्रों को वृत्ति, परीक्षा शुल्क तथा पुस्तकीय सहायता दी जाती है। चार शिक्षक भी छात्रावास में निःशुल्क रहते हैं।

ज्योतिर्मठ पर एक धर्मार्थ आयुर्वेदिक औषधालय भी संचालित है जहाँ प्रतिदिन प्रातः ८ से १० बजे तक और सायं ४ बजे से ८ बजे तक रोगियों को औषधि प्रदान की जाती है।

जंगमबाड़ी मठ [वाराणसी]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वाराणसी के मध्य भाग गोदौलिया से अस्सी मार्ग पर स्थित जंगमबाड़ी मठ वीर शैव सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध और प्राचीन मठ है। जंगमबाड़ी मठ काशी का सबसे प्राचीन मठ बताया जाता है। इसी के नाम पर उस मुहल्ले का नाम 'जंगमबाड़ी' रखा गया है। वीर शैवों में जो ब्राह्मण हैं उन्हीं को 'जंगम' की संज्ञा दी गयी है। शास्त्रों में भगवान शंकर के पांच मुखों से पंचाचार्यों का अवतार माना गया है। इन पंचाचार्यों की अवतार-भूमि पर लिंगायतों द्वारा पांच मठों की स्थापना की गयी है। एक कोलनुपाक सोमेश्वर लिंग से भगवान रेवणराध्य या रेणुकाचार्य प्रकट हुए थे, उनके नाम पर एक मठ की स्थापना बालेहोन्नूर मैसूर में हुई है। दूसरा मठ अवन्तिकापुरी के सिद्धेश्वर लिंग से प्रकट हुए भगवान मरुलाराध्य के नाम पर अवन्तिकापुरी में स्थापित हुआ था किन्तु मुस्लिम काल में उसे वहाँ से हटाकर जनपद उज्जैन के बेल्लारी नामक स्थान पर कर दिया गया।

तीसरा मठ जनपद गढ़वाल (उत्तर प्रदेश) में केदारनाथ धाम में है। इसके आचार्य एकोरामाध्य जी हैं जो द्राक्षाराम क्षेत्र में रामनाथ लिंग से प्रकट हुए थे। चौथा मठ श्रीशैल जनपद कानूंल (मैसूर) में है। इसके आचार्य जगदद्गुरु पंडिताराध्य जी हैं, जो श्रीशैल मल्लिकार्जुन लिंग से प्रकट हुए हैं। पांचवा मठ काशी में स्थित जंगमबाड़ी मठ है, इसके आचार्य जगद्गुरु विश्वाराध्य जी हैं, विश्वनाथ लिंग से जो प्रकट हुए थे।

वीर शैवाचार्य के काशी में प्रकट होने के सम्बन्ध में उनकी पुस्तक 'स्वयम्भुवागम' में परशिव और पार्वती के बीच एक वार्तालाप का वर्णन है जिसमें शिव ने पार्वती से बताया है कि विश्वाराध्य जी काशी क्षेत्र में प्रकट हुए थे। इन पंचाचार्यों की चारों युगों में पूजा होनी चाहिए (शास्त्री, १९३१, ४९)।[१]

जंगमबाड़ी की प्राचीनता के द्योतक अनेक दानपत्र हैं। चौदह सौ वर्ष पूर्व सन् ५७४ का एक दानपत्र आज भी मठ में सुरक्षित है। एक दस्तावेज में काशी के तत्कालीन नरेश श्री जयनन्ददेव का दानपत्र अंकित है जिसके अनुसार उन्होंने जंगमपुर की सारी भूमि दान दे दी थी। उसी भूमि में आजकल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अवस्थित है। इन दानपत्रों को अवैध करार करने के लिए कई पक्षों से मठ पर मुकदमें भी चलाए गये हैं। किन्तु मुकदमें के निर्णय द्वारा भी उसकी सत्यता प्रमाणित हो चुकी है। इन दानपत्रों की लिपि पर भी आक्षेप किये गये हैं। किन्तु लुई राइस की पुस्तक "इपीग्राफिका कर्नाटिका" में कहा गया है कि इस दानपत्र की लिपि वही है जो उस समय प्रचलित थी। इलाहाबाद हाईकोर्ट ने भी इतिहासकारों के इस तर्क के आधार पर दानपत्र को वैध स्वीकार किया है। इस दानपत्र की एक दूसरी अनूदित प्रतिलिपि ताम्रपत्र है जिस पर महाराजा प्रभुनारायण सिंह के भी हस्ताक्षर है।[२]

मुस्लिम युग में भी प्राप्त कई दानपत्र मठ में सुरक्षित हैं। ये दानपत्र समय-समय पर हुमायूं, अकबर, जहांगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब द्वारा दिये गये हैं। बनारस गजेटियर पृष्ठ १२३ में भी इन फरमानों का स्पष्ट उल्लेख है उसके अनुसार हुमायूं बादशाह ने जंगमबाड़ी मठ की सहायता के लिए तीन सौ बीघे जमीन का दान मीरजापुर में दिया था।

बताया जाता है कि इस मठ को तोड़ने के लिए औरंगजेब भी एक बार

१. सुरजीत सिन्हा, वैद्यनाथ सरस्वती, एसेटिक्स आफ काशी, (पूर्वोक्त) पृ० १०२।

२. किशोरीरमण राणा, 'जंगमबाड़ी मठ की प्राचीनता'-आज नगर विशेषांक, (काशी : आज कार्यालय, ७ दिसम्बर, १९५०)।

जंगमवाड़ी मठ में आया था किन्तु प्रवेश करते ही एक विकराल काली छाया उसके समक्ष आकर खड़ी हो गयी। बादशाह वापस चला गया और मठ को ध्वंस करने का विचार त्यागकर हुमायूँ-अकबर आदि की भांति स्वयं भी भूमिदान दिया। इसी प्रकार नेपाल नरेश द्वारा विक्रमी सम्वत् ६९२ में भूमिदान का विवरण प्राप्त है जो भक्तपुर नामक स्थान पर पत्थर पर खुदा हुआ है।[1]

कहा जाता है कि काशी का प्रसिद्ध विश्वनाथ मन्दिर आरम्भ में जंगमबाड़ी मठ की ही देखरेख में था किन्तु बाद में मन्दिर की पूजा के लिए रखे गये पुजारियों तथा कुछ नागरिकों की चाल से यह मन्दिर जंगमवाड़ी मठ के हाथ से निकल गया। विश्वनाथ जी के श्रृंगार के दिन सजने वाली चाँदी की पंचमुखी मूर्ति आज भी मठ में सुरक्षित है।

महन्त-परम्परा

जंगमवाड़ी मठ की परम्परा में अवतक ८५ महन्त आ चुके हैं। १ से ८२ महन्तों तक की परम्परा 'श्रीमद्जगद्गुरु मल्लिकार्जुन शिवाचार्य' के पूर्व क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय करके बयासी तक की परम्परा का एक सूचीपत्र प्रकाशित है।[2] ८३वें श्रीमद्जगद्गुरु पंचाक्षर श्री शिवाचार्य थे। चौरासिवें महन्त श्री वीरभद्र शिवाचार्य स्वामी जी थे जो १९४३ से दिसम्बर, १९४७ तक थे। पच्चासीवें महन्त श्री विश्वेश्वर शिवाचार्य स्वामी जी हैं जो सम्प्रति मठ की सारी व्यवस्था की देख-रेख अपने अन्य मठवासियों की सहायता से करते हैं। इस गद्दी पर स्वामी जी का पट्टाभिषेक जनवरी, १९४८ से हुआ है।

स्वामी विशेश्वर शिवाचार्य जी का व्यक्तित्व बड़ा प्रतिभा सम्पन्न सरल एवं उदार है। अपने लिंगायत सम्प्रदाय एवं जंगमवाड़ी मठ से सम्बन्धित साहित्य को उपलब्ध कराने में आपने शोधार्थी की बड़ी सहायता की। सम्बन्धित दानपत्रों एवं अन्य सामग्रियों को भी आपने दिखाया और वांछित सूचनाएँ दीं।

सम्प्रदाय-परिचय

जंगमबाड़ी मठ शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत वीर शैव लिंगायत शाखा का एक महत्वपूर्ण मठ है। वीर शैव मत के संस्थापक जगद्गुरु पंचाचार्य—रेणुकाचार्य,

---

१. किशोरी रमण राणा, 'जंगमबाड़ी मठ की प्राचीनता' आज नगर विशेषांक, (काशी : आज कार्यालय ७ दिसम्बर १९५०), पृ० ४–५।

२. मालाक्षशास्त्री, 'श्रीमद्जगद्गुरु काशी सिंहासनाधीश्वरांची वंशावली' श्रीमद्-जगद्गुरु विश्वाराध्य महासंस्थान जंगमबाड़ी मठ श्रीक्षेत्र काशी द्वारा प्रकाशित, (हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, वाराणसी)।

दारुकाचार्य, एकोरामाध्याचार्य, पंडिताराध्याचार्य तथा विश्वाराध्याचार्य हैं। इन्होंने वीर शैव सिद्धान्त की रक्षा के लिए भारत के विभिन्न शिव-क्षेत्रों में पांच धर्मपीठों की स्थापना की।

वीर शैव मत प्राचीनकाल से ही सारे भारत में व्याप्त है। महाभारत काल में यह महापाशुपत या पाशुपत धर्म के नाम से प्रचलित था। किन्तु जैसे-जैसे उत्तरा भारत में वैष्णवों और बौद्ध धर्मावलम्बियों का प्रभाव बढ़ता गया, वीर शैव धर्म दक्षिण भारत की ओर चला गया। आजकल वीर शैव मतावलम्बियों का अधिक प्रसार दक्षिण भारत में ही है। वीर शैव सिद्धान्त, शक्ति विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित है। द्वैताद्वैत, शिवाद्वैत, विशेषाद्वैत नाम भी उसी के हैं। सिद्धान्त शिखामणि (श्लोक ३५, ३६) में वर्णाश्रम व्यवस्था दो प्रकार की बतायी गयी है जिसमें एक शिव द्वारा निर्दिष्ट है, दूसरी ब्रह्मा द्वारा। परमेश्वरागम (श्लोक सं० ६) में वीर शैवों का वर्णन किया गया है।[1] वीर शैव की संज्ञा इन्हें अपने आचार-विचार में दृढ़ होने के कारण प्राप्त है न कि सम्प्रदाय विशेष के विरोध में वीरता दिखाने के कारण। शिवागमों में स्पष्टतः लिखा गया है—"भक्त्या वीरो न वैरेण" अर्थात् वीर शैव वे हैं जो नवधा भक्ति का निर्वाह करने में अपने प्राणों तक को न्योछावर कर देते हैं। वैर से उन्हें वीरता की संज्ञा नहीं मिली है।

वीर शैव शिव को ही सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] खान-पान में शुद्धता के ये बड़े कट्टर होते हैं। शैवों की वर्णव्यवस्था के चार मुख्य भेद हैं—सामान्य शैव, मिश्र शैव, शुद्ध शैव तथा वीर शैव। वीर शैवों में ब्राह्मण

---

१. वर्णाश्रमादि धर्माणां व्यवस्था ही द्विधामता ॥
एका शिवेन निर्दिष्टा ब्रह्मणा कथिता परा ॥३५॥ (सिद्धान्तशिखामणि)
ब्राह्मणा वीर शैवस्थाः शिखाः यज्ञोपवीतिनः ॥
लिंग रुद्राक्ष भस्मांकाः ब्रह्म कर्म समाश्रिताः ॥६॥ (पारमेश्वरागम)
—जंगमबाड़ी मठ की प्राचीनता, (काशी : व्यवस्थापक जंगमबाड़ी मठ, १९७९), भूमिका भाग, पृ० ३ से उद्धृत।

2. 'They proclaimed that there was nothing greater than Shiva in the Universe, that this great worlds of ours was created by Him and that every one ought to worship Him and there by get salvation'
—Speeches by pt. shree Kashi Nath Shastri, (Mysore : Sri Panchacharya Electric Press. 1931), p. 2.

संन्यासियों को 'जंगम' की संज्ञा दी गयी है। काशी का जंगमवाड़ी मठ इन्हीं जंगमों का है। वीर शैव अपने शरीर पर बराबर शिवलिंग धारण किये रहते हैं। इनका विश्वास है कि जगत के ३६ तत्वों का क्रियाविलास इन्हीं पंचब्रह्मरूप शिव की ही लीला है। वीर शैव को 'लिंगायत' की संज्ञा बारहवीं शताब्दी में 'बासव' द्वारा दी गयी, जिन्होंने प्राचीनकाल से प्रचलित वीर शैव धर्म को पुनर्व्यवस्थित किया।

दशनामी शैव संन्यासी तथा वीर शैव संन्यासियों के बीच वेश-भूषा सम्बन्धी कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं। सिर मुड़ाये रहते हैं। भस्म लगाते हैं। दोनों मस्तक पर 'त्रियकत्रिपुण्ड' धारण करते हैं। किन्तु इष्टलिंग (लिंगम) को चाँदी में मढ़कर गले में धारण करने की विशेषता वीर शैवों की ही है। वीर शैवों के सम्बन्ध में लोगों की धारणा है कि उनमें जातिगत कट्टरता नहीं होती तथा वे ब्राह्मणों का विरोध करते हैं किन्तु शोधार्थी ने अनुभव किया है कि वीर शैव संगठन इस धारणा के विपरीत जाति-वर्ग सम्बन्धी परम्पराओं के पोषक हैं। इस धर्म की दीक्षा न केवल संन्यासी वरन् गृहस्थ भी ग्रहण करते हैं। इनके यहाँ मरने के बाद शव-दाह या नदी में शव-प्रवाह के स्थान पर शव को जमीन में गाड़ने की प्रथा प्रचलित है। ये पुनर्जन्म में भी विश्वास नहीं रखते। इनकी धारणा है कि अपने गले में सदैव शिवलिंग धारण करने के कारण ये मृत्यु के बाद स्वयमेव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

वीर शैवों के अनेक प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थ हैं, यथा—कामिकादि शिवागम, सिद्धान्त शिखामणि, श्रीकरभाष्य, नीलकण्ठभाष्यक्रियासार, शिवाद्वैत-मंजरी, लिंगधारणचन्द्रिका आदि।

स्थितिः भवन एवं साज-सज्जा

जंगमबाड़ी मठ का विशाल भवन वाराणसी में गोदौलिया से विश्वविद्यालय को जाने वाले राजमार्ग के बायें किनारे पर स्थित है। एक विशाल द्वार से प्रवेश करने के बाद कुछ सीढ़ियाँ ऊपर चलकर मठ का मुख्य द्वार है। उसे पारकर सीधे प्रांगण में पहुँचते हैं जिसमें एक छोटा सा मन्दिर तथा इसके बायें दायें दर्शनार्थियों के आवास हेतु लगभग ५० कमरों की व्यवस्था है। प्रवेशद्वार से आगे चलकर दायें हाथ मठ के प्रमुख भवन में प्रवेश करते हैं। मठ का भवन बहुत विशाल है, इसमें कई छोटे-बड़े आंगन और प्रखण्ड हैं। मध्य भाग में कई मन्दिर एवं समाधियाँ हैं। मन्दिर के चारों ओर लिंगायत धर्मावलम्बियों द्वारा स्थापित छोटे-छोटे लगभग ६० हजार शिवलिंग हैं जिनमें से अधिकांश के साथ सम्बन्धित मृत व्यक्तियों के नाम के पट्ट भी लगे हुए हैं। लिंगायतों का विश्वास है कि काशी स्वर्गस्थली है। यहाँ जिस व्यक्ति के प्रतीक स्वरूप शिवलिंग की स्थापना की जायगी

वह निश्चय ही मुक्ति प्राप्त कर लेगा। मठ में छात्रों, विद्वानों एवं संन्यासियों के आवास की अलग-अलग व्यवस्था है।

सम्पूर्ण भवन सुव्यवस्थित, स्वच्छ एवं आरामप्रद है। आवश्यकतानुसार इनके कक्ष बिजली, पंखे, उपकरणों से सुसज्जित हैं। चन्द्रमौलीश्वर की यहाँ बहुत सुन्दर प्रतिमा है। आचार्य का सिंहासन या गद्दी भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है. जहाँ प्रथम आचार्य ने बैठकर धर्मोपदेश दिये थे। नये महन्त अपने जीवनकाल में केवल एक बार इस आसन पर पट्टाभिषेक के समय बैठते हैं। उसके बाद हमेशा उसकी पूजा होती रहती है।

अचल एवं चल सम्पत्ति यथा आय-व्यय का विवरण

जंगमबाड़ी मठ के पास पहले बहुत बड़ी भू-सम्पत्ति थी। इसे हुमायूँ और उसके उत्तराधिकारियों से दानस्वरूप पर्याप्त भूमि प्राप्त थी।[1] इसके अतिरिक्त जंगमबाबा के नाम पर यहाँ 'बैंकिंग-बिजनेस' भी चलता रहा है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि हुमायूँ ने मठ को लगभग ३०० बीघे जमीन दान में दी थी। यह जमीन बनारस और चुनार के मध्य थी। गोदौलिया से लेकर दक्षिण में बंगाली टोला के डाकघर तक और पूरब में अगस्त्यकुन्ड से पश्चिम में रामापुरा तक सारा स्थान जंगमबाड़ी मुहल्ला कहा जाता है। यह सारी जमीन मठ की ही थी। इनसे पिछले कई वर्षों तक मठ को 'परजवट' स्वरूप कुछ भाड़ा मिला करता था पर अब वसूली के अभाव में वह भी नहीं मिल रहा है। 'परजबट' जमीन के वार्षिक किराए को कहते हैं। इनसे मठ को ८–१० हजार की आय होती थी पर अब उसे मठ की ओर से नियमित रूप में कोई वसूल नहीं करता। १९५१ तक इन मुहल्लों के बिकने वाले मकानों से 'चहरुम' (किसी मकान के विक्रय मूल्य का १।४ भाग) भी मठ को प्राप्त होता था, वह भी अब नहीं मिल रहा है। फिर भी मठ से सम्बद्ध दुकानों, भवनों, जमीन आदि के किराए से मठ को आमदनी है। राजकीय सहायता से भी इसे १३०० (तेरह सौ रुपए) की प्राप्ति होती है। इनके अतिरिक्त शिष्यों से चढ़ावे में तथा शिवलिंग-स्थापना के दक्षिणास्वरूप प्राप्त होता है।

इस मठ को विभिन्न मन्दिरों की पूजा का व्यय-भार अपने ऊपर उठाना पड़ता है। ये मन्दिर हैं—सूर्यनारायण मन्दिर, रोहितास मन्दिर, राम मंदिर तथा धनकामेश्वर एव मनकामेश्वर मंदिर (विश्वनाथ गली) आन्ध्र प्रदेश के २५–३० छात्र हमेशा इस मठ में रहते हैं। मठ द्वारा न केवल उनके आवास वरन् उनके भोजनादि की भी व्यवस्था की जाती है।

प्रशासन-तन्त्र

सम्प्रति मठ बड़े सुव्यवस्थित ढंग से चल रहा है। मठीय व्यवस्था की

देखरेख के लिए एक व्यवस्थापक की नियुक्ति की गयी है । इनके अतिरिक्त एक मुख्य पुजारी तथा तीन उनके सहयोगी पूजापाठ की व्यवस्था करते हैं ।

आगन्तुक-विवरण

मठ पर स्थायीरूप से २५ साधु रहते हैं । महीने में १० साधु तथा २०० गृहस्थ आते हैं । मठ पर स्वामी जी की गद्दी के दर्शनार्थ एवं मठ में शिवलिंग की स्थापना के लिए दक्षिण भारत से हजारों दर्शनार्थी यहाँ आते हैं । इनमें प्रायः वीर शैव समाज के लोग ही अधिक संख्या में आते हैं । शिवरात्रि के अवसर पर मठ रथोत्सव का आयोजन होता है । इस अवसर पर लगभग हजार-डेढ़ हजार यात्री आते हैं । उस दिन पूजापाठ के बाद सामूहिक फलाहार की व्यवस्था सभी यात्रियों के लिए की जाती है । इस अवसर पर मंदिर सार्वजनिक दर्शन के लिए खोल दिया जाता है । कभी-कभी मठ में विद्वानों की गोष्ठियों का भी आयोजन किया जाता है । उस समय संस्कृत के प्रतिभावान छात्रों को सम्मानित किया जाता है । दक्षिणी भारत के काशी आने वाले प्रत्येक जंगम संन्यासी इस मठ में ही प्रवास करते हैं ।

मठ में साधुओं की दिनचर्या

नित्यकर्म, स्नान, पूजन आदि से निवृत्त होकर नित्य मठ की व्यवस्था में संन्यासियों को कुछ समय लगाना पडता है । सायंकालीन आरती के समय सभी मठवासी एक स्थल पर उपस्थित होते हैं । सोमवार तथा गुरुवार को सायं ६ से १० बजे तक भजन का आयोजन होता है जिसमें सभी लोग समय से उपस्थित होते हैं । प्रति रविवार को धार्मिक सभा का भी आयोजन होता है जिसमें छात्रों की वाद-विवाद प्रतियोगिता तथा धार्मिक चर्चाओं का आयोजन किया जाता है । मठ से एक हस्तलिखित पत्रिका भी निकाली जाती है । मठ में शिवलिंग-स्थापना के समय निम्नलिखित पूजा-विधान का अनुसरण किया जाता है ।

(१) शुद्धिकरण के पश्चात् आचमन-प्राणायाम तथा संकल्पपूर्वक गणपति की पूजा की जाती है ।

(२) देवता का ध्यान लगाया जाता है ।

(३) 'अंकुरपान' के उपलक्ष्य में अक्षत छिड़के जाते हैं ।

(४) **जलाधिवास**—शिवलिंग को मन्त्र द्वारा जल में रख दिया जाता है ।

(५) **धान्यादिवास**—तत्पश्चात् शिवलिंग को गेहूँ, धान आदि अनेक बीजों में रख दिया जाता है ।

(६) **सिन्धिवास**—शिवलिंग को दूध-भरे पात्र में रख दिया जाता है ।

(७) **वस्त्राधिवास**—अब लिंग को नए वस्त्रों के टुकड़ों पर रखा जाता है ।

(८) कालावाहन—सम्बन्धित पितरों की आत्मा को आहूत किया जाता है।

(९) प्राणप्रतिष्ठा तथा लिंग-स्थापन-स्थान का मन्त्रों द्वारा शुद्धिकरण।

(१०) मन्त्रपारायण जप एवं षोडशोपचार पूजन के बाद शिवलिंग की स्थापना कर दी जाती है।

शिवलिंग की स्थापना के लिए मठ की ओर से दक्षिणा भी निर्धारित की गयी है जो क्रमशः रुपया, दो सौ, चार सौ, तथा पाँच सौ से एक हजार तक है। यह दक्षिणा मठ में लिंग स्थापनानार्थ दिए गए विविध स्थानों के अनुसार है।

विवाद एवं मुकदमें

जंगमवाड़ी मठ आजादी के पूर्व अनेक विवादों और मुकदमों के बीच पड़ा हुआ था। मठ द्वारा जो बैंकिंग व्यापार चलाया गया था उसमें घाटा आने से बैंक दिवालिया हो गया था जिस पर सम्बन्धित खातेदारों ने मठ के विरुद्ध मुकदमा चलाया, परिणामतः कई लाख रुपया खातेदारों को वापस करने के लिए मठ को आदेश दिया गया। इस समय मठ पर राजकीय नियन्त्रक की नियुक्ति कर दी गई है, उसे अधिकार दिया कि वह मठ की सम्पूर्ण आमदनी से खातेदारों की राशि को धीरे-धीरे भुगतान कर दे। किन्तु इस बीच ३ वर्ष की अवधि में प्रतिवर्ष केवल डेढ़ हजार की दर से साढ़े पाँच हजार रुपया ही जमा हो सका। १९४५ ई० में तत्कालीन महन्त स्वामी वीरभद्राचार्य ने हाईकोर्ट में प्रार्थनापत्र देकर निवेदन किया कि यदि मठ मेरे अधिकार में सीधे दे दिया जाय तो मैं प्रतिवर्ष पाँच हजार रुपया जमा करूँगा। हाईकोर्ट ने इसके लिए आदेश कर दिया तभी से पिछले तीस वर्षों में मठ ने उन कई लाख रुपयों का भुगतान कर दिया। कुछ खातेदारों को स्वामी जी ने अपने प्रभाव से कुछ रुपये देकर भुगतान की रसीदें प्राप्त कीं। परिणामतः अब मठ का ऋण भुगतान हो चुका है। स्वामी जी का कहना था कि इन मुकदमों से मठ की अत्यधिक आर्थिक क्षति हुई है।

राजनीतिक सक्रियता

मठ में राजनीतिक सक्रियता का दर्शन नहीं होता। सम्भवतः आजादी के पूर्व मठ अपने बैंकिंग व्यापार में व्यस्त होने के कारण तथा उससे उत्पन्न विवादों के कारण विशेष सक्रिय नहीं था। इसी प्रकार आजादी के बाद भी वह अपने मठ संबंधी ऋणों के भुगतान में लगा रहा।

सामाजिक-सेवा कार्य

वर्तमान मठ का उद्देश्य जंगमों को धार्मिक शिक्षा प्रदान करना है। यहाँ

छात्रों को धर्मोपदेश की शिक्षा भी दी जाती है। इस समय कुल २७ विद्यार्थी यहां शिक्षा पा रहे हैं। ये छात्र कर्नाटक तथा महाराष्ट्र के हैं। यहाँ विद्वानों एवं धार्मिकों की गोष्ठियों का भी आयोजन होता रहता है। इस मठ में कुछ अपनी चमत्कारपूर्ण रहस्यमयी क्रियाओं की विशेषता भी रही है। पचास वर्ष पूर्व ये चमत्कारपूर्ण क्रियाओं के प्रदर्शन सम्बन्धी आयोजन भी करते रहे हैं जिसमें जंगम साधु आग के ऊपर से चलते थे। यहाँ के आचार्यों में शिवलिंगधारी स्वामी विशेष 'सिद्ध महात्मा' माने जाते हैं।

मठ में एक सुव्यवस्थित पुस्तकालय है जिसमें संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी एवं दक्षिणी भाषाओं में प्रकाशित लगभग ५ हजार पुस्तकें हैं। ये पुस्तकें अधिकांशतः धर्म, दर्शन एवं प्राचीन साहित्य सम्बन्धी है। संस्कृत साहित्य के सुधी पाठकों एवं शोधार्थियों के लिए पुस्तकालय विशेष उपयोगी सिद्ध हो रहा है। हिन्दी साहित्य के भी अनेक ग्रंथ पुस्तकालय में मौजूद हैं।

मठ में शिवरात्रि के दिन भण्डारे का आयोजन किया जाता है जिसमें न केवल जंगम साधु वरन् अन्य दीन-हीन भिक्षु भी भोजन करते हैं। मठ में रहने वाले छात्रों को भोजन, वस्त्रादि की सहायता दी जाती है। दक्षिण से आने वाले वीर शैव मतावलम्बियों के लिए यह मठ एक अस्थायी आवास की सुविधा भी प्रदान करता है। इनके धार्मिक उत्सवों एवं गोष्ठियों एवं रथोत्सव आदि में वीर शैव धर्मेत्तर बिद्वान भी ससम्मान आमंत्रित किए जाते हैं। मठ द्वारा पूना तथा नागपुर में भी छात्रावास चलाए जा रहे हैं जिससे लगभग सत्रह-अठारह हजार छात्र लाभान्वित हो रहे हैं।

गोविन्द मठ (वाराणसी)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वाराणसी के टेढ़ीनीम मुहल्ले में स्थित गोविन्द मठ भारतीय धर्म-दर्शन एवं संस्कृत साहित्य के उद्भट विद्वानों के केन्द्र-स्थल के रूप में बिख्यात रहा है। आरम्भ में यह मठ संन्यासाश्रम के नाम से प्रसिद्ध था। स्वामी गोविन्दानन्द जी मण्डलेश्वर ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस संन्यास आश्रम का नवीनीकरण और जीर्णोद्धार किया। बाद में उनके शिष्य स्वामी जयेन्द्रपुरी के समय से यह मठ गोविन्द मठ के नाम से प्रख्यात हुआ। यह मठ एक प्राचीन सिद्धपीठ के रूप में सम्मानित है।

'संन्यासाश्रम' की स्थापना किस समय हुई इसका ठीक-ठीक पता नहीं लग सका है किन्तु यहाँ के महन्तों की उपलब्ध एक सुदीर्घ परम्परा से ऐसा प्रतीत होता है कि इस आश्रम की स्थापना १७वीं शताब्दी में ही हो चुकी थी। लगभग ढ़ाई सौ

वर्षों का अन्तराल पार करते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इस आश्रम ने गोविन्दमठ की संज्ञा प्राप्त की। मठ के तत्कालीन अधिपति (महन्त) तथा मण्डलेश्वर स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी के प्रखर पाण्डित्य का लोहा काशी का समस्त विद्वत्समाज मानता था। न्याय, वेदान्त, व्याकरण आदि में उनकी अबाध गति थी। कहा जाता है कि एक बार सन् १९१५-१६ में दक्षिण भारत के द्वैतवादी माध्व सम्प्रदाय के आचार्य काशी में शास्त्रार्थ करने आए थे। शास्त्रार्थ का आयोजन टाउनहाल में किया गया था। विद्वानों के इस विराट् समारोह में स्वामी गोविंदानन्द जी को अध्यक्ष बनाया गया था। स्वामी जी ने मंच पर पहुँच कर १०१) रुपये का पुरस्कार शास्त्रार्थ में बिजयी होने वाले विद्वान के लिए घोषित किया और कहा कि यदि कोई विद्वान् शास्त्रार्थ में मुझे हरा देगा तो मैं उसका शिष्यत्व ग्रहण कर लूंगा। स्वामी जी के हारने का प्रश्न ही नहीं था, काशी के दूसरे विद्वानो ने ही विपक्षी को परास्त कर दिया।

स्वामी गोबिन्दानन्द जी संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के बहुत बड़े हिमायती थे। वे संन्यासियों को संस्कृत विद्या और शास्त्रज्ञान से विभूषित करना चाहते थे किन्तु लोगों ने बताया कि काशी का पण्डित समाज साधुओं को पढ़ाने में हिचकता है और उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। अब स्वामी जी ने एक संन्यासी संस्कृत पाठशाला खोलने का संकल्प किया जिसके अनुसार १९०६ ई० में श्री अपार नाथ मठ में संन्यासी संस्कृत पाठशाला की स्थापना की गयी।

अपार नाथ मठ और संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय दोनों नाम अब एक जैसे हो गए हैं। अपारनाथमठ की व्यवस्था गोविन्दमठ के माध्यम से होती रही है। गोबिन्द मठ के महंत ही अपारनाथ मठ तथा संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय के पदेन सभापति रहते हैं। अपारनाथ मठ की स्थापना का समय लगभग १७वीं शताब्दी ही बताया जाता है। बाबा अपारनाथ काशी के एक सिद्ध संन्यासी तथा चमत्कारी महात्मा थे। कहा जाता है कि औरंगजेब के सूबेदार द्वारा जब विश्वनाथ जी का मंदिर तोड़ा जा रहा था उसी समय बाबा अपारनाथ वहाँ पहुँच गये। उन्होंने अपनी सिद्धि के बल पर सूबेदार को आश्चर्यचकित कर दिया। उनके कमण्डल को भरने में भिश्तियों ने कई मशक पानी उडेल दिए गए पर कमण्डल नहीं भर सका। यह भी कहा जाता है कि सूबेदार की शर्त पर बाबा ने एक सेर पारा पी लिया और एक माह बाद उसे वापस भी कर दिया। इसी से प्रभावित होकर सूबेदार ने बाबा के आदेश पर दो मठों का निर्माण करवाया था[१]—एक है अपारनाथ मठ जो ढुण्ढिराज

---

१. स्वामी केशवपुरी, अपारनाथ मठ और संन्यासी विद्यालय, (बनारस, दी संन्यासी संस्कृत कालेज एसोसिएशन, १९७९ ई०), पृ० १८।

गणेश मुहल्ले में स्थित है, दूसरा है अपारनाथ का टेकरामठ जो लक्ष्मीकुण्ड के निकट स्थित है। यद्यपि इस किंवदन्ती का कोई ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं है फिर भी इतना निश्चित है कि ये मठ बहुत पुराने हैं तथा बाबा अपारनाथ एक सिद्ध संत एवं प्रतिभासम्पन्न संन्यासी थे।। अपारनाथ मठ सम्प्रति गोबिन्द मठ के अधिकार में है किन्तु हथियाराम मठ गाजीपुर के महंत ने इसके स्वामित्व के सम्बन्ध में न्यायालय 'वाद' प्रस्तुत किया है जो विचाराधीन है। इसी प्रकार अपारनाथटेकरा मठ पर सम्प्रति हथियाराम मठ ने अधिकार कर लिया है और उसके पूर्ण स्वामित्व का दावा किया है।

महन्त परम्परा

गोविन्द मठ के आरम्भिक महन्तों की कोई प्रामाणिक सूची प्राप्त नहीं है जिसके कारण इसके संस्थापक महन्त का विवरण उपलब्ध नहीं है। फिर भी पं० महादेव उपाध्याय, साहित्य वेदान्ताचार्य (भूतपूर्व प्राध्यापक संन्यासी संस्कृत कालेज, काशी) द्वारा लिखित एवं सम्पादित ग्रंथ में दिये गये विवरण के अनुसार सम्भवतः रमेश भारती जी के आचार्यत्व में इस आश्रम का उद्घाटन हुआ होगा। इनके बाद क्रमशः अट्ठाईसवें महन्त स्वामी धनीगिरि जी के बाद स्वामी गोविन्दानन्द जी मण्डलेश्वर (उन्नीसवें महन्त) ने इस आश्रम का पुनरुद्धार किया, उन्हीं के नामपर 'गोविन्द मठ' नाम प्रचलित हुआ। सन् १९२३ ई० में स्वामी गोविन्दानन्द जी के ब्रह्मलीन हो जाने पर स्वामी जयेन्द्रपुरी जी मण्डलेश्वर हुए। वे त्याग और तप की साकार प्रतिमा थे, संन्यासी-समाज और पण्डित-समाज दोनों की ही उनपर श्रद्धा थी। किसी को कष्ट देना या मन को दुःखी करना वे जानते ही नहीं थे। शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन और धर्म प्रचार ही उनके व्यसन थे।'[1] स्वामी गोविन्दानन्द ने अपारनाथ मठ में संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना करने के बाद राजराजेश्वरी मन्दिर ललिताघाट के मठ को भी अपने अधिकार में लेकर वहाँ छात्रावास की व्यवस्था की थी। स्वामी जयेन्द्रपुरी जी वहीं रहकर संन्यासी छात्रों को विद्याभ्यास, योगाभ्यास कराने के साथ ही स्वयं भी वैदिक साहित्य का चिन्तन-मनन करते थे। मण्डलेश्वर होने के बाद स्वामी जयेन्द्रपुरी ने अहमदाबाद, गुजरात तथा दक्षिण के अन्य क्षेत्रों में धर्म प्रचार का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था। संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय के विकास में उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। सम्प्रति यह विद्यालय 'क' (प्रथम श्रेणी) के विद्यालयों में शिक्षा विभाग से अनुदान प्राप्त कर रहा है। स्वामी जयेन्द्रपुरी जी सन् १९४१ ई० में अहमदाबाद में ब्रह्मलीन हो गये।

---

१. महादेव उपाध्याय, जयेन्द्रपुरी जीवनचरित, (काशी : स्वामी धर्मानन्द; मन्त्री, संन्यासी संस्कृत कालेज, अपारनाथ मठ, १९४४), पृ० ५२–५३।

उनके बाद मण्डलेश्वर श्री कृष्णानन्द जी महाराज ने गोविन्द मठ का कार्यभार ग्रहण किया।

स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज की भी धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में अत्यधिक निष्ठा थी। उन्होंने अहमदाबाद में दीन-दुःखियों की सहायता के लिए एक ट्रस्ट की स्थापना की है। वे अच्छे कथावाचक एवं व्याख्याता थे। वेदान्त के कठिन से कठिन विषय को भी वे अत्यन्त सरल रूप में समझाते थे। गोविन्द मठ, संन्यासी विद्यालय, अहमदाबाद के संन्यासाश्रम और भरुच (गुजरात) के अशोक आश्रम को उन्होंने अपने समय में आर्थिक दृष्टि से पूर्ण समर्थ बना दिया है। ये महात्मा ९ जनवरी, सन् १९७८ को ब्रह्मलीन हो गये। उनके बाद वर्तमान महन्त स्वामी अतुलानन्द जी महाराज मण्डलेश्वर के पद पर अभिषिक्त हुए हैं। गोविन्द मठ की विद्वत्परम्परा में आपका भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। एम० ए० तक विद्याध्ययन के बाद आप काशी पधारे थे। गोविन्द मठ ट्रस्ट से सम्बन्धित संस्थाओं के विकास के लिए आपने कई महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। ललिता घाट स्थित राजराजेश्वरी मठ (सिद्धगिरि मठ) जो अत्यन्त जर्जर हो चुका था, आपने उसका जीर्णोद्धार कराया है। सिद्धपीठ अपारनाथ मठ की भी आपने मरम्मत करवाकर उसे आधुनिक रूप प्रदान किया है। स्वामी केशवपुरी जी[1] से ज्ञात हुआ कि इन कार्यों में स्वामी जी ने लगभग एक लाख रुपये व्यय किये हैं। बताया गया कि इस समय संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय के पुस्तकालय की जीर्णशीर्ण पुस्तकों की व्यवस्था एवं रख-रखाव के लिए भी उपकरण जुटाये जा रहे हैं।

गोविन्दपुरी मठ के इन विद्याप्रेमी, समाजसेवी एवं लोकोपकारी महात्माओं द्वारा गुजरात और कलकत्ता में अनेक महाविद्यालयों एवं आश्रमों की स्थापना की गयी है, जिनमें हजारों छात्र-छात्राएं शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

सम्प्रदाय-परिचय

गोविन्द मठ शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत दसनामी संन्यासियों का आचार्यपीठ है। दसनामी संन्यासियों के सात अखाड़ों में सर्व-प्रमुख महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा है जिसका मुख्यालय दारागंज, प्रयाग में स्थित है। गोविन्द मठ के महन्त निर्वाणी अखाड़ा के आचार्य गुरु का काम करते हैं। यद्यपि अखाड़ों के अन्य भी अनेक मण्डलेश्वर होते हैं किन्तु आचार्य मण्डलेश्वर एक अखाड़े के लिए एक ही होता है।

स्थिति : भवन एवं साज-सज्जा

गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम मोहल्ला वाराणसी के मध्य में स्थित है। सम्प्रति

१. भूतपूर्व मंत्री 'दी संन्यासी संस्कृत कालेज एसोसिएशन, बनारस।'

वह बाहर से देखने पर एक भव्य तिमंजिली इमारत के रूप में है। मुख्य द्वार से प्रवेश करते ही दायीं ओर स्वामी जयेन्द्रश्वर महादेव का मन्दिर है। यह मन्दिर एक वृहद् कक्ष में छोटे से मण्डप के रूप में निर्मित है। मण्डप में स्वामी जयेन्द्रपुरी (तीसवें महन्त) की श्वेत संगमरमर निर्मित मूर्ति तथा शिवलिंग की स्थापना हुई है। मठ के दो भवन हैं; एक के प्रांगण को पार कर दूसरे भवन में पहुँचते हैं। भवन बहुत ठोस बने हुए हैं। इनमें लगभग ५० कमरे हैं। कमरे आधुनिक उपकरण—बिजली, पंखा तथा रोशनी से सुसज्जित हैं। कुछ कमरों में संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय के छात्र तथा आचार्य रहते हैं। सत्संग के लिए दो-तीन बृहद् कक्ष हैं। शेष कमरों में संन्यासियों एवं आगन्तुकों को समय-समय पर आश्रय दिया जाता है।

चल-अचल सम्पत्ति एवं आय के स्रोत

गोविन्दपुरी मठ का एक बहुत बड़ा ट्रस्ट है जिसके अन्तर्गत—अपारनाथ मठ, राजराजेश्वरी मठ (सिद्धगिरि मठ), वाराणसी सत्संग भवन कलकत्ता (कलकत्ता नं० ७० में दर्पनारायण टैगोर स्ट्रीट पर स्थित, यह भवन लगभग २० लाख रुपये की लागत से तैयार हुआ है।), अहमदाबाद का संन्यास आश्रम, भरुच (गुजरात) का अशोक आश्रम तथा अन्य कई महाविद्यालय हैं।

गोविन्दपुरी मठ की समस्त चल-अचल सम्पत्ति का विवरण नहीं प्राप्त हो सका है किन्तु उसके द्वारा संचालित संस्थाओं, मठों एवं आश्रमों का सुव्यवस्थित रूप इस बात का परिचायक है कि मठ के पास बहुत बड़ी चल-अचल सम्पत्ति एवं ट्रस्ट है जिसके व्याज से सभी संस्थाओं का संचालन होता है।[1]

विवाद एवं मुकदमें

मठों में प्रायः सम्पत्ति एवं स्वामित्व सम्बन्धी कुछ न कुछ विवाद खड़े हो उठते हैं। गोविन्द मठ में स्वामित्व विषयक कोई विवाद नहीं है। किन्तु उससे सम्बद्ध संस्थाओं से सम्बन्धित कई विवाद चल रहे हैं। अपारनाथ मठ के स्वामित्व के विषय में एक मुकदमा हथियाराम मठ के महन्त द्वारा खड़ा किया गया है। इसी प्रकार अपारनाथ टेकरा मठ जो कभी इनके अधिकार में था उस पर हथियाराम मठ का अधिकार हो गया है, उसके स्वामित्व का भी वाद न्यायालय में दाखिल है।

प्रशासन-तन्त्र

मठ के प्रशासन तन्त्र में महन्त, कोठारी, भण्डारी, पुजारी तथा सेवक होते हैं। गोविन्द मठ में ये पांचों पद प्रचलित हैं। इनके महन्त निर्वाणी अखाड़े के

---

१. केशवपुरी, अपारनाथ मठ वार्षिक विवरण, (वाराणसी : प्रकाशक स्वामी रामेश्वरानन्द, मंत्री, १९७८), पृ० ५५।

मण्डलेश्वर हैं। मठ का प्रशासन-तन्त्र बहुत सुगठित, सुव्यवस्थित एवं साधु-मर्यादा के अनुकूल है।

आगन्तुक-विवरण

गोविन्द मठ के शिष्य एवं संन्यासी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए हैं। विशेषकर अहमदाबाद, गुजरात, कलकत्ता जहाँ इनकी अन्य शाखाएँ तथा आश्रम चल रहे हैं, वहाँ प्रायः यात्रियों का दल आता रहता है। उनके आवास की व्यवस्था इस मठ में कर दी जाती है। यहाँ प्रतिमास लगभग १२५ गृहस्थ तथा ३० संन्यासी अतिथि के रूप में आते रहते हैं। संन्यासियों के भोजन की भी व्यवस्था रहती है। यहाँ स्थायी रूप से ३० विद्यार्थी, आचार्य एवं साधु रहते हैं।

राजनीतिक सहभागिता

ये राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लेते और न तो किसी दलगत राजनीति से ही सम्बद्ध हैं। मठ के दर्शनक्रम में सामान्य राजनीतिज्ञ भी यहाँ आशीर्वाद लेने हेतु आते रहते हैं।

सामाजिक-सेवा-कार्य

सामाजिक सेवाकार्य के क्षेत्र में गोविन्द मठ का बहुत बड़ा प्रदेय है। इनकी सहायता से वाराणसी, कलकत्ता, तथा अहमदाबाद एवं गुजरात में अनेक शिक्षण संस्थाएँ चल रही हैं। इन संस्थाओं में हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। मठ की ओर से सैकड़ों छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। छात्रावास में गरीब छात्रों को न केवल आवास की सुविधा प्राप्त है वरन् बहुत से छात्र मुफ्त भोजन भी करते हैं।

सामाजिक कार्यों में स्वामी गोविन्दानन्द तथा उनके बाद के सभी महन्तों की विशेष रुचि रही है। स्वामी जयेन्द्रपुरी ने अहमदाबाद में संन्यास आश्रम की स्थापना करके वहाँ के भक्तजनों को उपदेश एवं सत्संग आदि की पर्याप्त सुविधा प्रदान की है। श्रीकृष्णानन्द जी ने दीन-दुखियों की सहायता के लिए अहमदाबाद में एक ट्रस्ट की स्थापना की है। उन्होंने संत विनोबा भावे के भूदान यज्ञ में मठ को प्राप्त गाँवों में से १५ मार्च, १९५८ ई० को ६ गाँव दान कर दिए जो ज्ञानपुर तहसील में हैं। इसमें लगभग ५०० बीघा जमीन थी।

संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना से न केवल संन्यासियों वरन् गरीब ब्राह्मण विद्यार्थियों को भी सहायता दी जाती है। गोविन्द मठ से सम्बद्ध अपारनाथ मठ में एक अखण्ड दीपक जलता है। इस दीपक का तेल लगाने से कुत्ते का काटा हुआ व्यक्ति भी स्वस्थ हो जाता है। यह दीपक कब से जल रहा है, इसका कोई पता नहीं है। प्रतिदिन ३-४ व्यक्ति तेल लेने के लिए आते हैं। मठ से तेल लेने के बदले में कोई पैसा नहीं लिया जाता है।

मठ द्वारा प्रत्येक वर्ष भण्डारे की व्यवस्था की जाती है। मठ द्वारा कई पुस्तक प्रकाशन कार्य भी हुए हैं।

बिहारीपुरी मठ (वाराणसी)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विश्वनाथ गली, वाराणसी में स्थित बिहारीपुरी मठ वाराणसी के प्राचीन मठों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि इसकी स्थापना का निश्चित समय ज्ञात नहीं है फिर भी अनुमान है कि सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गोस्वामी ध्यानपुरी द्वारा इसकी स्थापना की जा चुकी थी। आगे चलकर १८०० ई० तथा १८०२ ई० में इस मठ के लिए दो भवन क्रय किए गए। उस समय तक इस मठ की ख्याति रिद्धपुरी मठ तथा इच्छापुरी मठ के रूप में हो चुकी थी। १८७०-७५ के लगभग इस मठ के महंत गोस्वामी बिहारीपुरी जी थे, उनके समय से ही इस मठ की ख्याति बिहारीपुरी के नाम से हुई।

गोस्वामी बिहारीपुरी के समय में इस मठ के पास बहुत बड़ी चल और अचल सम्पत्ति हो चुकी थी और उसका लेनदेन का भी कारबार चलता था। गोसाईं स्वयं भी बड़े प्रभावशाली नागरिक थे, जिनका बड़ा सम्मान था और नगर के मामलों में धन के लेन-देन के लिए विख्यात थे। उस समय यह मठ एक कोठी के रूप में विख्यात हो चुका था, जहाँ बैंकिंग तथा महाजनी का काम होता था। १९१९ ई० में इस मठ के महन्त स्वामी रामचरणपुरी तथा स्वामी रामपुरी जी के विरुद्ध बनारस के सबार्डिनेट जज के कोर्ट में घसीटी बीबी द्वारा एक मुकदमा दायर किया गया था जिसमें इस कोठी के विरुद्ध ७६२७०० रुपये की डिग्री हुई थी जिसमें मठ की सम्पत्ति बेचकर डिग्री के धन को मुसम्मात घसीटी बीबी को वापस करने का आदेश हुआ था। उस मुकदमें के दौरान कोर्ट की ओर से जो जाँच-पड़ताल हुई थी, उससे इस मठ के पुराने इतिहास के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती है। मुकदमें का सम्पूर्ण विवरण लगभग सन् १९३३ में प्रकाशित 'पेपर बुक' (रेकार्ड आफ प्रोसीडिंग्स) से प्राप्त होता है जिसमें हाईकोर्ट इलाहाबाद के जुडीकेचर द्वारा २७ अप्रैल; १९३२ को निर्णय लिया गया है। १९१९ में चलाए गए इस मुकदमें की काफी चर्चा रही है। श्री कैलासनाथ काटजू जो इस मुकदमें में मठ की ओर से हाईकोर्ट में वकील रहे हैं, उन्होंने भी इस मुकदमें का उल्लेख अपनी प्रसिद्ध 'कुछ स्मरणीय मुकदमें' में 'घसीटी बीबी का मुकदमा' शीर्षक से किया है। घसीटी बीबी के सम्बन्ध में लिखा गया है कि इनकी माँ हैदराबाद की एक प्रसिद्ध रियासत से सम्बद्ध थीं

जो किसी कारणवश हैदराबाद से आकर वाराणसी में बस गयी थीं। उनके साथ उनकी बेटी घसीटी बीबी तथा एक पुत्र था। १८७०-७५ ई० के करीब इस वृद्ध महिला की जान-पहिचान बनारस के गोस्वामी बिहारीपुरी जी से हो गयी जो बाद में इस परिवार के बड़े शुभचिन्तक थे। दोनों पक्षों के मकान विश्वनाथ जी के मंदिर के पास एक-दूसरे से अधिक दूर नहीं थे। बिहारीपुरी जी उस परिवार के 'पथ-प्रदर्शक' दार्शनिक और मित्र थे।'[1] घसीटी बीबी के पास बहुत जेवरात तथा जवाहिरात थे जो दो ट्रंकों में रखे थे। कहा जाता है कि गोस्वामी बिहारीपुरी जी ने एक बार अपने हाथ से उन सबकी एक सूची भी तैयार की थी। कुछ समय बाद वृद्ध महिला तथा गोस्वामी बिहारी पुरी जी की मृत्यु हो गयी। उस समय श्री रामचरणपुरी जी इस मठ के महन्त हुए, उधर घसीटी बीबी भी अपने छोटे से परिवार की मालकिन बनीं। परिवार में उनका एक भाई तथा पति था, पर इन लोगों का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। कहा जाता है कि रामचरणपुरी ने मठ तथा इस परिवार के पुराने सम्बन्ध को आगे भी जारी रखा। १९१४ में जब यूरोप का महायुद्ध छिड़ा था, उस समय वाराणसी में भी आतंक फैल गया था। तब घसीटी बीबी ने अपने जवाहिरात तथा आभूषणों के दो सन्दूकों को गोस्वामी रामचरणपुरी तथा उनके शिष्य रामपुरी जी की सलाह से सुरक्षा की दृष्टि से मठ में भेज दिया। रामपुरी जी ने न कोई रसीद दी और न वह मांगी ही गयी। चार वर्ष बाद १९१८ में घसीटी बीबी ने अपने सन्दूक वापस मांगे पर जैसा कि मुकदमें में कहा गया है—स्वामी रामचरणपुरी तथा रामपुरी जी ने इनकार कर दिया और कहा कि हमारे पास कोई सामान नहीं है। अबतक मठ का महाजनी कारोबार समाप्त हो चुका था और बैंक दिवालिया हो गया था। इस पर घसीटी ने मुकदमा किया जिसमें उक्त जेवरों के कूते गये मूल्य लगभग साढ़े सात लाख रुपये मठ की सम्पत्ति बेंचकर अदा करने का निर्णय दिया गया था। इस निर्णय के बाद वादी ने मठ की अचल सम्पत्ति पर कब्जा करने का प्रयास किया और कहा गया कि यह मठ नहीं, गोसाईं रामचरणपुरी की व्यक्तिगत सम्पत्ति है, अतः उसे बेंचकर डिगरी का धन वसूल किया जा सकता है। इस निर्णय के विरुद्ध (स्वामी रामचरणपुरी की मृत्यु के बाद) स्वामी रामपुरी ने अपील की कि मठ की सम्पत्ति को किसी को बेचने का अधिकार नहीं है तथा मठ से घसीटी बीबी के आभूषणों का कोई

---

१. कैलासनाथ काटजू, कुछ स्मरणीय मुकदमें, (बनारस : ज्ञान मण्डल लिमिटेड, सं० २०१४), पृ० १६८।

सम्बन्ध नहीं था। इस मुकदमें में स्वामी रामपुरी जी को आंशिक सफलता मिली थी। अदालत ने मठ के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए निर्णय लिया कि कुछ मकान, कुछ गाँव तथा रहने की मुख्य इमारत मठ की ही सम्पत्ति थी और इस कारण अदालत की डिगरी के लिए उनकी कुर्की नहीं की जा सकती। किन्तु इधर हाल में प्राप्त की गयी सम्पत्ति विशेषकर सन् १९१४ के बाद की सम्पत्ति मठ की जायदाद नहीं है अतः उसे बेंचकर डिगरी के धन का आंशिक भुगतान किया जा सकता है। इस प्रकार इस मुकदमें का अन्त हुआ।[१]

मठ के वर्तमान भवन के पिछले भाग से जुड़े हुए भवन को दिखाते हुए वर्तमान कार्यकारी व्यवस्थापक स्वामी रमेशपुरी ने उस बिके हुए मकान को दिखाया और कहा कि वर्तमान भवन भी अब तक समाप्त हो गया होता यदि श्रीकृष्णपुरी के हाथ से निकाल कर पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी, दारागंज, प्रयाग के महन्त गोस्वामी अनन्तनारायणपुरी जी (सेक्रेटरी पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी) ने इसे अखाड़े के अधिकार में न लिया होता। जहाँतक मुकदमें की बात है, उसके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ चल रही हैं। कुछ लोग जहाँ घसीटी बीबी और रामचरणपुरी के सम्बन्ध की बात करते हैं, वहीं कुछ लोगों की धारणा है कि यह बिलकुल फर्जी मुकदमा था जो घसीटी बीबी को बहकाकर कुछ सट्टेदारों द्वारा स्वामी रामचरणपुरी तथा स्वामी रामपुरी जी को परेशान करने की दृष्टि से कायम किया गया था। कुछ भी हो इस मुकदमें से बिहारीपुरी मठ को न केवल आर्थिक क्षति उठानी पड़ी वरन् उसके सम्मान को भी धक्का लगा। उनकी दूसरी पीढ़ी के बाद गोस्वामी कृष्ण पुरी के व्यक्तित्व से भी मठ की छवि कुछ धूमिल ही हो रही थी[२], किन्तु महन्त अनन्तनारायणपुरी जी ने अखाड़े के अधिकार में इसे लेकर जैसे इसे डूबने से बचा लिया हो।

महन्त-परम्परा

हाईकोर्ट इलाहाबाद के निर्णय (२६ अप्रैल, १९३२) के दौरान प्रस्तुत किये गये कागजात के अनुसार बिहारीपुरी मठ की जो वंशावली सामने आयी है उसके अनुसार गोस्वामी महन्तध्यानपुरी जी इस मठ के प्रथम महन्त थे। उस समय मठ के वर्तमान भवन उसके अधिकार में नहीं थे। उनके शिष्य शिवरामपुरी जी थे,

---

१. कैलाशनाथ काटजू, कुछ स्मरणीय मुकदमें, (बनारस : ज्ञान मण्डल लिमिटेड, सं० २०१४), पृ० १६२।

२. मठ के स्थायी महात्मा श्री रमेशपुरी जी के कथनानुसार।

जिनके बाद महंत शंकरपुरी जी महन्त हुए। इनके समय में ही सन् १८०० ई० तथा सन् १८०२ ई० में मठ के दोनों भवन खरीदे गये थे। आगे चलकर गोस्वामी रिद्धिपुरी और इच्छापुरी जी के समय में यह मठ रिद्धिपुरी तथा इच्छापुरी कोठी के रूप में विख्यात हुआ। इसके बाद सन् १८५६ ई० में इसके महन्त गोस्वामी बिहारीपुरी जी हुए, इनके समय तक इस कोठी की जमींदारी में भी पर्याप्त विस्तार हो गया था। उस समय तक मठ का बनारस में काफी दबदबा था। गोस्वामी रामचरणपुरी (जो २८ मार्च, १९२७ ई० में ब्रह्मलीन हुए) म्युनिस्पल बोर्ड के कमिश्नर थे। इसी प्रकार महन्त रामपुरी जी जो १२वें महन्त थे, आनरेरी मजिस्ट्रेट थे। श्री कैलासनाथ काटजू के शब्दों में वे बड़े ही स्नेहशील सज्जन थे। वाराणसी में उनका बहुत अधिक प्रभाव था। उनकी मृत्यु १९४१ ई० में हुई। इस समय मठ पर पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी का अधिकार है। सन् १९६० से इसके महन्त अनन्तनारायणपुरी जी हैं। सम्प्रति बिहारीपुरी मठ के समस्त कार्य-कलापों की देखरेख तथा मठ के भवन की सुरक्षा महानिर्वाणी अखाड़े द्वारा की जा रही है।

सम्प्रदाय-परिचय

यह मठ दशनामी संन्यासियों में 'पुरी' उपाधिधारी है। इसका सम्बन्ध सम्प्रति महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा दारागंज, प्रयाग से है। यह दक्षिण आम्नाय शृंगेरीपीठ से सम्बद्ध है। इनके देवता आदि बाराह तथा शारदा हैं। तीर्थ तुंगभद्रा, वेद यजुर्वेद, गोत्र भूर्भुवः और महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि है। गेरुआ वस्त्र, रुद्राक्ष-माला तथा ललाट पर भस्मी धारण करते हैं।

स्थिति : भवन एवं साज-सज्जा

बिहारीपुरी मठ विश्वनाथ गली में स्थित है। दशाश्वमेध से विश्वनाथ मंदिर की ओर जाते हुए यह मठ गली में दायीं ओर पड़ता है। मुख्य द्वार से प्रवेश करते ही एक विस्तृत प्रांगण है जिसके दोनों ओर दो भवन बने हुए हैं जिसमें लगभग २० कमरे हैं। ये कमरे बहुत पहले से ही किराये पर चले आ रहे हैं। प्रांगण के आखिरी छोर पर ७–७ सीढ़ियां ऊपर चढ़ने पर मठ का मुख्य भवन है जिसमें एक वृहद् कक्ष और बरामदा तथा एक लम्बा कमरा है। आगे चलने पर एक दूसरा छोटा सा प्रांगण है। प्रांगण में महात्मा की समाधि है। उसके पछे इमारत का दूसरा प्रखण्ड है जिसपर अब मठ का अधिकार नहीं रह गया है। इसी भवन को उक्त मुकदमें में दी गयी डिगरी के अनुसार बेचना पड़ा था। इस समय मठ के अधिकार में कुल ४ भवन हैं जिसमें दो किराये पर तथा २ मठ के काम में प्रयुक्त हो रहे हैं।

बाहर से देखने पर मठ पुराने रईस की कोठी की भाँति दिखायी पड़ता है किन्तु अब जीर्ण हो गया है, छतें कमजोर हो गयी हैं। भवन पुराने बड़े-बड़े चित्रों एवं फर्नीचरों से सुसज्जित है। मठ के सामने विस्तृत प्रांगण में प्रवेश करते ही दुर्गा जी का मन्दिर है, जहाँ आरती, पूजा तथा सन्ध्यावन्दन होता है।

अचल एवं चल सम्पत्ति तथा आय

अचल सम्पत्ति के नाम पर मठ के पास बस चार भवन रह गये हैं जिनमें दो संन्यासियों के आवासादि के काम में आते हैं और दो किराये पर उठा दिये गये हैं। किराये से लगभग एक हजार मासिक की आय हो जाती है जो साधु-सन्तों के भोजनादि तथा पूजापाठ में व्यय हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर अखाड़े से व्यवस्था की जाती है। इसके अलावा और कोई अचल या चल सम्पत्ति नहीं है।

प्रशासन-तन्त्र

सम्प्रति मठ निर्वाणी अखाड़े के अन्तर्गत है। इसके प्रशासन-तन्त्र का नियंत्रण अखाड़े के सेक्रेटरी एवं मठ के महन्त श्री अनन्तनारायणपुरी जी द्वारा होता है। यहाँ के कार्यकारी व्यवस्थापक स्वामी श्री रमेश दिगम्बरपुरी हैं। मठ में किसी विशेष सक्रियता का दर्शन नहीं हुआ।

आगन्तुक-विवरण

आगन्तुकों के लिए यहाँ किसी विशेष आकर्षण का दर्शन नहीं हुआ। मठ से सम्बन्धित लोग प्रायः गुरु-गद्दी के दर्शनार्थ एवं दुर्गा मन्दिर में पूजनार्थ आते रहते हैं। ऐसे दर्शनार्थियों की औसत दैनिक संख्या ७ है। यहाँ स्थायीरूप से ४ संन्यासी रहते हैं। महीने में औसतन १५ संन्यासी दूसरे क्षेत्रों से आते-जाते रहते हैं।

मठ में साधुओं की दिनचर्या

शैव सम्प्रदाय के साधुओं की सामान्य दिनचर्या का पालन किया जाता है। प्रातः स्नानादि के बाद मन्दिर की धुलाई-सफाई तथा पूजा की व्यवस्था की जाती है, सायं आरती एवं भजन।

विवाद एवं मुकदमें

आरम्भ में यह मठ ऋद्धिपुरी तथा इच्छापुरी कोठी के नाम से प्रख्यात

था। कई गांवों में इसकी जमींदारी भी थी पर बैंक के दिवालिया हो जाने तथा जमींदारी समाप्त हो जाने के बाद घसीटी बीवी के मुकदमें में पड़कर इसकी आर्थिक व्यवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी। मठ में चढ़ावे की भी कोई विशेष आय नहीं है क्योंकि मुकदमें से इसके सम्मान को भी काफी धक्का लग चुका है। बैंक के दिवालिया होने पर जहाँ इसे अन्य कई मुकदमों का सामना करना पड़ा था वहीं एक मुकदमा वर्तमान गोविन्द मठ टेढ़ीनीम के तत्कालीन महन्त स्वामी गोविन्दानन्द द्वारा चलाया गया था। यह मुकदमा संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय के नाम से ऋद्धिपुरी कोठी में जमा धन कुल साढ़े अठारह हजार की वापसी के सम्बन्ध में था। इस मुकदमें में वादी महन्त बालकपुरी सेक्रेटरी महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा, दारागंज, प्रयाग तथा उनके अन्य ४ शिष्य थे। प्रतिवादी गोस्वामी रामचरणपुरी, रायसाहब रामपुरी तथा अन्य १७ व्यक्ति थे। मुकदमें का निर्णय २७–१–२७ को हुआ जिसमें गोस्वामी रामचरणपुरी जी (महन्त विहारीपुरी मठ) के विरुद्ध कुल साढ़े बाइस हजार की डिगरी हुई थी। किन्तु कोठी के दिवालिया हो जाने के कारण डिगरी के धन की वसूली नहीं हो सकी। बाद में सन् १९३६ में बिहारीपुरी मठ के महन्त स्वामी रामपुरी ने इच्छापुरी की धर्मशाला तत्कालीन गोविन्द मठ के महन्त जयेन्द्रपुरी को संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय के लिए समर्पित कर दिया था जो अब भी उक्त महाविद्यालय के उपयोग में है।[१]

राजनीतिक सहभागिता

मठ के महन्तों में राजनीतिक सहभागिता बराबर रही है। यही कारण है कि स्वामी रामचरणपुरी जी म्युनिस्पल कमिश्नर भी रह चुके हैं। इसके बारहवें महन्त स्वामी रामपुरी जी आनरेरी मजिस्ट्रेट रह चुके हैं। वर्तमान महन्त श्री अनन्तनारायणपुरी राजनीति में रुचि रखते हैं। ये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आई) के उम्मीदवारों के प्रबल समर्थक रहे हैं।

सामाजिक सेवा-कार्य

आरम्भ में यह मठ सामाजिक सेवा सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रसिद्ध था। रुपये पैसे के लेनदेन तथा महाजनी सम्बन्धी कार्य भी सामाजिक हित में ही अपनाए

---

१. पेपरबुक (रेकार्ड्स आफ प्रोसीडिंग्स) एडीशनल सबार्डिनेट जज कोर्ट वाराणसी २७–१–२७, (लखनऊ : प्रिन्टेड एट गवर्नमेण्ट ब्रान्च प्रेस, १९३२), पृ० १२३।

गये थे। वर्तमान समय में महन्त अनन्तनारायणपुरी वाराणसी, इलाहाबाद, मांडा, कुरुक्षेत्र तथा मठलार देवरिया की अनेक शिक्षा संस्थाओं के संरक्षण सदस्य हैं। इसी मठ पर स्थायी रूप से रहनेवाले दिगम्बर केशवपुरी संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय अपारनाथ के मंत्री रह चुके हैं।

रामशाला, [बाबा कीनाराम मठ] जौनपुर

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जिस स्थान पर किसी तपस्वी, सिद्ध, योगी, महात्मा या तांत्रिक ने योग-साधना, तपस्या या तांत्रिक प्रयोग करके सिद्धि प्राप्त की हो, वह स्थान ऐसा सिद्ध-पीठ हो जाता है कि वहाँ किसी देवी या देवता की पूजा करने से मन्त्र की सिद्धि तथा इष्ट की पूर्ति होती है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काशी में अघोर-पंथ के प्रवर्त्तक बाबा कीनाराम १७६९ में अपने गुरु बाबा कालूराम की साधनापीठ 'कृमिकुण्ड' की गद्दी पर आसीन हुए। बाबा कीनाराम ने शैव, शाक्त तथा वैष्णव उपासना पद्धतियों में समन्वय करने का प्रयास किया है। औघड़ साधु शैव होता है, किन्तु वैष्णवों और शाक्तों की तरह देवी-देवता की उपासना भी करता है। क्री-कुण्ड, वाराणसी बाबा कीनाराम का सिद्धपीठ है। बाबा कीनाराम की शिष्य-परम्परा में और भी सिद्धपीठ विकसित हुए हैं जिनमें जौनपुर जनपद में हरिहर-पुर की कीनारामी गद्दी का प्रमुख स्थान है।

महन्त-परम्परा

रामशाला, हरिहरपुर की स्थापना बाबा कीनाराम के प्रशिष्य बाबा हुब्बा-राम ने १८५० ई० के आस-पास की थी। इस स्थल में ग्यारह महन्तों की जो समाधियाँ बनी हुई हैं, उनमें बाबा कीनाराम, बीजाराम और रामजियावन राम की समाधियाँ पूजन करने के उद्देश्य से बाबा हुब्बाराम ने प्रतीकात्मक ढंग पर बाद में बनवाई होगी। गुरु-परम्परा को सम्मिलित करके निम्नलिखित महन्तों की जान-कारी स्थान की समाधियों को देखने तथा वर्तमान महन्त से पूछकर प्राप्त की गयी है। (१) बाबा कीनाराम, (२) बाबा बीजाराम, (३) बाबा हुब्बाराम, (४) बाबा परमहंसराम, (५) बाबा रामबरन राम, (६) बाबा बच्चनराम, (७) बाबा जगरदेव राम और (८) बाबा शम्भूराम।

उक्त महन्तों के अतिरिक्त यहाँ के एक शिलालेख में बाबा राजनारायण राम का नाम आया है। सम्भवतः वह भी महन्त रहे होंगे।

सम्प्रदाय-परिचय

शैव मठों की शृंखला में अघोर साधकों का अत्यन्त प्राचीन इतिहास है।

बाबा कीनाराम इसी अघोर-सरभंग सम्प्रदाय के प्रवर्तक, उद्धारक तथा प्रचारक के रूप में जाने जाते हैं। महानिर्वाणी तंत्र में चार प्रकार के अवधूत संन्यासियों का वर्णन किया गया है—ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, वीरावधूत और कुलावधूत। वीरावधूत के वर्णन में लिखा गया है कि उनके सिर पर लम्बे लम्बे उलझे बाल होते हैं। इनमें से कोई रुद्राक्ष या हड्डी की माला पहिने रहता है, कोई नग्न रहता है, कोई कौपीन पहने रहता है, कोई भस्म रमाए रहता है और कोई शरीर पर लाल चन्दन का लेप किए रहता है। वे अपने हाथ में डण्डा, मृगचर्म, फरसा, खाट का पावा, डमरू या झांझ लिए रहते हैं। इनमें कोई-कोई गेरुआ वस्त्र भी पहनते हैं किन्तु यह सभी गांजा, भांग या मदिरा-सेवन अवश्य करते हैं।[१]

'औघड़' शब्द 'अवघट' का अपभ्रंश कहा गया है जिसका अर्थ हुआ टेढ़े रास्ते चलने वाला। वस्तुतः औघड़ शब्द 'अघोर' शब्द से ही बना है और शैव मत का मुख्य अंग है। अघटित घटना को घटित करने वाला औघड़ कहलाता है। अघोर का अर्थ सरल भी होता है। सरभंग से तात्पर्य 'शर' अर्थात् बाण -काम के पंच बाणों या पंच इन्द्रियों को भंग करने से है। सरभंग साधक वह साधक अथवा सन्त है जो इन्द्रियों और उनकी वासनाओं को नियन्त्रित करे तथा जो योग की प्रक्रिया द्वारा प्राणायाम की साधना और चित्तवृत्ति का निरोध करे।[२] हरिहरपुर-कीनाराम मठ के औघड़ निरनावी या निर्वाणी औघड़ हैं। यह घर-बार से विरक्त-निहंग होते हैं। कुछ घरवारी औघड़ भी होते हैं जो बाबा भिनकराम के सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। सरभंग सम्प्रदाय के लोग परस्पर 'बन्दगी' कहकर या 'राम राम' कहकर अभिवादन करते हैं। अपने शरीर पर चिता की भस्म लगाए रहते हैं। मस्तक पर त्रिशूल का छापा धारण करते हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव के एकत्व का प्रतीक है। रुद्राक्ष की, सर्प की, हड्डियों की और बनैले सूअर के दाँतों की माला धारण करते हैं और हाथ में खोपड़ी लिए रहते हैं। पंच मकारोपासना—मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन कौलमार्ग में प्रचलित था—कीनाराम ने अपने सम्प्रदाय में इसके प्रतिकात्मक अर्थ को ही अंगीकार किया है। आधुनिक अघोरी पंचमकारोपासना भौतिक अर्थ में भी करते हैं।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

जौनपुर जनपद की पूर्वी सीमा पर जौनपुर-गाजीपुर मार्ग पर नगर से ६० किमी० दूर गोमती नदी के किनारे तीन तरफ नाले से आवेष्टित भू-भाग में कभी

१. यज्ञनारायण चतुर्वेदी, औघड़ भगवान राम, (वाराणसी सर्वेश्वरी समूह, १९७३): पृ० ७६।
२. वही, पृ० ७८।

जंगल रहा होगा, वहीं हरिहरपुर गाँव में राजा हरिहरदेव का बड़ा किला रहा है जो प्राय: सौ वर्ष पूर्व से अघोरपंथी साधना का केन्द्र बना हुआ है। चौदह मील में फैले डोभी क्षेत्र के रघुवंशी क्षत्रियों ने इस मठ को प्रचुर सम्पत्ति प्रदान कर सुदृढ़ किया है। इस स्थल पर ग्यारह समाधियाँ हैं। बाबा कीनाराम का सिद्धासन, पक्की दालान, तीन पक्के कमरे, पक्का कुआं आदि है। गोमती नदी के ठीक किनारे बना यह मठ पौराणिक श्रृंगी ऋषि के आश्रम की याद दिलाता है जो यहीं समीप में ही रहा होगा। जिन्होंने राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था। स्थान अत्यन्त शान्त और आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने वाला है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण शिलालेख लगा है जिस पर चूने की पोताई होते रहने से स्पष्ट पढ़ पाना कठिन है। कुछ अंश जो पढ़ा जा सका इस प्रकार है—"श्री सम्वत् १९४० मीना धरा है। प्रवर्तक बाबा कीनाराम जी का प्राय: नवां परमहंस जी महन्त का चेला बावा रामबरन राम महन्त ने बनवाया। महन्त राजनारायण राम सो हम्, स हम, रो म्, ओ म्! भरोसराम भगीरथ मिस्त्री ने बनाया। सावन सन् १३०० फसली।

उक्त शिलालेख से स्पष्ट है कि यह शिलालेख लगभग १४० वर्ष पुराना है। इससे महन्त परम्परा के तीन महन्तों का नाम ज्ञात होता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस पर 'बीज-मंत्र' भी अंकित है। ग्यारह समाधियों में एक समाधि का आधा हिस्सा गोमती की बाढ़ में गिर गया है। दो समाधियाँ बाबा जगरदेव राम और बाबा वच्चनराम की एक ही चबूतरे पर बनी हैं। बाबा कीनाराम की समाधि के दाएँ बाबा बीजाराम और बाएँ बाबा रामजियावन राम की समाधियाँ हैं। यहाँ मुड़िया औघड़ों की भी दस पक्की और एक कच्ची समाधि है। गोमती के किनारे का पक्का घाट मठ द्वारा ही निर्मित है। यहाँ एक अत्यन्त गोप्य साधना-स्थल भी है जो चारों ओर से घिरा है, जहां पहुँचे हुए औघड़ तांत्रिक-साधना करते हैं। यह स्थान परमपवित्र, शान्त तथा निर्जन है। वर्तमान महन्त बाबा शम्भूराम अत्यन्त सरल हृदय, गुरुभक्त तथा संगीत प्रेमी हैं।

सम्पत्ति तथा आय के स्रोत

बाबा कीनाराम की शिष्य-परंपरा में दो प्रकार के साधक आते हैं—प्रथम महन्त अथवा आचार्य, जो एक समय में किसी एक गद्दी पर आसीन होकर वहाँ की साधन-व्यवस्था का संचालन करते रहे हैं। यह महानुभाव आकाश वृत्ति पर निर्भर रहते हैं। दूसरे प्रकार के साधक मुड़िया औघड़ कहलाते हैं जो किसी मठ पर गुरु-सेवा करते हैं और उनके निर्देशानुसार शिष्यों के यहाँ से भिक्षा लाते हैं। हरिहरपुर मठ के महन्तों को डोभी क्षेत्र के रघुवंशी क्षत्रियों ने कुल चार सौ एकड़

भूमि दान दी थी, जिसमें अधिकांश मठ के अधिकार से निकल गयी है। सम्प्रति केवल १०० एकड़ का जंगल अवशेष है जिसके कुछ भाग को साफ कर खेती होती है। वर्त्तमान महन्त के गुरु बाबा जगरदेवराम के समय तक एक विशालकाय हाथी था जिसपर बैठकर ही महन्त जी कहीं जाते थे। डोभी क्षेत्र के सभी गाँवों में कई पीढ़ी पहले से यह परंपरा चली आ रही है कि नई फसल खलिहान से घर लाने के पूर्व बाबा कीनाराम के नाम पर 'अगिवारी' या अंगऊ निकाल कर सुरक्षित रख देते हैं। जब कोई मुड़िया औघड़ 'कीनारामी सोटा' लेकर गाँव में आता है तो उसे अंगऊ दिया जाता है। इस विधि से कीनाराम मठ को पहले लगभग एक सौ मन गेहूँ मिल जाता था। अब भी कुछ न कुछ परंपरा है और मठ के औघड़ या महन्त के आने पर यह दान दिया जाता है।

प्रशासन-तन्त्र

इस मठ का प्रशासन गिरनार-स्थान 'क्री-कुण्ड' वाराणसी के महन्त के निर्देशानुसार चलता है। वह ही यहाँ की आचार्य गद्दी है, ऐसी परंपरा रही है। इसी परंपरा के आधार पर सम्प्रति मठ के प्रशासन में संकट उत्पन्न हो गया है। वर्त्तमान महन्त के कार्यों में सर्वेश्वरी समूह के प्रधान भगवान 'राम' व्यवधान डाल रहे हैं। उनका कहना है कि मठ की सम्पत्ति का अपव्यय हो रहा है जिसका अधिकार महन्त को नहीं है। अन्य मुड़िया औघड़ महन्त के अधीन होते हैं।

आगन्तुक-विवरण

हरिहरपुर कीनाराम मठ पर प्रतिदिन स्थानीय नागरिक दर्शन करने, मनौती मानने और समाधियों की पूजा करने आते हैं। गृहस्थ आगन्तुकों की मासिक संख्या ५० और सम्प्रदाय के औघड़ों की मासिक संख्या १० ज्ञात हुई है। स्थायी रूप से दो औघड़ रहते हैं।

साधुओं की दिनचर्या

मठ के साधुओं का जीवन सरल और साधनामय है। गुरु तथा इष्टमूर्ति के ध्यान के साथ समाधि-पूजा इनकी प्रमुख दिनचर्या है। वर्त्तमान शम्भूराम का अधिक समय गांजा, सुरती, शराब की व्यवस्था और गाँवों में घूमकर भिक्षा जुटाने में व्यतीत होता है।

विवाद एवं मुकदमें

मठ की भू-सम्पत्ति को लेकर अनेक विवाद हुए हैं। आजकल मठ की महंती भी विवाद का विषय बन गयी है। ज्ञात हुआ है कि महन्त शम्भूराम की गलत आदतों और सम्पत्ति को बरबाद करते देखकर 'क्री-कुण्ड' आचार्य गद्दी के महन्त

ने हरिहरपुर के लिए किसी नए महन्त की नियुक्ति कर दी है, जो अभी बालक हैं और वाराणसी में ही अध्ययनरत हैं। शोधकर्त्ता के कई बार प्रयास करने पर भी साक्षात्कार नहीं हो सका। इससे महन्त शम्भूराम का सम्पत्ति को नष्ट करने या बेंचने का अधिकार समाप्त हो गया है।

राजनीतिक-सहभागिता

इस मठ के महात्मा अपनी आधना के अतिरिक्त केवल भिक्षा के लिए ही समाज के अन्य वर्गों से सम्पर्क करते हैं, राजनीति में कोई रुचि नहीं है।

सामाजिक सेवा-कार्य

वर्तमान समय में इस मठ द्वारा समाजसेवा का कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया जा रहा है फिर भी क्षेत्र की जनता की श्रद्धा पुराने महन्तों की समाधियों के प्रति है। पुराने महन्त जड़ी बूटी तथा तंत्र-मंत्र से लोगों को रोग-मुक्त तथा बाधा-मुक्त करते थे।

श्रीनाथ बाबा मठ (बलिया)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दशनामी संन्यासियों के अनेक मठ पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थापित हुए हैं। इन मठों के महात्माओं ने शैव-धर्म के रूप में वैदिक सनातनधर्म की रक्षा एवं प्रचार-प्रसार के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। इसी परंपरा में दशनामी संन्यासी श्री सोमारी गिरि ने रसड़ा में अपने गुरुदेव के नामपर श्रीनाथ बाबा मठ की स्थापना १७४६ ई० में की। इस क्षेत्र में सामान्य जनता में मठ के आदि पुरुष श्री सोमारीबाबा के प्रति अनेक रहस्यपूर्ण किवदंतियाँ प्रचलित हैं। ऐसा कहा जाता है कि उनकी सिद्धियों का वर्णन सुनकर तत्कालीन भुड़कुड़ा मठ के महंत श्री गुलाल साहब उनका दर्शन करने आए थे। श्री सोमारी बाबा ने गुलालसाहब से भोजन करने के लिए आग्रह किया तो उन्होंने शाकाहारी भोजन के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हुए अपने लिए मांसाहारी भोजन की मांग कर दी लिए बाबा ने असमर्थता प्रकट कर भण्डारी को शाकाहारी भोजन ही परसने का आदेश कर दिया। उधर भण्डारे में विचित्र घटना हो गयी। सम्पूर्ण शाकाहारी व्यंजन मांसाहारी व्यंजन में परिवर्त्तित हो गया। भण्डारी देखते ही घबड़ा गया और दौड़कर महन्त श्री सोमारी जी महाराज को इसकी सूचना दी। उन्होंने ध्यानस्थ हो पुनः भण्डारी से कहा कि तुम जाओ, भोजन ले आओ। इस बार भण्डारे का सारा भोज्य-पदार्थ शाकाहारी व्यंजन बन गया। दो सिद्ध महात्माओं के इस चमत्कार को सुनकर क्षेत्रीय जनता दर्शनार्थ उमड़ पड़ी और तब से ही इस मठ की

गया

मान्यता बढ़ गयी। भुड़कुड़ा के महन्त श्री गुलाल साहब ने महन्त सोमारी गिरि की सिद्धियों का लोहा मान लिया।

महन्त परम्परा

आदिमहापुरुष श्री सोमारी गिरि के बाद इस मठ पर कुल नौ महन्त हो चुके हैं। महन्त श्रीबसन्त गिरि, श्री शिवानन्द गिरि और महन्त श्री रामगिरि की अनेक सिद्धियाँ क्षेत्रीय जनता में चर्चित हैं। सम्प्रति दसवीं पीढ़ी में महन्त श्री लक्ष्मण गिरि १९५४ ई० से मठ की गद्दी पर आसीन हैं। आपकी अवस्था इस समय पचहत्तर वर्ष से अधिक हो चुकी है। कई माह से अस्वस्थ हैं। अपने उत्तराधिकारी के रूप में एक बार श्री 'आनन्द गिरि' को वसीयत लिख दिए थे जिसे बाद में कुछ लोगों के कहने पर निरस्त कर दिए। इधर जब से अधिक अस्वस्थ हैं, निरन्तर श्री आनन्द गिरि को ही ढूंढ़ रहे हैं, जो परिभ्रमण पर कई माह से बाहर ही हैं।

सम्पदा-परिचय

दशनामी संन्यासी-मठ है। यहाँ पूर्णतः विरक्त, ब्रह्मचारी तथा पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले लोग ही रहते हैं जो आचार्य शङ्कर द्वारा पुनर्प्रतिष्ठित वैदिक सनातन धर्म का प्रचार-प्रसार करना अपना लक्ष्य मानते हैं। यह लोग शिव के साथ पचदेवोपासना में विश्वास रखते हैं। 'गायत्री' की उपासना करते हैं। त्रिकाल सन्ध्या, रुद्राक्ष-धारण, मस्तक पर भस्म या पड़ा चन्दन बीच में गोल तिलक लगाते हैं।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

बलिया जनपद के मुख्यालय से लगभग २५ कि० मी० पश्चिम दिशा में बलिया-इन्दारा रेलवे लाइन पर रसड़ा स्टेशन के समीप रसड़ा ग्राम में मठ स्थित है। मठ पर महन्त जी तथा महात्माओं के आवास के लिए पक्का मकान है जिसमें कुल ६ कमरे हैं। बाबा सोमारीनाथ, बाबा बसन्त गिरि की समाधि, नाथ जी तथा शिव जी का प्राचीन मन्दिर है। महन्तों की समाधियों पर भी 'शिव' की स्थापना की गयी है। समीप में ही 'नाथ बाबा का पोखरा' नामक सरोवर है। श्रीनाथ जी पुस्तकालय तथा एक गोशाला है जिसमें दो गाएँ, चार बैल रहने की व्यवस्था है।

श्रीनाथ बाबा के मन्दिर में महन्त श्री बसन्त गिरि द्वारा निर्मित एक तंत्र है जिसकी पूजा करके धोकर उसका जल गर्भवती स्त्री को देने से उसकी प्रसव-वेदना कम हो जाती है। क्षेत्रीय जनता में ऐसा विश्वास है।

अचल एवं चल-सम्पत्ति

मठ के अधीन रसड़ा में २० एकड़ और राघवपुर में २० एकड़ भूमि है जिस

पर मठ की ओर से खेती की जाती है। राधवपुर में एक मकान भी है जिसमें मठ के कर्मचारी और मवेशी रहते हैं। रसड़ा में मठ और मन्दिर के अतिरिक्त मठ की ही भूमि में श्रीनाथ बाबा जूनियर हाईस्कूल तथा संस्कृत पाठशाला का भवन भी है।

प्रशासन-तन्त्र

सम्प्रति महन्त के अतिरिक्त अधिकारी श्री शम्भू गिरि (शास्त्री) तथा कोठारी श्री कन्हैया तिवारी (गृहस्थ) मठ का प्रशासन देखते हैं। महंत जी अस्वस्थ हैं उनके स्थान पर अभी उत्तराधिकारी का निश्चय नहीं हुआ है। श्री आनन्द गिरि को महन्त जी उत्तराधिकारी बनाना चाहते हैं, जो अभी प्रवास पर हैं। कोई रजिस्टर्ड न्यास नहीं है। परम्परागत ढंग से महन्त ही सर्वोच्च प्रशासक हैं।

आगन्तुक-विवरण

मठ पर स्थायीरूप से पाँच महात्मा रहते हैं। पूर्ववर्ती महन्तों की सिद्धियों से प्रभावित क्षेत्रीय जनता उनकी समाधियों का दर्शन करने आती है। प्रतिदिन औसतन दस स्त्रियाँ नाथ बाबा के मन्दिर में रखे 'तन्त्र' की पूजा करने और उसका जल लेने आती हैं। महीने में औसतन एक सौ साधु, पचास गृहस्थ तथा पच्चीस अन्य व्यक्ति मठ पर आते हैं। आगन्तुकों पर मठ का औसत मासिक व्यय सात सौ रुपया होता है।

मठ पर साधुओं की दिनचर्या

मठ पर स्थायी साधु पाँच रहते हैं जो प्रातः नित्य-कर्म के उपरान्त सभी मंदिरों की धुलाई करते हैं। देवताओं और समाधियों की पूजा करते हैं तदनन्तर लघु आहार लेकर गृहस्थी का कार्य देखते हैं। मठ के भण्डारे में सभी साधुओं तथा कर्मचारियों का भोजन एक स्थान पर ही बनता है। सभी एक ही तरह का सात्विक भोजन करते हैं। सायंकाल सन्ध्या, आरती के उपरान्त ग्रामीण आगन्तुकों के साथ सत्संग करते हैं।

विवाद एवं मुकदमें

मठ पर कोई विवाद इस समय नहीं है। महन्त श्री लक्ष्मण गिरि के ब्रह्मलीन होने के बाद उत्तराधिकारी महन्त कौन बनेगा, इसके लिए विवाद सम्भावित है, अभी से लक्षण स्पष्ट है।

राजनीतिक सहभागिता

राजनीतिक दृष्टि से बलिया जनपद अत्यधिक जागरुक है। मठ पर रहने वाले साधु तथा अन्य लोग भी राजनीति में रुचि रखते हैं। चुनावकाल में सभी

राजनीतिक दलों के नेता महंत जी का समर्थन पाने का प्रयास करते हैं क्योंकि क्षेत्रीय जनता पर महन्त जी का अब भी प्रभाव है। महन्त जी की मान्यता है कि राजनीति पर धर्म का नियंत्रण होना चाहिए।

सामाजिक सेवा-कार्य

श्रीनाथ बाबा मठ रसड़ा द्वारा इस क्षेत्र की जनता में हिन्दू धर्म तथा देवी-देवताओं के प्रति लोगों की आस्था बनाए रखने में प्रमुख भूमिका है। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, रामनवमी तथा महाशिवरात्रि के अवसर पर उत्सव तथा मेला आयोजित होता है। प्रतिवर्ष रामलीला के आयोजन पर हजारों रुपये व्यय होते हैं। 'लखनेश्वर' परगना कुल ४२ कि० मी० क्षेत्रफल में स्थित है। इस पूरे क्षेत्र के निवासी प्रति तीसरे वर्ष मठ पर श्रीनाथ बाबा के मन्दिर पर एक विशेष पूजन 'कनिका' और वृहद् भण्डारा आयोजित करते हैं, इसमें सभी का सहयोग मिलता है। भण्डारे में कई हजार लोग भोजन करते हैं।

मन्दिर में महन्त गिरि के समय से निर्मित यंत्र क्षेत्र की स्त्रियों को प्रसव वेदना से मुक्ति दिलाता है। सांस्कृतिक आयोजन प्रायः सभी पर्वों पर आयोजित होते हैं। बाढ़ तथा सूखा से प्रभावित लोगों को मठ पर आवास तथा भोजन दिया जाता है।

मठ के दान से श्रीनाथ बाबा उ० मा० विद्यालय, रसड़ा, कक्षा १० तक की शिक्षा ३५० छात्रों को प्रदान करता है। कुल ६ अध्यापक तथा ४ अन्य कर्मचारी हैं। श्रीनाथ बाबा संस्कृत पाठशाला, रसड़ा में शास्त्री स्तर तक की संस्कृत शिक्षा का प्रबन्ध है। धार्मिक जनता रोगों से छुटकारा पाने के लिए मठ के महन्त से जड़ी-बूटी तथा यंत्र माँगने भी आती है।

गीता-भवन—गीता स्वामी मठ (मीरजापुर)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीनकाल से ही हिमालय ऋषि-मुनियों की साधना एवं तपस्या का केन्द्र है। हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ उत्तरकाशी भागीरथी के तट पर सुरम्य पर्वतीय घाटियों के मध्य अवस्थित है। भागीरथी गंगा के दूसरे तट पर बाल्यखिल पर्वत सुशोभित है जिस पर बाल्यखिल ऋषियों ने सहस्रों वर्ष तक तपस्या की थी। यहाँ पर भगवान शिव का प्राचीन मंदिर है। मंदिर के सामने एक अत्यंत प्राचीन त्रिशूल गड़ा हुआ है जिसका ऊपरी भाग लोहे का और निचला भाग ताँबे का बना हुआ है। यहाँ शिव जी के मन्दिर के अतिरिक्त भैरव, दुर्गा जी, परशुराम, जड़भरत और अन्नपूर्णा का भी मन्दिर है। उत्तर में असी और दक्षिण में वरुणा नदी

आकर गंगा में मिलती हैं। इसी पवित्र स्थल पर स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती का 'दिव्याश्रम' है। आपके पूर्व टिहरी के प्रसिद्ध महात्मा तथा टिहरी रियासत के राजगुरु स्वामी विज्ञानानंद जी सरस्वती ने यहीं पर साधना की थी। स्वामी दिव्यानन्द जी सरस्वती के आश्रम में त्रिपुरसुंदरी ग्राम के पं० अम्बादत्त शर्मा ज्योतिषाचार्य के पुत्र ब्रह्मचारी शाश्वतचेतन जी १९३५ ई० में आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने के ध्येय से आए और कुछ दिन वहाँ रहने के पश्चात् माता-पिता का मोह त्यागकर संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर लिए। आप ही स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती उपनाम गीतास्वामी के रूप में प्रसिद्ध हैं।[१]

सभी तीर्थों का भ्रमण और गीता का प्रवचन करते हुए स्वामी सच्चिदानन्द जी माँ भगवती-दुर्गा का दर्शन करने १९४६ में विन्ध्य-क्षेत्र आए। माँ के दर्शन से परम प्रसन्न होकर कुछ दिन यहीं गीता पर प्रवचन किए। मीरजापुर नगर के सम्भ्रांत नागरिकों के आग्रह पर आप मीरजापुर आए। स्वामी जी के अस्थायी निवास का प्रबन्ध महावीर मंदिर पर किया गया। इक्कीस दिन तक गीता-प्रवचन करने के पश्चात् आपने उत्तरकाशी अपने गुरुदेव के आश्रम पर जाने की इच्छा व्यक्त की। भक्तों ने स्वामी जी से मीरजापुर ही रहने का आग्रह किया। स्वामी जी ने विचार करने और अपने गुरुदेव से अनुमति प्राप्त होने पर यहाँ रहने का आश्वासन दे दिया और उत्तरकाशी लौट आए।

महन्त स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती ने मीरजापुर के सम्भ्रांत लोगों का निवेदन स्वीकार कर अपने योग्य शिष्य स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती (गीता स्वामी) को मीरजापुर में आश्रम बनाकर रहने की स्वीकृति दे दी—उन्हीं का आश्रम गीताभवन (गीता स्वामी मठ) के नाम से ख्यात है।

महन्त-परम्परा

वर्त्तमान महन्त स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती (गीता स्वामी) दिव्याश्रम, उजेली (उत्तरकाशी) के महन्त स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती के शिष्य तथा स्वामी विज्ञानानन्द जी सरस्वती के प्रशिष्य हैं।

सम्प्रदाय-परिचय

शैव मठों की परम्परा में गीता स्वामी मठ, दशनामी संन्यासी-मठ है। यहाँ के महात्माओं की उपाधि सरस्वती है जो दक्षिण आम्नाय और शृङ्गेरीपीठ से

१. अम्बाचरण दूबे, श्री गीतास्वामीजीवन दर्शन, (वाराणसी, सन्त प्रकाशन, २०३४), पृ० ५८।

सम्बद्ध हैं। इनका सम्प्रदाय भूरिवार, देवता–आदिवाराह, शारदा हैं। इनका तीर्थ 'तुंगभद्रा' और गोत्र 'भू० भुवः' है। इनका महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' है। यह गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं। रुद्राक्ष की माला और ललाट पर भस्म अथवा चन्दन की तीन धारायें बीच में गोल शिव जैसा आकार बनाते हैं। भगवान् शिव, हनुमान जी और माँ दुर्गा की उपासना करते हैं।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

मीरजापुर नगर से प्रायः डेढ़ किलोमीटर पश्चिम नटवा ग्राम के सन्निकट श्री हनुमान जी के प्राचीन मन्दिर के पार्श्व में गीता-भवन या गीता स्वामी-मठ स्थित है। बड़े-बड़े और घने वृक्षों से घिरे टीले पर मन्दिर के पास गीता भवन १९४७ में निर्मित हुआ है। इसके पूर्व यह स्थान निर्जन था, कुछ जुआड़ी या अन्य असामाजिक तत्व ही यहाँ डेरा डाले रहते थे। जबसे गीता भवन बना है इसकी शोभा बढ़ गई है। सन्त महात्माओं का समूह, श्रद्धालुजनों को सदैव आकृष्ट करता रहता है। स्वामी जी ने विन्ध्यक्षेत्र में अष्टभुजा के समीपस्थ ग्राम महुआरी में चारों तरफ से पहाड़ी से घिरे भू-भाग पर भी अपना आश्रम बनवा दिया है। यहाँ एक प्राचीन किले का अवशेष है। सप्त-सरोवर है। किले की खुदाई से एक अत्यन्त प्राचीन गणेश जी की मूर्ति प्राप्त हुई हैं। सरोवर के तट पर स्वामी जी की ही प्रेरणा से भक्तों ने एक मन्दिर बनवाकर गणेश जी की मूर्त्ति स्थापित कर दी है। यहाँ स्वामी जी ने लगभग २० एकड़ भूमि भी आश्रम के लिए क्रय की है। इसी भूमि पर एक चिकित्सालय, एक प्राइमरी पाठशाला और एक पशु चिकित्सालय सञ्चालित हैं।

अचल एवं चल सम्पत्ति तथा आय के स्रोत

गीता स्वामी की अमृतवाणी ही उनकी सम्पत्ति है और तपस्या उनकी पूँजी है। आपके प्रवचन से मुग्ध होकर धनवान् भक्त मुक्त हस्त दान करते हैं, उनके दान से ही मीरजापुर और महुआरी का आश्रम और मन्दिर निर्मित हुआ है। हनुमान जी के नाम पर लगभग तीन एकड़ मीरजापुर के नटवा ग्राम में और २० एकड़ महुआरी में आश्रम के नाम पर जमीन भी क्रय कर ली गया है।

प्रशासन-तन्त्र

आश्रम की व्यवस्था को हमेशा के लिए सुन्दर बनाए रखने के उद्देश्य से एक 'ट्रस्ट' बनाकर पंजीकरण करा दिया गया है। ट्रस्ट में दानदाता भक्त सदस्य हैं और स्वामी जी अध्यक्ष हैं। ट्रस्ट की ओर से एक नियमित पुजारी और एक सेवक की व्यवस्था आश्रम पर कर दी गयी है। सभी कर्मचारी तथा साधु-महन्त जी के निर्देशानुसार कार्य करते हैं।

आगन्तुक-विवरण

आश्रम पर मासिक आगन्तुक गृहस्थों की औसत संख्या एक हजार है जो आकर प्रवचन सुनते हैं और लौट जाते हैं। बाहर से प्रति मास लगभग पचास साधु आते हैं जो दो-चार दिन रहकर चले जाते हैं। स्थायीरूप से मठ पर पाँच महात्मा रहते हैं।

दिनचर्या

प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में जगकर नित्यकर्म के उपरान्त आराध्य देव की उपासना, स्वाध्याय और गीता-प्रवचन आपका दैनन्दिन कार्य है। भक्तों का कष्ट-निवारण, शंका समाधान भी नित्य करना पड़ता है।

स्वामी जी से किसी का कोई विवाद नहीं है और राजनीति में कोई रुचि अथवा भागीदारी नहीं है।

सामाजिक सेवा-कार्य

गीता आश्रम के महन्त जी आधुनिक विचारों में मानवतावादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। आपके प्रवचन से प्रभावित होकर मीरजापुर की प्रसिद्ध वेश्या मल्लिका ने अपना व्यवसाय त्यागकर गंगा किनारे कुटी बना ली है। उसका जीवन परिवर्तित हो गया है। आपकी वाणी में अद्‌भुत जादू है। आपने दान से प्राप्त धन समाजसेवा में नियोजित कर दिया है।

महुआरी ग्राम में आप द्वारा अपनी भूमि पर निर्मित भवन में राजकीय चिकित्सालय, पशु चिकित्सालय तथा प्राइमरी स्कूल संचालित है। उत्तर काशी में आपके ही दान से गीता स्वामी इण्टर कालेज तथा संस्कृत महाविद्यालय संचालित हैं। इन संस्थाओं में कुल एक हजार छात्र, तीस शिक्षकों से अध्ययनरत हैं। मीरजा-पुर में प्रतिवर्ष गीता जयन्ती तथा हनुमज्जयन्ती के अवसर पर भण्डारा आयोजित होता है जिसमें हजारों साधु तथा दरिद्रनारायण भोजन करते हैं।

सिद्धपीठ श्री हथियाराम मठ (गाजीपुर)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कई शताब्दियों से पूर्वाञ्चल को आध्यात्म विद्या तथा स्वधर्म-पालन की शिक्षा प्रदान करने वाले अनेक सिद्ध, तपस्वी, योगी महापुरुषों की तपःस्थली हथियाराम मठ है। मठ पर सुरक्षित हस्तलिखित ग्रंथों, इस क्षेत्र में प्रचलित जन-श्रुतियों एवं गाजीपुर जनपद के पुराने गजेटियर्स से प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि आज से प्रायः ५७० वर्ष पूर्व पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजपूताना प्रदेश का

कोई विरक्त साधु शान्ति की खोज में परिभ्रमण करता पूर्वी उत्तर प्रदेश के बलिया जनपदान्तर्गत नगरा कस्बे के समीप गोहुँआ गोसाईं नामक स्थल पर एक झुरमुट में आत्मलीन मनीषी श्री मुरा बाबा के सन्निकट पहुँचा। श्री मुरा बाबा से दीक्षित हो परम प्रकाश प्राप्त कर वह महात्मा श्री परशुराम यति जी गाजीपुर जनपद के धुर पश्चिम में आजमगढ़ की पूर्वी सीमा से संलग्न, बेशो नदी से तीन दिशाओं से घिरे हुए टीले पर पहुँचे—जो उस समय गहन वन-प्रदेश था और सम्भवतः हाथियों के अबाध विचरण के कारण 'हस्त्यारण्य' के रूप में जाना जाता था। प्राचीन ग्रंथों में सिद्धारण्य, धर्मारण्य एवं दण्डकारण्य का वर्णन उपलब्ध है। उसी क्रम में हस्त्यारण्य भी रहा होगा जो कालक्रम से 'हस्ति—आराम' और बदलते परिवेश में तद्भव रूप-हथियाराम सम्प्रति प्रचलित है।

महन्त-परम्परा

यति समाज मे श्री श्यामयति जी का नाम विशेष आदरपूर्वक आदिपुरुष के रूप में जाना जाता है। यद्यपि उन्होंने किसी मठ की स्थापना नहीं की थी, वह स्वतंत्र विचरण करते थे, उनकी ही शिष्य-परम्परा में श्री मुरानाथ बाबा की सिद्धियों का वर्णन मिलता है जिनके शिष्य श्री परशुराम यति जी ने सिद्धपीठ हथियाराम मठ की स्थापना की। मठ पर उपलब्ध ताम्रपत्र, हस्तलिखित ग्रंथ, न्यायालय के अभिलेखों एवं विभिन्न गजेटियर्स के आधार पर महन्त परम्परा में क्रमशः निम्नलिखित महात्मा-महन्तों का उल्लेख हुआ है। सभी महन्त आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए जीवनादर्श प्रस्तुत किए हैं। इसके संस्थापक महन्त श्री परशुराम यति थे, उनके बाद यहाँ के १५वें महन्त श्री विश्वनाथ यति ने मठ के विकास में १९२० से १९६० तक अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया हैं। सम्प्रति उन्होंने २ दिसम्बर, १९५४ ई० से श्री बालकृष्ण यति को महन्त की गद्दी पर प्रतिष्ठित कर दिया है। श्री बालकृष्ण जी अपनी विद्वत्ता, त्याग एवं साधना के फलस्वरूप मण्डलेश्वर पद पर अभिषिक्त हो चुके हैं।

सम्प्रदाय-परिचय

यह सिद्धपीठ शक्तिपीठ के नाम से विख्यात है। यहाँ आद्य शक्ति भगवती का भव्य मन्दिर है। यहाँ के सभी महात्मा अपने नाम के साथ 'यति' उपाधि लिखते हैं। यहाँ शंकराचार्य की परम्परा मे शैव श्रेणी के अद्वैतवादी संन्यासी हैं किन्तु अन्य मतों के प्रति उदारता एवं समादर की भावना यहाँ की विशेषता है। वर्त्तमान महन्त भगवान श्री लक्ष्मीनारायण एवं पराम्बा भगवती के उपासक हैं। सिद्धेश्वर महादेव का प्राचीन शिवालय इनके शैव होने का प्रमाण है। 'यति' उपाधि धारण करने का रहस्य समझाते हुए मठ से सम्बन्धित वेदान्त के पण्डित महात्मा स्वामी कृष्णानन्द ने श्लोक सुनाया—

'अष्टाक्षरेण मन्त्रेण नमोनारायणात्मना।
नमस्यो भक्ति भावेन विष्णुरूपी यतिर्यतः॥'

साधनारत रहने वाले या निरन्तर यत्नशील रहने के अर्थ में 'यति' शब्द का प्रयोग होता है। इस मठ की अपनी मौलिकता 'हरिहरात्मक' उपासना पद्धति है। श्री लक्ष्मीनारायण एवं शिव के स्वरूप में ब्रह्म तत्व की पूजा यहाँ की विशेषता है। इस सम्प्रदाय के महात्मा गैरिक वस्त्र, रुद्राक्ष की माला, जटा-जूट और भस्म धारण करते हैं। ललाट पर श्वेत चन्दन के मध्य रक्त रोली लगाते हैं। महन्त बनाए जाने पर बारह वर्ष तक फलाहार करते हुए साधना करते हैं।

स्थिति एवं साज-सज्जा

गाजीपुर जनपद के धुर पश्चिम, आजमगढ़ की पूर्वी सीमा के पास बेशोनदी से तीन ओर से आवेष्टित, आसपास की भूमि से कुछ उठे हुए भू-भाग पर सिद्धपीठ श्री हथियाराम मठ स्थित है, जो उत्तर-पूर्व रेलवे के जखनियाँ स्टेशन से ५ कि०मी० पश्चिम बुढ़ानपुर बाजार के समीप है। यह क्षेत्र पहले जंगल था। सम्प्रति उद्यान एवं फलदार वृक्षों से सुशोभित है। मठ के मुख्य भवन को श्रद्धालु जनता आदरपूर्वक 'कैलाश' नाम से जानती है। इसमें एक विशाल सभा-कक्षा, यज्ञकुण्ड एवं निवास योग्य आठ कमरे हैं। आधुनिक संसाधनों से युक्त अतिथि-निवास है। समीप में ही भगवती अष्टभुजा देवी का नव निर्मित मन्दिर भक्तों के लिए मुख्य आकर्षण है। मठ के मुख्य भवन 'कैलाश' से प्रायः १०० गज की दूरी पर सिद्धेश्वर महादेव का मन्दिर है। इस मन्दिर के सामने और 'कैलाश' के पीछे आम का लगभग ४० एकड़ का एक विशाल बाग है। बाग के दक्षिणी छोर पर एक प्रवेश द्वार है जिससे एक अतीव सुन्दर वाटिका में प्रवेश करते हैं, जिसकी चार-दीवारी सरपत के जुट एवं शीशम के वृक्षों से अलंकृत है। इस विशाल क्षेत्र में आम, आँवला, कटहल, नीबू तथा अनेक प्रकार के विभिन्न मौसमी फलों के वृक्ष लगे हुए हैं। इसे शंकर-वन कहते हैं। इस सुरुचिपूर्ण ढंग से सुनियोजित बाग के मध्य भाग में एक उपवन है। उपवन के भीतर आधुनिक साज-सज्जा संयुक्त एक कुटी है, जिसे आधुनिक शब्दावली में बंगला कहते हैं। उसके चारों तरफ विभिन्न जातियों के गुलाब वर्ष भर खिलते रहते हैं। जुही; कुन्द, बेला, वैजयन्ती आदि अनेक जातियों के पुष्प वातावरण को शान्त, सुन्दर एवं मनोहारी बनाने में सहायक हैं। इसी कुटिया में निवर्तमान महन्त स्वामी विश्वनाथ यति जी निवास करते हैं। शंकर वन से आधे हिस्से में एक उच्चतर विद्यालय और आधे भाग में राजकीय चिकित्सालय सञ्चालित है।

अचल एवं चल सम्पत्ति

सम्प्रति हथियाराम मठ के अधीन १४ मठ हैं जिनके पास कुछ जमीन, मकान

और मन्दिर हैं। सभी मठों की व्यवस्था के लिए वहाँ कारबारो महन्त हैं। निम्न-लिखित स्थानों पर अचल सम्पत्ति है—

हथियाराम	—	—१०० एकड़ भूमि कृषि योग्य।
,,	—	—४० एकड़ में बाग, मंदिर एवं मठ।
नगरा, गोठवाँ, बलिया	—	—४० एकड़ भूमि कृषि योग्य।
खांवपुर, आजमगढ़	—	—४० एकड़ भूमि कृषि योग्य।
सी०के० ६०।३५, कर्णखण्डा, वाराणसी		—मन्दिर और आवास योग्य मकान जिसमें कुल ३० कमरे हैं।

उक्त अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त सामान्य जनता में ऐसा विश्वास है कि निवर्त्तमान महन्त स्वामी विश्वनाथ यति के नाम से विभिन्न बैंकों में कई लाख रुपये फिक्स्ड डिपाजिट है जिसका व्याज चालीस हजार रुपये वार्षिक मिलता है। मठ के किसी आधिकारिक व्यक्ति ने विवरण नहीं दिया। मठ से सम्बन्धित अनेक श्रद्धालु व्यक्ति इतने सम्पन्न हैं कि वह स्वयमेव हजारों रुपये वार्षिक दान देते हैं। सम्प्रति मठ का स्वरूप इस बात का स्वतः प्रमाण है कि मठ का वार्षिक व्यय उसकी ही व्यवस्था पर है जो उसके निजी संसाधनों एवं शिष्यों से प्राप्त होता है।

प्रशासन-तंत्र

मठ के प्रशासन की व्यवस्था कई स्तरों में विभक्त है :—

(१) **महन्त**—अनन्त श्री बालकृष्ण यति जी हैं। यह ही सम्प्रति प्रशाशन के सर्वोच्च पद पर आसीन हैं। इनके गुरुदेव श्री स्वामी विश्वनाथ यति जी पूर्ण मुक्तभाव से साधनाशील रहते हैं जिनसे समयानुसार निर्देश प्राप्त करना महन्त जी अपना नैतिक कर्त्तव्य मानते हैं।

(२) **सर्वराकार महन्त**—सिद्धपीठ श्री हथियाराम मठ के अधीन निम्नलिखित मठ हैं, जिनके महंत वहाँ के प्रबन्धकर्त्ता होते हैं—कुण्डिला मठ, गाजीपुर, कालिकाधाम हरिहरपुर, गाजीपुर, बनकटा मठ, गाजीपुर, मुरारनाथ बाबा की झाड़ो, गोठवाँ गोसाई, बलिया, महाराजपुर मठ, बलिया, शिवमन्दिर—होरो मठ, बलिया, झारखण्डे महादेव, खांवपुर भठिया, आजमगढ़, शिव मन्दिर, सवन्त मठ, बलिया, त्रिशूलयति मठ, कर्णघण्टा, वाराणसी, जागेश्वर महादेव मठ, वाराणसी, टेकरामठ, वाराणसी, श्री शंकर आश्रम, ज्वालापुर, हरिद्वार।

(३) **प्रबन्धक**—मठ के महन्त द्वारा प्रबन्धक नियुक्त किया जाता है। वही व्यवहार में पूरी व्यवस्था के लिए जिम्मेदार होता है। सम्प्रति स्वामी ब्रह्मानन्द जी इस पद पर कार्यरत हैं। यह 'महन्त' के परामर्शदाता के रूप में शिष्य वर्ग का सहयोग प्राप्त करते हैं।

(४) पुजारी—सभी मन्दिरों में नियमित पूजन और आरती का कार्य पुजारी करते हैं।

(५) परिचारक—मठ पर स्थायी रूप में आठ परिचारक हैं जो एक सौ रुपये मासिक वेतन के अतिरिक्त भोजन, वस्त्र पाते हैं। यह कृषि-कार्य, गोपालन, अतिथि सेवा सभी काम करते हैं।

उल्लेख है कि सर्वोच्च पदासीन महन्त को सर्वाधिकार सुरक्षित है किन्तु वह अपने शिष्य वर्ग और सर्वराकार महन्त तथा प्रबन्धक के परामर्श से ही प्रशासनिक व्यवस्था करते हैं। महन्त को अपना उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार प्राप्त है। अधीनस्थ मठों में तीन स्थानों पर रजिस्टर्ड ट्रस्ट द्वारा प्रबन्ध किया जाता है।

आगन्तुक-विवरण

महन्त के अतिरिक्त स्थायी रूप से पांच साधु मठ पर रहते हैं। प्रतिमास पक्षाघात के रोगी उपचार के लिए लगभग पांच सौ की संख्या में आते हैं। यह रोगी पराम्बा भगवती के समक्ष दर्पण में अपना रुग्ण अंग देखते हुए भगवती से रोग-मुक्ति हेतु प्रार्थना करते और चरणामृत पान करते हैं। प्रतिमास लगभग २५ शिष्य अपने परिवार के साथ दर्शनार्थ आते हैं। प्रति मंगलवार को लगभग दस मिरगी के रोगी आते हैं जिन्हें महन्त जी जड़ी, बटी औषधि के रूप में प्रदान करते हैं। गंगा दशहरा, शारदीय नवरात्र, विजयादशमी तथा महाशिवरात्रि को स्थानीय भक्त-जन तथा दूरस्थ शिष्यगण सहस्रों की संख्या में आकर महन्त जी का दर्शन कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। यदा-कदा शिष्यगण आपसी विवादों का समाधान प्राप्त करने के लिए भी मठ पर आते हैं। प्रतिमास लगभग एक सौ साधु मठ पर अतिथि रूप में आते हैं।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

मठवासी समस्त साधु, गृहस्थ अथवा ब्रह्मचारी के लिए प्रातःकाल ब्रह्म वेला में अपने बिस्तर से उठना आवश्यक है। नित्यकर्म के अनन्तर भजन, पूजन में सभी का सम्मिलित होना आवश्यक है। महन्त की प्रातःकालीन तीन घण्टे तक चलने वाली 'हरिहरात्मक' उपासना भक्तों के लिए रहस्यमयी है। वह हरिहरात्मक ब्रह्म स्वरूप पंच देवों का सगुण साकार रूप में पूजन-अर्चन करते हुए वेदों, उपनिषदों के मंत्रों का गान करते हैं। उपासनाकाल में महन्त श्री का भस्मच्छुरित ललाट, रुद्राक्षालंकरण एवं सुमधुर सौम्याकृति निश्चय ही दर्शक को भी शान्ति प्रदान करती है। समस्त साधुओं एवं शिष्यों द्वारा पुजारी के साथ समवेत मंत्रोच्चारण एवं स्तोत्र-पाठ वातावरण को धर्ममय बना देता है। पूजनोपरान्त सभी प्रसाद ग्रहण करते हैं। तदनन्तर सभी अपने कार्यक्षेत्र पर चले जाते हैं। अपराह्न में लौटकर आने पर

अल्पाहार के उपरान्त नित्यकर्म के पश्चात् स्नान, सन्ध्या, आरती में सम्मिलित होते हैं। आरती के पश्चात् सत्संग, भजन-कीर्त्तन का आयोजन होता है। तदनन्तर रात्रिकालीन भोजन के बाद विश्राम करते हैं। 'महन्त' अपने पद पर आसीन होने के उपरान्त बारह वर्ष तक दूध और फल पर ही निर्भर रहते हैं—अन्न का निषेध है। वर्त्तमान महन्त पदासीन होने के बाद २७ वर्षों से दुग्ध और फलाहार से ही जीवन यापन कर रहे हैं।

आय के स्रोत

अचल सम्पत्ति के रूप में मठ के अधीन विभिन्न स्थानों पर भूमि का जो विवरण दिया गया है, उस पर कृषि-कार्य मठ की ओर से किया जाता है। विभिन्न उत्सवों पर शिष्यों द्वारा मठ को दिए गए दान से आय होती है। औद्योगिक नगरों में रहने वाले शिष्यों के यहाँ महन्त जी प्रायः प्रति तीसरे वर्ष जाते हैं। बैंक में सुरक्षित स्थायी-निधि से भी ब्याज के रूप में रुपये प्राप्त होते हैं। उक्त विवरण मठ के किसी आधिकारिक व्यक्ति से नहीं प्राप्त हुए हैं। स्थानीय लोगों से प्राप्त मौखिक सूचना के आधार पर विवरण एकत्र किया गया है।

विवाद एवं मुकदमें

मठ के अधीन विभिन्न जनपदों में शताब्दियों से जो भूमि है उसे लेकर अनेक विवाद हुए हैं। जमींदारी उन्मूलन के समय मठ की हजारों एकड़ भूमि काश्तकारों के नाम हो गयी। इस समय चकबन्दी में अनेक मुकदमें भूमि सम्बन्धी रहे हैं जिनमें निर्णय प्रायः मठ के पक्ष में हुए हैं। अधीनस्थ मठों के स्वामित्व को लेकर भी कई विवाद हुए हैं। सम्प्रति टेकरा-मठ, वाराणसी और अपारनाथ-मठ, वाराणसी के स्वामित्व को लेकर बहुचर्चित मुकदमा विचाराधीन है। टेकरा मठ और अपारनाथ मठ के न्यासी के रूप में श्री विश्वनाथ यति का नाम सरकारी अभिलेखों में चला आ रहा था, उसी आधार पर स्वामित्व का वाद चल रहा है। टेकरा मठ पर हथियाराम मठ का आधिपत्य दिखाई पड़ रहा है और अपारनाथ मठ में संचालित संन्यासी संस्कृत पाठशाला की व्यवस्था समिति पर गोविन्द मठ वाराणसी का आधिपत्य दिखाई पड़ता है।

राजनीतिक-सहभागिता

वर्त्तमान राजनीति में मठ की सक्रिय भागीदारी नहीं है। निवर्त्तमान महन्त और वर्त्तमान महन्त का तथा मठ के अन्य अनेक साधुओं का सम्बन्ध, सहयोग एवं मित्रता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं से हैं।

सामाजिक सेवा-कार्य

मठ द्वारा समाजसेवा की दृष्टि से निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किए जा रहे हैं—

(१) **विश्वनाथ गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय, कर्णघण्टा, वाराणसी**—इस विद्यालय की स्थापना श्री विश्वनाथ यति जी ने १९३४ ई० में हथियाराम मठ, गाजीपुर में गुरुकुल संस्कृत विद्यालय के रूप में की, जिसमें दण्ड कमण्डलुधारी आठ से दस वर्ष के बीच के ब्रह्मचारी ही प्रवेश पाते थे। १९५० ई० तक यह पाठशाला हथियाराम में ही संचालित हुई किन्तु वहाँ छात्रों का अभाव देखकर विद्यालय कर्णघण्टा स्थित मठ पर स्थानान्तरित कर दिया गया। सम्प्रति यह विद्यालय वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से विभिन्न विषयों में आचार्य श्रेणी तक सम्बद्ध है। यह उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा 'क' श्रेणी में वर्गीकृत एवं मान्यता प्राप्त है। शासन द्वारा प्रधानाचार्य सहित कुल बारह शिक्षकों के पद स्वीकृत हैं। इस समय आचार्य, उपाचार्य सहित कुल दस शिक्षक कार्यरत हैं। वर्त्तमान समय में सत्तर छात्र अध्ययनरत हैं। लगभग ४० छात्र मठ द्वारा निर्मित छात्रावास में ही रहते हैं, जिन्हें आवास और भोजन निःशुल्क प्राप्त हैं। शासन द्वारा विभिन्न श्रेणी के छात्रों को छात्रवृत्तियाँ, उनकी योग्यता के आधार पर दी जाती हैं। मठ की ओर से समस्त शिक्षकों के आवास की निःशुल्क व्यवस्था है। छात्रों का परीक्षा शुल्क एवं पुस्तकीय व्यय मठ द्वारा ही वहन किया जाता है। मठ के अनेक उद्योगपति शिष्यों की ओर से भी कुछ प्रतिभावान् छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। संस्कृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन, अध्यापन में इस संस्था की महत्वपूर्ण भूमिका है।

(२) **धर्मार्थ चिकित्सालय एवं राजकीय औषधालय**—इस मठ पर परंपरागत ढंग पर पक्षाघात के असाध्य रोगी सब जगह से निराश होकर आते हैं। वह पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ पराम्बा भगवती के समक्ष रखे हुए दर्पण में अपने रुग्ण अंग को देख-देखकर भगवती के चरणामृत को पीते-पीते रोगमुक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। स्थानीय लोगों से ज्ञात हुआ कि अनेक रोगी स्वस्थ हुए हैं। इसी प्रकार मिरगी के रोगियों को महन्त जी प्रत्येक मंगलवार को जड़ी-बूटी देते हैं जिसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव रोगियों पर पड़ता है और वह रोगमुक्त होते हैं। सम्प्रति मठ द्वारा दिए गए भवन में ही महन्त जी के सत्प्रयास से एक राजकीय चिकित्सालय भी चल रहा है, जो जनता जनार्दन की सेवा में संलग्न है।

(३) **अन्य कार्य**—वर्ष पर्यन्त अनेक अवसरों पर मठ की ओर से मेले का आयोजन किया जाता है जिससे क्षेत्रीय जनता लाभान्वित होती है। महाशिवरात्रि के

अवसर पर सिद्धेश्वर महादेव का प्रसिद्ध मेला व्यवस्थित ढंग से लगता है। इसी समय यहाँ पशुओं का भी मेला लगता है।

कुम्भ पर्व के अवसर पर मठ की ओर से संगम क्षेत्र में शिविर लगाया जाता है, जहां साधु, संन्यासी तथा तीर्थयात्री निःशुल्क भोजन प्राप्त करते हैं। प्रतिदिन देवार्चन, ब्राह्मण-सत्कार, दरिद्र-भोजन, गो-सेवा, वृक्षारोपण, फलोत्पादन के उल्लेखनीय कार्य मठ की ओर से सम्पन्न होते हैं। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से मठ के महन्त का अपनी शिष्य-मण्डली के साथ सभी तीर्थ स्थलों का परिभ्रमण भी महत्त्वपूर्ण है। श्री हथियाराम मठ के निवर्त्तमान महन्त श्री विश्वनाथ यति ने एक लाख रुपये की स्थायी निधि बैंक में सुरक्षित करके टेकरा-मठ, वाराणसी में 'श्री विश्वनाथ हथियाराम अन्नक्षेत्र सेवा समिति' गठित कर दी है। इस धन के व्याज से तथा शिष्यों के प्राप्त दान से टेकरा-मठ में दीन-दुःखियों की सेवा, विरक्त महात्माओं के लिए भोजन का प्रबन्ध किया जाता है। सम्प्रति इस कार्य की देखरेख ब्रह्मचारी श्री शिवानन्द जी करते हैं।

देवाश्रम-मठ (लार, देवरिया

देवाश्रम मठ और उसकी परम्परा

पूर्वी उत्तर प्रदेश में देवरिया जनपद के दक्षिण-पूर्व सीमा पर स्थित लार का देवाश्रम मठ भारतीय संस्कृति, धर्म, राजनीति और शिक्षा के प्रचार-प्रसार की दिशा में कार्यरत एक प्राचीन सिद्धपीठ है और इस दृष्टि से इसका अपना विशेष महत्व है। इस आश्रम का इतिहास विभिन्न श्रोतों तथा जन श्रुतियों के आधर पर आकलित करने के उपरान्त लगभग ढाई सौ वर्ष प्राचीन ठहरता है। ऐसा माना जाता है कि अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल के मालदह जिले में स्थित तत्कालीन गोलघाट के महन्त स्वामी लवंग गिरि के शिष्य महात्मा मौनी गिरि जी तीर्थाटन के क्रम में प्रयाग आये और फिर वहाँ से काशी आकर वहाँ से टेकरा मठ के सामने रहने लगे। वहां से चलकर पुनः विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण करते हुए महात्मा मौनी गिरि ने लार के उस स्थान को अपनी साधना भूमि बनाया जो स्थान आज के देवाश्रम मठ के अस्तित्व में आने के पूर्व तक घने और भयावने जंगल के रूप में था। प्रसंगतः लार नामकरण के पीछे जो किंवदन्ती जुड़ी है वह भी रोचक है। कहा जाता है कि कभी महर्षि वशिष्ठ का यहाँ आश्रम था और ध्यानस्थ होकर तपस्या करते थे। इसी बीच एक दिन पार्श्ववर्ती जंगल में चर रही उनकी गाय का एक व्याघ्र ने पीछा किया। गाय भागने लगी और थकान तथा भयवश उसके मुख से जितने क्षेत्र में लार गिरा उतने क्षेत्र को 'लार' नाम से अभिहित किया गया।

जैसा कि पहले का जहा चुका है, महात्मा मौनी गिरि जी द्वारा कुटी स्थापना कर अपना नियमित पूजा-पाठ और साधना करने के उपरान्त यहाँ पर स्वभावतः एक मठ का उदय हुआ तथा दूर-दूर के महात्मा और संन्यासी इधर आकर्षित हुए।

महात्मा मौनी गिरि जी का मूल नाम 'कुणाल गिरि' था। दसनामी संन्यासियों का एक वर्ग गिरि उपाधिकारी है। इसीलिए इस मठ की नाम परम्परा 'गिरि' उपाधि भूषित महान परम्परा है।

शैक्षिक उन्मेष : स्वामी देवानन्द जी महाराज :

सम्प्रति देवाश्रम मठ के संरक्षण मे विविध शिक्षा संस्थाएँ कार्यरत हैं। स्वामी चन्द्रशेखर गिरि बाल निकेतन, देवराष्ट्र भाषा विद्यालय, स्वामी देवानन्द संस्कृत महाविद्यालय, स्वामी देवानन्द इण्टर कालेज तथा स्वामी देवानन्द स्नातक महाविद्यालय के नाम इस क्रम में उल्लेखनीय हैं। सभी शिक्षा संस्थाओं में कुल मिलाकर लगभग छः हजार विद्यार्थी और दो सौ के लगभग अध्यापक तथा अन्य कर्मचारी अध्ययन-अध्यापन के पुनीत कार्य मे अपना योगदान कर रहे हैं।

इस मठ की उदात्त परम्परा के आठवें महापुरुष स्वामी देवानन्द जी महाराज शैक्षिक चेतना से पूर्ण एक व्यापक दृष्टि के महात्मा थे। उन्होंने अपने जीवन काल में ही देवाश्रम से सम्बद्ध उक्त कई छोटी बड़ी शिक्षा संस्थाओं को जन्म दिया तथा जीवन पर्यन्त उनका पोषण करते रहे। फिर भी स्वामी जी के मन में अतृप्ति थी। इस क्षेत्र में आध्यात्मिकता तथा मानवता का पाठ पढ़ाने वाले स्नातक तैयार करने का उनमें एक स्पन्दन शेष रह गया था। प्राचीन गुरुकुलों के स्थान पर उस समय देश में नवीन साज-सज्जा तथा आधुनिक उपकरणों से युक्त विशाल भवनों के भीतर चलने वाले महाविद्यालयों की पृष्ठभूमि में भारतीयता तथा पाश्चात्य ज्ञान का मिश्रण कार्य चल रहा था। शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीनता के साथ-साथ नवीन सामंजस्य की कल्पना वे भी चरितार्थ करना चाहते थे। उनके ब्रह्मलीन होने के बाद उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी स्वामी चन्द्रशेखर गिरि जी महाराज के जीवन का व्रत था अपने पूज्य गुरु देव के आदर्शों तथा शेष अभिलाषाओं के अनुरूप उनके द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थाओं की उत्तरोत्तर समृद्धि करना तथा उनका विस्तार करना। वर्तमान स्नातक महाविद्यालय इसी का परिणाम है। अपने ब्रह्मलीन होने के पूर्व स्वामी देवानन्द गिरि जी ने जो इच्छा व्यक्त की थी। स्वामी चन्द्रशेखर गिरि जी महाराज ने १९६४ में एक स्नातक महाविद्यालय की स्थापना कर उसकी पूर्ति की। आज वह स्नातक महाविद्यालय कला और विज्ञान संकाय की विभिन्न कक्षाओं के साथ-साथ प्रशिक्षण कक्षाओं को भी सञ्चालित कर रहा है। अब भविष्य में स्नातकोत्तर कक्षाएँ सञ्चालित होने की भी पृष्ठभूमि तैयार है।

ब्रह्मलीन स्वामी चन्द्रशेखर गिरि जी

अपने गुरुदेव स्वामी चन्द्रशेखर जी महाराज के ब्रह्मलीन होने के उपरांत सन् १९५१ में ब्रह्मलीन स्वामी चन्द्रशेखर गिरि जी महाराज इस महन्त परंपरा की नवीं पीढ़ी में एक ज्योतिमान नक्षत्र के रूप में गद्दी पर आसीन हुए। स्वामी जी महाराज यावज्जीवन एक सच्चे कर्मयोगी की भूमिका में रहे। अनेक शिक्षा संस्थाओं के सूत्रधार के रूप में होने के साथ-साथ वे विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं से सम्बद्ध रहे। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक कुशल योद्धा के रूप में उन्होंने राष्ट्रीय लक्ष की प्राप्ति में अपने को आगे किया और राष्ट्रीयता की इस पवित्र भावना को उन्होंने मृत्यु पर्यन्त अपना लक्ष्य रखा। विभिन्न संस्थाओं में आयोजित उनके प्रवचन, सत्संग तथा लेखन कार्य में उनकी राष्ट्रीयता की भावना, भारतीय संस्कृति और संस्कृत के व्यापक प्रचार-प्रसार की उत्कट भावना, तथा कर्तव्य परायणता का सदुपदेश ही केन्द्रीभूत रहा। अपने जीवन के अन्तिम क्षण पंचायती अखाड़ा दारागंज प्रयाग के एक शीर्षस्थ पद को सुशोभित करते हुए उन्होंने भारतवर्ष में फैली उसकी विभिन्न शाखाओं की सुव्यवस्था और उनके सफल सञ्चालन में अपना अमूल्य समय दिया। कर्म को स्वामी जी ने मानव का आराध्य स्वीकार किया था और बराबर युवकों को भी उसे अपना आराध्य बनाने की प्रेरणा देते रहे। सदा उन्होंने इस आर्ष वाणी का हुंकार किया था—"उद्यानं पुरुषं ते, नावयानम्" अर्थात् पुरुष तुम ऊपर उठने के लिए इस धरती पर आये हो, नीचे जाने के लिए नहीं। इसी आर्ष वाणी के चतुर्दिक उनके समस्त दैनिक कार्यकलाप थे किन्तु इस आर्ष वाणी के सतत उल्लंघन से क्रमशः ह्रासोन्मुख युवा मानसिकता से वे दुखी रहते थे।

"वज्रादपि कठोरराणि, मृदूनि कुसुमादपि" सूक्ति स्वामी चंद्रशेखर गिरि महाराज के पूरे व्यक्तित्व और स्वभाव का रेखांकन करती थी। अपने नामानुरूप वे शंकर के प्रतिरूप थे। अभारतीय, अनुशासनहीन तथा वंचक वृति से वे तिलमिला उठते थे। किन्तु इसके विपरीत राष्ट्रीय भावनाओं तथा संस्कृति और संस्कृतानुरागी पर अपना सब कुछ न्यौछावर करते थे। आदेश के समय प्रज्वलित अग्नि के समान वे आरक्त मुखमण्डल हो जाते थे। सनातन भारतीय संस्कृति के वे इतने कट्टर समर्थक थे कि रंच मात्र भी अभारतीय वृत्ति का प्रदर्शन उनके लिए असह्य हो उठता था।

करुणा और कातर स्वर से वे दुःखी हो उठते थे किंतु अन्याय और अत्याचार पर वे क्रोधाग्नि में जलने लगते थे। अनुशासन उनकी मान्यताओं में सर्वोपरि था और इसे तोड़ने वाले उनके निजी शत्रु होते थे।

स्वामी चंद्रशेखर गिरि जी महाराज के ब्रह्मलीन होने के बाद उनके वर्तमान उत्तराधिकारी स्वामी भगवान गिरि उक्त परंपरा की दसवीं पीढ़ी में आते हैं, जिन्होंने अपने पूर्व पुरुषों के सदप्रयत्नों से शतशः परिवर्तित इन शिक्षा संस्थाओं तथा आश्रम के व्यवस्थापन का दायित्व सँभाला है।

देवाश्रम मठ से सम्बन्धित संस्थाओं के विकास के प्रति उनमें विशेष रुचि दिखायी पड़ती है। संस्थाओं के विकास के सम्बन्ध में उनकी भावी कार्य योजना को समझने की दृष्टि से शोधकर्ता द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर देते हुए आपने कहा कि हमारे पूर्व पुरुषों ने जिन संस्थाओं की स्थापना की है, उसके अधूरे निर्माण कार्यों को पूरा करके संस्था को उच्चीकृत कराने का प्रयास किया जायगा। छोटे बच्चों के लिए शिशु कक्षाओं की व्यवस्था करने के साथ ही बालिकाओं की शिक्षा के लिए अलग से इण्टर मीडिएट कालेज स्थापित करने का यत्न किया जायगा।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वर्त्तमान समय में देवाश्रम मठ जिस नदी के तट पर अवस्थित है, वह प्रायः १०० वर्ष पूर्व तक पुण्यसलिला सरयू को छोटी गण्डक से मिलाने वाली 'फानी' नदी के रूप में प्रवाहित थी। यह स्थान घने जंगल के रूप में था। नगर के लोग इधर आने मे भय खाते थे। जनश्रुति प्रचलित है कि अतीत में महर्षि वशिष्ठ का यहीं पर आश्रम था। आज भी 'वशिष्ठ' का स्मरण इस मठ के महात्मा अपने गुरुओं के रूप में नित्य करते हैं। सामान्य जन के बीच ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि कभी महर्षि वशिष्ठ इस आश्रम पर ध्यानस्थ हो तपस्या-रत थे, उनकी कामधेनु (गाय) जंगल में चर रही थी, तबतक एक बाघ ने उसका पीछा किया, गाय भागने लगी, उसके मुख से थकान और भय के कारण 'लार' गिरती गयी। जितने क्षेत्र में लार गिरी थी वह स्थान 'लार' कहा जाने लगा।[1]

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल के मालदह जिले के भोलाहाट मठ के महन्त श्री लवंगनाथ गिरि के शिष्य महात्मा मौनीनाथ तीर्थाटन करने प्रयाग आए। वहाँ से काशी आकर टेकरा मठ के सामने रहने लगे। उनकी साधना से प्रभावित होकर काशी नरेश दर्शन करने आए और सम्मान में एक रेशमी लबादा प्रदान किए जो इस मठ पर अभी भी सुरक्षित है। मौनी बाबा के समय से ही एक हाथी दांत का कमण्डल, एक मुद्रिका, तथा लकड़ी का बना हुआ पंजा है। मौनी बाबा काशी से पैदल चलकर जौनपुर, आजमगढ़, बलिया होते हुए लार आए और

१. रामनारायण मिश्र, उत्तर प्रदेश का भूगोल, (काशी : लगभग १९३५); पृ० ८८।

इस जंगल में विश्राम किए। प्राचीन आश्रम का अवशेष एक टीला उस समय शेष था जिसपर एक त्रिभुजाकार गुफा थी। गुफा की सफाई करके मौनी बाबा उसमें रहने लगे। उनकी सिद्धियों से प्रभावित हो स्थानीय लार कस्बे के विशेनवंशीय क्षत्रिय आग्रहपूर्वक अपने घर लिवा गए और यहाँ स्थायी रूप से रहने की प्रार्थना किए। मौनी बाबा ने प्रार्थना स्वीकार कर जंगल में ही अपनी कुटिया बनाने का निर्देश भक्तों को दे दिया। कुटी पर दूर-दूर से महात्मा, संन्यासी आने लगे और इसने 'मठ' का स्वरूप ग्रहण कर लिया। मौनी बाबा का उपनाम कुशल 'गिरि' था। 'गिरि' दशनामी संन्यासियों का एक वर्ग है। सम्भव है यह कुशल गिरि महानिर्वाणी अखाड़े के नागा संन्यासी रहे हों। क्योंकि यह मठ परंपरागत ढंग पर आज भी महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा, दारागंज, प्रयाग से सम्बन्धित है। मठ के वर्तमान महन्त स्वामी चन्द्रशेखर गिरि सम्प्रति महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा, दारागंज के 'सचिव' हैं।

महन्त-परम्परा

मठ की महन्त परम्परा का ज्ञान परम्परागत भाटों तथा स्थानीय नागरिक श्री राधारमण सिंह से ही प्राप्त हुआ है। केवल चार पीढ़ी पूर्व का उल्लेख सरकारी अभिलेखों में मिलता है। महन्त की गद्दी पर प्रतिष्ठित वर्त्तमान महन्त नवीं पीढ़ी में हैं—

(१) महन्त श्री कुशल गिरि उर्फ मौनी बाबा (१७२० ई० से १७५० ई० तक)
(२) ,, ,, शिवनाथ गिरि उर्फ नागा बाबा
(३) ,, ,, सेवा गिरि
(४) ,, ,, फूल गिरि
(५) ,, ,, मनरूप गिरि
(६) ,, ,, स्वामी बलिराम गिरि
(७) ,, ,, ,, रामगोविन्द गिरि
(८) ,, ,, ,, देवानन्द गिरि (१९१० ई० से १९५१ ई० तक)
(९) ,, ,, ,, चन्द्रशेखर गिरि (१९५२ ई० से......)

देवाश्रम-मठ इस क्षेत्र के अनेक मठों की आचार्य-गद्दी है। जब भी इस क्षेत्र के मठों के महन्त का पद रिक्त होता है तो आचार्य के रूप में देवाश्रम मठ के महंत को ही इन मठों पर महन्त नियुक्त करने, उस मठ के किसी योग्य महात्मा को तिलक लगाने और चादर देने का अधिकार है। एक प्रकार से इस क्षेत्र के साधु मण्डल में इस मठ का महन्त 'मण्डलेश्वर' के रूप में समादृत है।

सम्प्रदाय-परिचय

आदिशंकराचार्य द्वारा स्थापित चार पीठों के प्रथम पीठाधीश्वरों के दस प्रमुख शिष्यों से सम्बन्धित दशनामी संन्यासियों के हजारों मठ पूरे देश में स्थापित हैं उनमें से 'गिरि' उपाधिधारी अद्वैतवादी संन्यासी-मठ के रूप में देवाश्रम-मठ है। यद्यपि सामान्य अर्थ में इसे शैव-मठ के रूप में जाना जाता है क्योंकि मुख्य महन्तों की समाधियों पर 'शिवलिंग' स्थापित कर पूजा की जाती है। किन्तु इस मठ की परम्परा अत्यन्त उदार है। यहाँ 'शिव और विष्णु में कोई विरोध नहीं है। मूलतः सब एक हैं। मुख्य मन्दिर में पंच देवोपासना का विधान है। मठ के साधु, गृहस्थ-जीवन से पूर्णतः विरक्त, प्रबुद्ध एवं संस्कृत और संस्कृति के प्रबल पोषक हैं। महन्त जी सिद्धान्तः 'खादी' वस्त्र गेरुआ रंग में धारण करते हैं। ललाट पर श्वेत चन्दन आड़ी तीन धाराएं मध्य में एक गोल बिन्दु जो तीन रेखाओं को स्पर्श करता है। गले में रुद्राक्ष की माला, सिर पर श्वेत जटा, मुख पर धवल चाँदनी जैसी चमकती दाढ़ी, गौर वर्ण, लम्बे कद का हलका शरीर, वृद्धावस्था के प्रभाव से रहित, आकर्षक स्वरूप हैं वर्द्धमान महन्त जी का।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

देवरिया जनपद के मुख्यालय से ४० कि०मी० दक्षिण-पूर्व दिशा में उत्तर प्रदेश और बिहार की सीमा पर सदानीरा सरयू और छोटी गण्डक के मध्य अवस्थित लार नगर के उत्तरी भाग में देवाश्रम-मठ, लार स्थित है। 'मठ' का वर्तमान भवन एक छोटा सा बंगला जैसा है जो आज से लगभग ७० वर्ष पूर्व निर्मित हुआ। इसमें एक कमरा २० वर्गफीट का है जिसके चारों तरफ बरामदा है। कमरा पूर्व, उत्तर, दक्षिण तीन तरफ खुलता है; दो-दो दरवाजे हैं। पश्चिम तरफ एक छोटा-सा कमरा १२×८ का है जिसमें महन्त जी की पुस्तकें तथा आवश्यक सामान है। इस भवन के ऊपर दूसरी मंजिल पर एक कोठरी है और खुली हुई छत है। नीचे का बड़ा कमरा सत्संग भवन तथा गोष्ठी-कक्ष के रूप में प्रयुक्त होता है। छोटा कमरा महन्त जी के निवास के रूप में है। इसमें इनके गुरुदेव की मसहरी, एक आलमारी, एक कुर्सी, एक मेज और पुस्तकों के रखने का स्थान है। किन्तु इसमें कभी भी महन्त जी विश्राम नहीं करते, वह सदैव बाहर बरामदे में अपने गुरुदेव के समय से प्रयुक्त साधारण सी चौकी पर ही बैठते हैं। बैठने के स्थान से ठीक सामने स्वामी देवानन्द जी की समाधि, उनकी मूर्ति है। ऊपर का कमरा स्वाध्याय-कक्ष जैसा है, पहले जब और कोई स्थान नहीं था तो विशिष्ट अतिथि इसी कमरे में विश्राम करते थे। इसी कक्ष में स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में पं० नेहरू, श्री जयप्रकाश नारायण; श्री श्रीप्रकाश जी, श्री रघुपति सहाय 'फिराक', बाबा राघवदास जैसे कांग्रेस नेता विभिन्न अवसरों पर विश्राम किए हैं।

मठ पर आदिपुरुष मौनीबाबा का प्राचीन मन्दिर है जिसमें मौनी बाबा की समाधि है जिस पर 'शिव' की स्थापना हुई है। क्षेत्रीय जनता इन्हें 'भगवान शिव' मानकर पूजन करती है। मन्दिर में श्वेत संगमरमर की अत्यन्त सुन्दर शंकर जी की मूर्ति है, गणेश, दुर्गा, सालिग्राम आदि पंचदेवों की मूर्त्तियाँ हैं। परिक्रमा-स्थान है। यह मन्दिर अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि इसका ऊपरी भाग १९६० के लगभग निर्मित हुआ है जो १९३४ के भूकम्प में गिर गया था। मन्दिर से संलग्न भण्डार-गृह और भोजनालय है। मंदिर के सामने के बरामदे से लगे एक कक्ष में स्वामी देवानन्द जी की भव्य मूर्त्ति उसी स्थान पर उनकी समाधि पर स्थापित है, जहां आज से ६८ वर्ष पूर्व उन्होंने नवरात्र व्रत के अन्तिम दिन चिरसमाधि ली थी। भण्डार-गृह की दूसरी मंजिल पर तीन कमरे हैं, जिसमें कुछ विद्यार्थी तथा आगन्तुक रहते हैं। मन्दिर और स्वामी देवानन्द जी की समाधि से आगे एक तीन कमरे का अतिथि-निवास है जो प्रायः दस वर्ष पूर्व निर्मित हुआ है। इन कमरे में विद्युत प्रकाश और पंखे का प्रबन्ध है। मन्दिर और 'मठ' के बीच की जमीन पर हरी घास है जिस पर आगन्तुक बैठते हैं। एक अत्यन्त प्राचीन श्वेत मन्दार का वृक्ष है, उसके पास चबूतरा बना हुआ है जो इस मठ की वास्तविक गद्दी समझा जाता है। ऐसी मान्यता है कि यह मंदार उस समय से ही है जब से यह मठ है। इसके पत्ते पर ही यहाँ की विभूति प्रदान की जाती है। मठ पर आदिपुरुष मौनीबाबा के समय से रेशमी लवादा (गाउन), हाथी दाँत का कमंडल, तांत्रिक मुद्रिका, लकड़ी का बना हुआ विशाल पंजा है। वर्त्तमान महन्त जी से ज्ञात हुआ है कि कीमिया-गीरी के काम में प्रयुक्त होने वाली भाथी, फुंकनी, थरिया आदि ४० वर्ष पूर्व तक मठ पर रही है। सम्भवतः इससे सोना बनाने का काम यहाँ होता था जिसे १९३५ में वर्त्तमान महन्त जी ने बन्द करा दिया। यह सामान इस समय नहीं है।

मठ की चार दीवारी के भीतर लगभग ५ एकड़ का सुन्दर बाग है। चार-दीवारी के उत्तरी फाटक के पास मठ द्वारा निर्मित एक छोटा सा आवास-योग्य भवन है जिसमें एक लघु परिवार के लिए सभी प्रबन्ध है। चारदीवारी के पश्चिम द्वार पर सामने ही एक पुराना, विशाल मन्दिर है जिसमें नागा बाबा की समाधि है। इस पर भी शिवलिंग' स्थापित है। मंदिर के सामने बरामदे में भी शिवलिंग स्थापित है। मन्दिर के भीतर नागा बाबा की समाधि के अतिरिक्त चार समाधियाँ और हैं। इस मन्दिर के पीछे भी दो समाधियाँ हैं जिन पर मन्दिर जैसा ही लघु आकार निर्मित है। इस मन्दिर से थोड़ी दूर पर मठ पर रहने वाले महात्माओं की आठ समाधियां बनी हुई हैं। चारदीवारी के भीतर जो बाग है उसमें आम, अमरूद, आंवला, कटहल, बेर, केला, अनन्नास, नीबू, सेव, चीकू, लीची आदि सभी मौसमी फलों के पौधे हैं। अत्यन्त नियोजित ढंग से बाग लगा है।

अचल एवं चल सम्पत्ति

मठ के अधीन सम्प्रति चारदीवारी के भीतर ५ एकड़ का बाग है, इसके अतिरिक्त मठ के पास प्रायः ३० एकड़ भूमि थी जो विभिन्न शिक्षण संस्थाओं को प्राभृत स्वरूप प्रदान कर दी गयी है। कोई अचल सम्पत्ति इस समय नहीं है।

प्रशासन-तन्त्र

मठ का सम्पूर्ण प्रशासन महन्त जी के निर्देशों पर अवलम्बित है। कोई न कोई पुजारी, भण्डारी मठ पर रहता है जो निर्देशानुसार कार्य करता है। कोठारी अधिकारी, कोतवाल आदि इस समय नहीं रहते हैं।

आगन्तुक-विवरण

मठ पर जब तक महन्त जी रहते हैं, आगन्तुकों की भीड़ लगी रहती है, किन्तु जब वह 'पंचायती अखाड़े' के कार्य से इलाहाबाद, अहमदाबाद अथवा हरद्वार चले जाते हैं तो मठ पर आगन्तुकों की संख्या घट जाती है। मन्दिर पर दर्शनार्थी आते हैं। विशेष पर्वों—दशहरा और होली पर स्थानीय नागरिक भारी संख्या में मठ पर आते हैं। शारदीय नवरात्र के अवसर पर आयोजित श्री योगिराज नवाह्न समारोह में भाग लेने के लिए काशी, प्रयाग, गोरखपुर आदि स्थानों से विद्वान, महात्मा, एवं प्रवचनकर्त्ता आते हैं। इस अवसर पर बाहर के मठ के परंपरागत शिष्य भी आते हैं। नवरात्र के समय लगभग दो सौ बाहरी व्यक्ति आते हैं। स्थायी-रूप से दो साधु रहते हैं।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

मठ के महन्त जी प्रायः ३ बजे ही जग जाते हैं। नित्यकर्म के उपरान्त शास्त्रीय विधि से मुख्य मन्दिर में पंचदेवोपासना एवं 'गुरुदेव' की पूजा के उपरान्त स्वाध्याय करते हैं—'गीता' इनका प्रिय ग्रन्थ है। प्रातः ७ बजे तक 'मौन' रहते हैं। आठ बजे से दस बजे तक बागवानी का निरीक्षण करते हैं। कर्मचारियों को निर्देश देते हैं तदनन्तर अपने लिए स्वयं साधारण सात्विक भोजन बनाते हैं। मन्दिर में भोग लगाकर प्रसाद ग्रहण करते हैं। सायंकाल आगन्तुकों से मिलते हैं। सायं ६ बजे स्नान करके सन्ध्या करते हैं। मन्दिर में आरती होती है, जिसमें मठ पर रहने वाले सभी साधु, विद्यार्थी तथा गृहस्थ शिष्य भाग लेते हैं।

आय के स्रोत

इस मठ पर आय के कोई स्पष्ट स्रोत नहीं हैं। बगीचे से वार्षिक आय दो हजार रुपया से भी कम है क्योंकि अभी बहुत नया बगीचा है। कृषि से कोई आय नहीं है। बाहर के शिष्यों से नवरात्र के समय तथा दशहरा, होली पर स्थानीय

शिष्यों से कुछ धन प्राप्त होता है। परंपरागत ढंग पर महन्त जी प्रति तीसरे वर्ष अपने जौनपुर, मिर्जापुर और दरभंगा (विहार) के शिष्यों के यहाँ जांय तो वहाँ से पूजा मिल सकती है किन्तु वर्त्तमान महन्त जी इसमें रुचि नहीं लेते। कभी-कभी बहुत आग्रह किए जाने पर चिटको, जौनपुर अपने शिष्यों के यहाँ एक माह के लिए जाते हैं तो लगभग तीन हजार रुपये पूजा मिल जाती है। वर्त्तमान महन्त जी अत्यन्त परिश्रमी एवं कुशाग्र बुद्धि के महापुरुष हैं। यह दूसरे पर आश्रित रहना अच्छा नहीं समझते, स्वयं परिश्रम करके अर्जित करने में विश्वास रखते हैं। देश के सभी भागों का और एक बार वर्मा का पर्यंटन किए हैं। पर्यंटन में प्रवचन से कुछ आय होती है। आय का अधिकांश भाग शिक्षण संस्थाओं, विद्यार्थियों और विद्वानों को दान कर देते हैं।

विवाद एवं मुकदमें

सम्प्रति कोई विवाद नहीं है। पहले कुछ भूमि सम्बन्धी विवाद जमींदारी समाप्त होने के बाद थे।

राजनीतिक सक्रियता

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व १९१९ से १९४५ तक वर्तमान महंत ने राजनीति में सक्रिय भाग लिया। १९४२ के आंदोलन में भूमिगत होकर अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध आंदोलन किए। आपने १९२१ में स्वदेशी आंदोलन के संदर्भ में खादी ही पहनने का संकल्प लिया, जिसका पालन आज भी करते हैं। जिला परिषद् देवरिया के सदस्य तथा टाउन एरिया लार के अध्यक्ष के चुनाव में विजयी हुए, किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सक्रिय राजनीति से विलग हो गए। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में यह मठ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गढ़ समझा जाता था।

सामाजिक सेवा-कार्य

मठ द्वारा किए जा रहे सामाजिक सेवाकार्यों को शैक्षणिक, साहित्यिक एवं वैयक्तिक सहायता के रूप में वर्णित किया जा सकता है—

शैक्षणिक-कार्य—सम्प्रति देवाश्रम मठ लार के संरक्षण में श्री देव राष्ट्रभाषा विद्यालय, स्वामी देवानन्द आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, स्वामी देवानन्द इण्टरमीडिएट कालेज, स्वामी देवानन्द डिग्री कालेज मठ, लार सञ्चालित है। राष्ट्रभाषा विद्यालय लघु माध्यमिक स्तर तक २०० छात्रों की शिक्षा-व्यवस्था करता है। कुल ८ शिक्षक तथा प्रधानाध्यापक और ३ परिचारक हैं। संस्कृत महाविद्यालय आचार्य स्तर तक 'क' श्रेणी में मान्यता प्राप्त है। लगभग ५० विद्यार्थी और ७ शिक्षक हैं। २ परिचारक हैं। इण्टर कालेज साहित्यिक, वैज्ञानिक और कृषि वर्ग में

मान्यता प्राप्त है। कुल ५२ शिक्षक, ५ लिपिक और १९ परिचारकों द्वारा १५०० छात्रों को नियमित शिक्षा देने की व्यवस्था करता है। डिग्री कालेज साहित्य, विज्ञान और प्रशिक्षण (बी० एड०) संकाय में गोरखपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है। १००० छात्रों के शिक्षण का प्रबंध, कुल ३० शिक्षकों, १९ परिचारकों और ५ कर्णिकों द्वारा किया जाता है। यह सभी संस्थाएँ मठ के प्राभूत और आर्थिक सहयोग से सञ्चालित हुई हैं। इस समय सभी को सरकारी अनुदान प्राप्त है।

प्रौढ़ शिक्षा केन्द—१९६९ में कनाडा की महिला डब्ल्यू० एच० फिशर ने विद्यालय का निरीक्षण किया और इस क्षेत्र में वयस्क निरक्षरों का प्रतिशत भारत में सबसे अधिक देखकर प्रौढ़ शिक्षा केंद्र खोलने की अनुमति चाही। उस महिला से आर्थिक सहयोग प्राप्त कर यहाँ अनेक केन्द्र पहले से ही सञ्चालित थे। लेडी फिशर के उदारता की सराहना करते हुए मठ के महंत स्वामी चंद्रशेखर गिरि ने पाँच सौ एक रुपये की आर्थिक सहायता प्रदान की जिससे स्वामी देवानंद इण्टर कालेज के भवन में ही प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र की स्थापना हुई जिसके माध्यम से हजारों स्त्री-पुरुष साक्षर किए गए हैं।

काशी में ग्वालगड्ढा स्थित शिवहर्ष कुटीर में मानव विकास संघ की स्थापना हुई है तथा विश्वकर्मा मंदिर में छात्रों को रहने की सुविधा दी जाती है। यह मंदिर और मठ भी देवाश्रम मठ लार के महंत जी के अधीन है। संस्थाओं पर मठ के महापुरुषों की छाप दिखाई पड़ती है।

साहित्यिक-कार्य—वर्तमान महंत जी विलक्षण प्रतिभा के साहित्यिक रुचि सम्पन्न व्यक्ति हैं। फलतः विद्वानों एवं साहित्यकारों का समय-समय पर सम्मान करते हैं। उनके ग्रंथों का प्रकाशन कराते तथा आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहयोग देते हैं। १९७६ में स्वामी जी ने पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के स्वागत में अनूठे ढंग पर प्रयाग में सारस्वत समारोह का आयोजन किया था जिसे विद्वानों ने 'साहित्यिक कुम्भ' के रूप में वर्णित किया। इस समारोह के आयोजन में तथा ग्रंथ के प्रकाशन में स्वामी जी ने २० हजार रुपये अपने पास से खर्च किए जिसकी चर्चा समाचारपत्रों में कई लेखकों ने की है।

वैयक्तिक सहायता—अनेक छात्रों, निर्धन लोगों को आपने गुप्तदान भी दिया है। आपसे निर्धन लोग कन्या के विवाह के लिए, श्राद्ध-कर्म के लिए तथा दवा के लिए भी आर्थिक सहायता प्राप्त किए हैं। मठ का सर्वस्व समाज के हित में नियोजित है। राष्ट्रीय संकट की घड़ी में महंत जी स्वयं तथा दूसरों से संग्रह करके स्वर्ण तथा धन दिए हैं।

श्री गोरखनाथ मठ, (गोरखपुर)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

योग की पद्धति प्राचीन होते हुए भी शताब्दियों तक केवल महर्षियों, ज्ञानियों तथा योगियों के छोटे से उच्च वर्ग तक ही सीमित रही। ईसवी सन् की प्रथम सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में एक ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हुआ जिसने इस साधना-पद्धति को उच्च वर्ग के सीमित दायरे से निकालकर इसका प्रसार भारत के पूर्व में कामरूप से मणिपुर और पश्चिम में काबुल से ईरान तक, उत्तर में काश्मीर और नेपाल तक, दक्षिण में सुदूर कर्नाटक तक बिना किसी वर्ग या जाति का भेदभाव किये जनसाधारण के बीच किया। उन्होंने बताया कि सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी, यदि उसमें सच्ची लगन, धैर्य और कष्ट सहिष्णुता हो तो इस साधना-पद्धति के माध्यम से परम तत्व शिव या ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित कर सकता है और अन्ततः उसमें विलीन होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस सत्य का देश के कोने-कोने में प्रसार करने वाले महापुरुष थे—मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य तथा आदिनाथ के प्रशिष्य गोरखनाथ तथा उनके अनुयायी।

गोरखनाथ ने योगसाधना के सिद्धांतों के आधार पर एक सुसंघटित धार्मिक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया जिसकी कई शाखाएँ—नाथ योगी, सिद्ध योगी, दर्शनी योगी या कनफटा योगी आदि नामों से अभिहित हैं। उत्तरी भारत के समस्त नाथ योगियों के मन्दिरों और मठों में गोरखनाथ-मठ का विशिष्ट स्थान है। डा० मन मोहन सिंह ने अपनी पुस्तक "गोरखनाथ और मध्यकालीन हिन्दू रहस्यवाद में लिखा है कि गोरखनाथ सम्भवतः नवीं शताब्दी में विद्यमान थे और पंजाब के रहने वाले थे। अन्य कई विद्वानों ने इनकी जन्म शताब्दी छठीं या सातवीं बतलाया है।"[१]

मुस्लिम शासनकाल में तेरहवीं शताब्दी में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा गोरखनाथ-मठ और मंदिर ध्वस्त कर दिया गया था किंतु प्रतिकूल परिस्थितियों में भी यह स्थान आध्यात्मिक-चेतना का केंद्र बना रहा। इसके बाद भी कई बार मुस्लिम शासकों का इसे कोपभाजन बनना पड़ा। अंतिम बार मुगल सम्राट् औरंगजेब ने इसे भारी क्षति पहुँचाने की चेष्टा की। नाथ योगी सम्प्रदाय के महान् प्रवर्त्तक गुरु गोरक्षनाथ जी की तयोभूमि होने के कारण यह मंदिर और मठ नाथ-योगियों, सिद्धों, साधु-महात्माओं एवं सामान्य जन के लिए सतत आकर्षण का केन्द्र बना रहा है।

---

१. दैनिक पत्र 'आज के ८ सितम्बर, १९७० के अंक में प्रकाशित निबन्ध—प्रमुख आध्यात्मिक और योगपीठ गोरखनाथ 'मठ' में उद्धृत।

महन्त-परम्परा

मठ के आदि संस्थापक गुरु गोरखनाथ के अनेक सिद्ध शिष्यों का उल्लेख नाथ-साहित्य में मिलता है किन्तु मठ के महन्त की निश्चित परम्परा का इतिहास केवल चार पीढ़ी तक ही प्राप्त है—

(१) महंत श्री ब्रह्मनाथ —(१९३२ ई० से १९३४ ई० तक)
(२) महंत श्री गंभीरनाथ —(१९३४ ई० से १४ अगस्त, १९३५ तक)
(३) महंत श्री दिग्विजयनाथ —(१५ अगस्त, १९३५ से २८ सितम्बर, १९६९ तक)
(४) महंत श्री अवेद्यनाथ —(२९ सितम्बर, १९६९ से —)

महात्मा आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के बाद इस मठ की गुरु-शिष्य-परम्परा में प्रमुख महन्त बाबा वीरनाथ, अमृतनाथ, पियारनाथ, बालक नाथ, मानस नाथ, संतोषनाथ, महार नाथ, शीतल नाथ हो चुके हैं। किन्तु इनके समय में मठ का भौतिक स्वरूप उपेक्षित था। यह स्थान तपस्या-स्थली के रूप में ख्याति प्राप्त किए था। वर्तमान स्वरूप बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विकसित हुआ है।

सम्प्रदाय-परिचय

शैव-परम्परा में संगठित गोरख नाथ मठ, गोरखपुर, नाथ-सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र है। नाथ-पंथ के समस्त अनुयायी महायोगेश्वर शिव की उपासना करते हैं और आदिनाथ, मत्येस्न्द्रनाथ तथा गुरु गोरखनाथ को अपना गुरू मानते हैं। शंकराचार्य के 'दशनामी' संन्यासियों की ही भांति समस्त नाथ योगी 'बारह पंथी' योगी के रूप में जाने जाते हैं— सत्यनाथ–पन्थी, धर्मनाथ–पन्थी, राम–पंथी; नतेश्वर पन्थी, कन्हर-पन्थी, कपिल-पन्थी, (भर्तृहरिपन्थी), मन्नाथ-पन्थी (गोपीचंद-पंथी), आई-पंथी, पागल-पंथी, ध्वजा-पंथी, गंगानाथ-पंथी।

उक्त सम्प्रदायों में कोई मौलिक भेद नहीं है। विशिष्ट महायोगियों के नाम से सम्बंधित 'बारह पंथ' हैं। ब्रह्मलीन महंत दिग्विजयनाथ ने अपने जीवनकाल में इन बारह पंथ योगियों की एक महासभा का गठन किया जिसे 'अखिल भारत-वर्षीय भेष बारह पंथ योगी महासभा' के रूप में पंजीकृत कराया गया है। सम्प्रति महंत अवैद्यनाथ इस महासभा के अध्यक्ष और महन्त धर्माईनाथ जी महामंत्री हैं।

गोरखनाथ मठ, गोरखपुर धर्मनाथ-पंथी और राम-पंथी नाथ योगियों का केन्द्र माना जाता है। लोगों का विश्वास है कि गुरु गोरखनाथ ने इस स्थान पर दीर्घकाल तक तपस्या की थी और नाथ योगियों के स्थायी साधना-स्थल के रूप में

इस मठ का गठन किया था। इस मठ पर 'निहंग' साधु अर्थात् गृहस्थ जीवन से रहित साधु ही रहते हैं जिन्हें 'अवधूत' कहा जाता है। नाथ सम्प्रदाय के कर्णकुण्डल धारण करने वाले 'दर्शनी' साधु को 'योगी' कहते हैं और 'महन्त' का अर्थ पीर, राजा, मठाधीश होता है। गेरुआ वस्त्र, रुद्राक्ष, भस्म-धारण, मुद्रा, सेली और शृंगी धारण करना इस सम्प्रदाय की पहचान कराता है।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

गोरखपुर नगर में गोरखनाथ मठ, गोरखनाथ-मंदिर के पार्श्व में निर्मित भव्य एवं विस्तृत दुमंजिला भवन है। इसी भवन में ऊपरी भाग में 'महन्त' का आवास, अतिथि निवास, सत्संग-भवन, कोठार, भण्डार-गृह, कार्यालय और विश्रामालय के अतिरिक्त साधना-कक्ष है। नीचे की मंजिल में विशाल सभा-कक्ष, योग-प्रशिक्षण-केन्द्र, पुस्तकालय, वाचनालय एवं कार्यालय है। इसी भाग में 'महन्त दिग्विजयनाथ-ट्रस्ट' का कार्यालय एवं 'योग-वाणी' पत्रिका का कार्यालय भी है। मठ के ऊपरी भाग में दुर्गा जी की मूर्ति स्थापित है। गोरखनाथ जी का भव्य मंदिर श्वेत संगमरमर से उसी पवित्र स्थान पर बना है जहाँ पर योगिराज ने तपस्या की थी। यह मठ और मंदिर ५२ एकड़ के सुविस्तृत क्षेत्र में स्थित है।

मंदिर की मुख्य वेदी पर शिवावतार अमरकाय गुरू गोरक्षनाथ जी की श्वेग संगमरमर की दिव्य मूर्त्ति ध्यानावस्थित रूप में प्रतिष्ठित है। मंदिर में प्रज्वलित 'अखण्ड ज्योति' और 'अखण्ड धूनी' भक्तों के लिए मुख्य आकर्षण का केन्द्र है। ऐसी किम्वदन्ती प्रचलित है कि इस 'ज्योति' को गुरुगोरखनाथ ने स्वयं प्रज्वलित की थी और 'धूनी' भी स्वयं लगाई थी जो इतने लम्बे अन्तराल के बाद भी सतत प्रज्वलित है।

मंदिर के अन्तर्वर्ती पार्श्व भाग में कुछ देव मूर्त्तियाँ भी प्रतिष्ठित हैं जिसमें विघ्नविनाशक गणेश जी, शिव के वक्षस्थल पर नृत्य करती हुई काली माता, काल-भैरव, शीतला माता और भगवान् शिव की मूर्तियाँ प्रमुख हैं। श्री गोरखनाथ मंदिर के सन्निकट रुद्रावतार श्री महावीर हनुमान जी का अत्यन्त ही भव्य और रमणीय मंदिर है जिसमें श्री हनुमान जी की विशाल संगमरमर की मूर्त्ति प्रतिष्ठित हैं। गोरखनाथ मंदिर के प्रांगण में ट्टी माई का विशेष स्थान है जो गोरखपुर जनपद और पूर्वाञ्चल की कुल देवी हैं। मठ की परिसीमा में ही एक सुन्दर सरोवर है जिसके घाट सुन्दर एवं स्नानादि के लिए सुविधाजनक हैं। सरोवर के तट पर महाबली भीमसेन का मंदिर और चारो तरफ से खुला हुआ विश्रामालय हैं।

मुख्य मंदिर की दक्षिण दिशा में ब्रह्मलीन महन्त योगिराज ब्रह्मनाथ, गम्भीरनाथ एवं महंत दिग्विजयनाथ का समाधि मंदिर है। मुख्य मंदिर के ठीक

सामने जलयंत्र (फौव्वारा) है जो वातावरण को आकर्षक बनाने में सहायक है। श्री हनुमान जी के मंदिर के समक्ष ही कथा-मण्डप है। मंदिर के प्राङ्गण में कई स्थानों पर पूर्ववर्ती महंतों की समाधियाँ हैं। संत निवास तथा अतिथि-निवास में एक साथ लगभग ५०० व्यक्तियों के रहने की व्यवस्था है। प्रांगण में ही संस्कृत विद्यापीठ, आयुर्वेद विद्यापीठ एवं छात्रावास भी है। सम्पूर्ण प्रांगण स्वच्छ, पवित्र एवं आधुनिक ढंग पर सुसज्जित है। सभी भवन आकर्षक शैली में निर्मित और व्यवस्थित हैं।

अचल एवं चल सम्पत्ति

सम्प्रति गोरखनाथ-मठ, गोरखपुर के अधीन अचल सम्पत्ति के रूप में समय-समय पर विभिन्न राजाओं द्वारा प्रदत्त भूमि का कुछ अंश और मठ की ओर से निर्मित कुछ मकान हैं जिनका विवरण निम्नवत् है—

(१) गोरखपुर नगरपालिका के अन्तर्गत लगभग ५० एकड़ क्षेत्रफल में फैले हुए मठ में प्रायः ३० एकड़ का बगीचा है जिसमें कुछ शैक्षणिक संस्थाएँ, उनका क्रीड़ा क्षेत्र एवं मेला के लिए खाली भूमि है।

(२) देवी पाटन मंदिर, गोण्डा से संलग्न प्रायः १०० एकड़ की भूमि सिद्धान्ततः अखिल भारतवर्षीय भेष बारह पंथ-योगी महासभा के अधीन है किन्तु उस पर गोरखनाथ मठ का व्यावहारिक एवं प्रभावी नियंत्रण है।

(३) चौक बाजार, महाराजगंज (तहसील), गोरखपुर में मठ के नाम पर लगभग १५० एकड़ जमीन है जो कृषि-योग्य एवं उपजाऊ है।

(४) सदर तहसील, गोरखपुर के अन्तर्गत चौकमाफी में लगभग ६० एकड़ जमीन कृषि योग्य है।

(५) परसामाफी, बस्ती में लगभग ४० एकड़ कृषि योग्य भूमि है।

(६) गोपालपुर, नेपाल में प्राय। ३० एकड़ कृषि योग्य भूमि है।

(७) गोलघर बाजार, गोरखपुर में लगभग ३० दुकानें हैं जो किराए पर दी गयी हैं।

(८) गोरखनाथ-मठ की चहारदीवारी से बाहर की ओर खुलने वाली लगभग ४० दुकानें हैं जो किराए पर दी गयी हैं। आवास योग्य कुछ मकान भी किराए पर दिए गए हैं।

चल सम्पत्ति के रूप में 'महंत' के प्रयोग में आने वाली डीजल जीप गाड़ी है, हाथ की कलाई में कीमती घड़ी और कानों में स्वर्ण कुण्डल हैं। सुन्दर ट्रांजिस्टर, टेपरिकार्डर, रिकार्ड प्लेयर, ध्वनिविस्तारक यंत्र, कृषि उपकरण—ट्रैक्टर, ट्यूबवेल,

ट्राली, थ्रेसर आदि हैं। मठ के कार्यालय में सुन्दर एवं मजबूत स्टील की आलमारी; सेफ, लाकर, कुर्सियाँ, टेलीफोन आदि की सुविधा उपलब्ध है।

प्रशासन-तन्त्र

(१) महन्त—मठ का सम्पूर्ण प्रशासन सर्वोच्च पद पर आसीन महंत के अधीन कार्यरत है। महंत ही इस मठ का वास्तविक स्वामी है। उसकी स्थिति 'पीर' और 'राजा' जैसी है। कर्मचारियों की नियुक्ति; निष्कासन का अधिकार महंत को है। मठ के बैंक में जमा धन को निकालने का अधिकार महंत को है। मठ के भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप की रक्षा का दायित्व उसी पर है।

(२) अधिकारी—सम्प्रति बाबा नौमीनाथ जी मठ के 'अधिकारी' हैं जिनकी स्थिति प्रशासन की दृष्टि से दूसरे स्थान पर है। महन्त यदि 'राजा' की स्थिति में है तो 'अधिकारी' की स्थिति 'प्रधानमंत्री' जैसी है। अधिकारी ही महंत का प्रथम सलाहकार और सहयोगी होता है। व्यावहारिक रूप में लेन-देन और हिसाब के रख-रखाव के लिए अधिकारी ही जिम्मेदार होता है।

(३) कोठारी—सम्प्रति बाबा गोपालनाथ 'कोठारी' के पद पर कार्यरत हैं। इनका कार्य कोषाध्यक्ष जैसा है। भण्डारगृह के प्रभारी के रूप में यही सामान का रख-रखाव करते हैं। नित्यप्रति भोजन, भण्डारा और अतिथि सत्कार की व्यवस्था भी आपको करनी होती है।

(४) पुजारी—बाबा तीरथनाथ और बाबा तुलसीनाथ सम्प्रति प्रमुख पुजारी हैं। इनके अतिरिक्त कई सहयोगी पुजारी हैं। दर्शनी योगेश्वर ही पुजारी का कार्य कर सकते हैं। नाथपंथ की विधि के अनुसार दैनिक पूजा एवं कर्मकाण्ड पुजारी द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं।

उक्त पदों पर अनिवार्यतः विरक्त अवधूत ही नियुक्त किए जाते हैं। इनमें परस्पर संस्तरणात्मक सम्बन्ध है। व्यावहारिक रूप में महन्त श्री अवेद्यनाथ जी अधिकारी बाबा नौमीनाथ को गुरु जी कहकर सम्बोधित करते हैं क्योंकि वह अवस्था में बड़े और उनके गुरुदेव के समवयस्क गुरुभाई हैं, किन्तु सिद्धान्ततः महन्त का पद सर्वश्रेष्ठ है।

आगन्तुक-विवरण

गोरखनाथ मठ पर वर्ष पर्यन्त पर्यटकों की भीड़ लगी रहती है। सामान्यतया सभी धर्मों और देशों के पर्यटक इस मठ पर दर्शनार्थ आते हैं। क्योंकि यह

गोरखपुर जनपद ही नहीं अपितु पूर्वी उत्तर प्रदेश का एकमात्र दर्शनीय स्थल है। विदेशी पर्यटकों से भरी हुई बसें प्रायः प्रतिदिन अतिथि-निवास के सामने खड़ी दिखाई पड़ती हैं। सभी धर्मों के अनुयायी इस मठ पर बिना किसी संकोच के आते हैं और सन्त-निवास में ठहरते हैं। नाथ-पन्थ के योगी प्रतिमाह सैकड़ों की संख्या में आते हैं और गुरु गोरखनाथ की मूर्त्ति का दर्शन करते हैं। मकरसंक्रांति के पर्व पर गोरखपुर के पास-पड़ोस के जनपदों से लाखों की संख्या में स्त्री-पुरुष इस मठ पर दर्शन करने और खिचड़ी चढ़ाने आते हैं। इसी प्रकार विजयादशमी, बसन्त पंचमी, कृष्ण जन्माष्टमी और नवरात्र में भी दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती है। आगन्तुकों के आवास, भोजन, जलपान की व्यवस्था मठ की ओर से निःशुल्क की जाती है।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

मठ पर स्थायी रूप से नाथ-पन्थी निहंग साधु, सेवक, कोठारी, पुजारी, अधिकारी एवं महन्त ही रहते हैं। प्रधान पुजारी तथा अन्य साधु नित्य अर्द्धरात्रि के बाद ही लगभग १ बजे उठकर प्रातःक्रिया तथा स्नानादि से निवृत्त होकर मन्दिर में पहुँच जाते हैं। विशाल नाथ मन्दिर तथा उससे सम्बन्धित सभी प्रतिष्ठित देवी-देवताओं के मन्दिरों और देवमूर्त्तियों की मार्जनी-क्रिया प्रारंभ हो जाती है। तीन बजे से पूर्व ही उषाकाल प्रारंभ होने से पहले सर्वप्रथम श्रीनाथ जी के विग्रह को गंगाजल मिश्रित कूपजल से स्नान कराया जाता है। उसके पश्चात् स्वच्छ भगवा वस्त्र से उन्हें अलंकृत कर शुद्ध मलयागिरि चन्दन का तिलक लगाया जाता है। सुगंधित और आकर्षक पुष्पहार पहनाकर श्रीनाथ जी पर अक्षत चढ़ाये जाते हैं। इसके पश्चात् विल्व-पत्र, तुलसीदल और पुष्पों से श्रीनाथ जी का और उनकी चरणपादुका का भव्य ऋङ्गार किया जाता है। इसी प्रकार मन्दिर के सभी देवी-देवताओं को शास्त्रोक्त विधि से अलंकृत किया जाता है। यह सभी क्रियाएँ प्रातः ३ बजे से पूर्व ही पूर्ण हो जाती हैं।

ब्राह्ममुहूर्त्त में ३ बजते ही श्रीनाथ जी की पूजा प्रारंभ हो जाती है। पुजारी अपने मुख को एक भगवा-वस्त्र से ढंक लेते हैं और धूप से श्रीनाथ जी का पूजन करते हैं—वह एक हाथ से घंटी बजाते और दूसरे हाथ से आरती करते हैं। उनके संकेतानुसार पहले एक मिनट के अन्तर पर और फिर पांच-पांच मिनट के अन्तर पर घण्टी और नगाड़े बजाये जाते हैं। घण्टानाद और नगाड़ों की ध्वनि क्रमशः तीव्र होती जाती है। मन्दिर के सभी देवताओं एवं ब्रह्मलीन महात्माओं के समाधि की धूप से आरती की जाती है, तदनन्तर घृत की सात फूलबत्तियों से श्रीनाथ जी तथा अन्य सभी देवताओं की आरती की जाती है, फिर चंवर डुलाया जाता है और मोर-

छल हिलाया जाता है, उसके बाद पुनः धूप से आरती करके फिर चंवर डुलाया जाता है। अन्त में कपूर से आरती की जाती है और पुनः धूप से आरती करने के पश्चात् गोरक्षनाथस्तवाष्टक का पाठ किया जाता है।

मध्याह्न में श्रीनाथ जी का भोग लगाया जाता है जिसमें गोदुग्ध, पक्वान्न; सूखे फल और हरे ऋतु-फलों की प्रधानता होती है। मंगलवार तथा विशेष पर्वों पर 'रोट' चढ़ाया जाता है। भोग लगाते समय घण्टी और नगाड़े बजाए जाते हैं। भोग की सामग्री रजत-पात्र में सजाकर श्रीनाथ जी के समक्ष रख दी जाती है; तद्पश्चात् मन्दिर का द्वार बन्द कर दिया जाता है, थोड़ी देर बाद द्वार खोल दिया जाता है। पूजा और भोग लगाने के समय पुजारी मन्दिर की परिक्रमा करते हैं। द्वार खोलने के पूर्व पुजारी तीन बार सिंगीनाद से श्रीनाथ जी को अभिवादन करते हैं। भोग की सामग्री प्रसाद के रूप में भक्तों में वितरित कर दी जाती है।

मध्याह्न में ही बेलपत्र के रूप में श्रीनाथ जी के भण्डार से भैरव जी और गौ के लिए ग्रास निकाला जाता है तत्पश्चात् श्रीनाथ जी के मन्दिर में द्वार के समक्ष खड़े होकर उच्च स्वर से पुकार की जाती है—'सिद्धों ! गुरु पीरों! श्रीनाथ जी का भण्डारा (भोजन) तैयार हो गया है, जो भी महानुभाव भोजन करना चाहें भण्डार में चलें।' उस समय जो भी भण्डार में पहुँच जाता है उसे अवश्य भोजन कराया जाता है। प्रतिदिन सन्त, महात्मा, विद्वान्, ब्राह्मण, लँगड़े; लूले, दीन-दुःखी और दरिद्र इस अवसर पर श्रीनाथ जी के भण्डार में भोजन पाते हैं

सायंकाल ठीक ६ बजे श्रीनाथ जी का पूजन प्रारंभ हो जाता है जो रात्रि में ८ बजे तक चलता रहता है। आरती का क्रम प्रातःकाल जैसा ही होता है और उसी विधि से घण्टानाद तथा चंवर डुलाया जाता है। मंदिर में उपस्थित सभी साधु एवं दर्शनार्थी भक्त सामूहिक रूप से आरती गाते हैं—'श्री गोरक्षनाथ जी की संध्या आरती......।' आरती समाप्त होने के पश्चात् बेलपत्र के रूप में श्री भैरव और गौ माता के लिए ग्रास निकाला जाता है तत्पश्चात् श्रीनाथ जी मंदिर के द्वार से मध्याह्न की भाँति भोजन के लिए घोषणा की जाती है।

उपर्युक्त पूजन-प्रक्रिया के अतिरिक्त साधुओं को यौगिक-क्रियाओं का अभ्यास, स्वाध्याय एवं नियमित व्यायाम करना होता है। दिन में मन्दिर के कार्य के अतिरिक्त कृषि कार्य एवं निर्माण कार्यों की देख-रेख के लिए भी साधुओं को जाना पड़ता है। 'योग्यम् योग्येन योजयेत्' के सिद्धान्तानुसार श्रम-विभाजन की स्पष्ट व्यवस्था परिलक्षित होती है।

आय के स्रोत

मठ के वर्त्तमान महन्त का व्यक्तित्व बहुमुखी है। उनकी विलक्षण प्रतिभा

ही मठ की आय का स्रोत है। मठ की परंपरागत सम्पत्ति 'दिन-दूना रात चौगुना की गति से' महन्त की प्रबन्ध-पटुता से बढ़ रही है। अचल सम्पत्ति का जो विवरण दिया गया है, उस पर कृषि करके तथा दुकान और मकान के किराये से मठ की उल्लेखनीय आय होती है। मन्दिर पर नित्य की चढ़ावा के रूप में औसत आय विशेष उल्लेखनीय नहीं है किन्तु खिचड़ी पर चढ़ावे के रूप में सैकड़ों क्विटल खिचड़ी प्राप्त होती है जिसका वास्तविक विवरण नहीं प्राप्त हो सका। इसके अतिरिक्त श्री दिग्विजयनाथ ट्रस्ट के खाते में कुछ स्थायी धन बैंक में सुरक्षित है जिसके ब्याज से पुस्तकों, पत्रिकाओं का प्रकाशनादि किया जाता है।

विवाद एवं मुकदमें

विगत ५० वर्षों के भीतर इस मठ को अनेक विवादों एवं भूमि सम्बन्धी मुकंदमों में उलझना पड़ा, किन्तु प्रायः सभी में मठ के पक्ष में ही निर्णय हुआ। ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ को गान्धी-हत्या सम्बन्धी षड्यन्त्र में भी गिरफ्तार किया गया था। मुकदमा भी चला किन्तु दोष सिद्ध नहीं हो सका। सम्प्रति कोई विवाद नहीं है।

राजनीतिक सहभागिता

गोरखनाथ मठ के महन्त और महात्मा विगत पचास वर्षों से राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भाग लेते रहे हैं। ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय सहयोग देने के कारण अपने साथियों सहित अनेक बार जेल में बन्द किए गए। प्रारम्भ में उन्होंने महात्मा गांधी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से सहयोग किया, किन्तु बाद में राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा देश-विभाजन को स्वीकार कर लेने पर आप कांग्रेस से अलग हो गए और हिन्दू महासभा के नेता के रूप में देश के विभाजन का विरोध किए। आपके सक्रिय प्रतिरोध के कारण एक बार देश-विभाजन का, ब्रिटिश सरकार का निर्णय स्थगित हो गया था। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद आपने हिन्दू महासभा के अध्यक्ष के रूप में अपनी संगठन-क्षमता एवं नेतृत्व शक्ति का परिचय दिया। गोरखपुर संसदीय क्षेत्र के सांसद के रूप में विजयी होकर भारत की लोकसभा में आपने जनहित की अनेक समस्याओं के समाधान हेतु सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। गो-हत्या रोकने तथा हिन्दू समाज को संगठित करने के लिए भी आपने अपनी राजनीतिक क्षमता का खुलकर उपयोग किया।

वर्त्तमान महन्त श्री अवैद्यनाथ जी मानीराम विधान सभा क्षेत्र से विधायक के रूप में विजयी होकर कई बार उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य तथा एक बार गोरखपुर क्षेत्र से संसद सदस्य रह चुके हैं। लगातार पचास वर्ष तक सक्रिय राजनीति में भाग लेने के उपरान्त महन्त जी ने १९८० के विधान सभा चुनाव के

समय गिरते हुए राजनीतिक मानदण्ड से खिन्न होकर अप्रत्याशित रूप में सक्रिय राजनीति से अपने को पृथक् कर लिया है। किन्तु हिन्दू समाज तथा व्यापक मानव-समाज और गो-रक्षा तथा साधुहित में जब भी आवश्यकता होगी आप पुनः राजनीति में सक्रिय भाग लेंगे।

सामाजिक सेवा-कार्य

शैक्षणिक-कार्य—गोरखनाथ मठ के तत्वावधान में सम्प्रति निम्नलिखित संस्थाएँ संचालित हो रही हैं—

श्री गोरक्षनाथ संस्कृत विद्यापीठ—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से आचार्य तक सम्बद्ध तथा शासन द्वारा 'क' श्रेणी में मान्य है। प्रायः ३०० सौ छात्रों तथा २० शिक्षकों के लिए निःशुल्क भोजन की व्यवस्था मठ द्वारा की जाती है। छात्रों को परीक्षा शुल्क एवं पुस्तकीय सहायता भी प्रदान की जाती है।

श्री गोरक्षनाथ आयुर्वेद-महाविद्यालय—यह निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ से सम्बन्धित है। शास्त्री एवं आचार्य श्रेणी के छात्रों को अध्ययन की सुविधा प्राप्त है।

महाराणाप्रताप शिक्षा परिषद्—इस परिषद् द्वारा महाराणा प्रताप इंटर कालेज, श्री दिग्विजयनाथ डिग्री कालेज, महाराणा प्रताप शिशु शिक्षा विहार, रामदत्तपुर तथा सिविल लाइन, श्री दिग्विजयनाथ इण्टर कालेज, चौक महाराजगंज, महाराणा प्रताप जूनियर हाई स्कूल, जंगल घूसड़ आदि संस्थायें मठ की ओर से संचालित हैं। मठ द्वारा संचालित महाराणा प्रताप डिग्री कालेज और महिला डिग्री कालेज, गोरखपुर विश्वविद्यालय को समर्पित किया जा चुका है। महाराणा प्रताप पालीटेकनिक भी मठ द्वारा संचालित एक संस्था है, जिसका प्रबन्ध सम्प्रति राज्य सरकार को सौंप दिया गया है।

सेवा-कार्य—मठ की ओर से श्री दिग्विजयनाथ धर्मार्थ आयुर्वेद चिकित्सालय संचालित है, जहाँ रोगियों को निःशुल्क औषधि दी जाती है। असाध्य रोगियों को अन्तरंग विभाग में भरती किए जाने का प्राविधान है। इस चिकित्सालय में प्रकृतिक एवं यौगिक चिकित्सा विभाग भी है। योगासन-व्यायाम की शिक्षा के लिए प्रशिक्षित निदेशक उपलब्ध हैं।

सत्संग, प्रवचन एवं उद्बोधन—विभिन्न पर्वों पर विशेष रूप से और सामान्यतः नित्य प्रातः और सायंकाल साधु, महात्मा और विद्वानों के प्रवचन द्वारा संस्कृति और संस्कृत की रक्षा करने तथा मनुष्य के कल्याण हेतु उद्बोधन कराया जाता है। प्रकाशन विभाग की ओर से अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किए गए हैं और 'योग वाणी' पत्रिका का मासिक प्रकाशन किया जाता है।

तालिका संख्या–३

शैव मठों का सामान्य परिचय

क्र.सं.	मठ का नाम	सम्प्रदाय का नाम	सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक	मठ के संस्थापक का नाम	स्थापना वर्ष	वर्त्तमान महंत	वर्ष	प्रशासनिक पद	विशेष विवरण
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१–	महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा (इलाहाबाद)	दशनाम नागा संन्यासी	स्वामी शंकराचार्य	गोसाई राजेन्द्र गिरि	१७वीं शताब्दी	स्वामी भगवान गिरि, स्वामी ओंकारपुरी, स्वामी अनन्त नारायण पुरी	१९८१	महंत(सेक्रेटरी) कोठारी, थानापति, श्रीपंथ शंभू पंथ, रमता पंथ, कारबारी, भंडारी, पुजारी।	१८९९ से पंजीकृत न्यास परिषद। यह मठ महानिर्वाणी अखाड़े का मुख्यालय है यहां सेक्रेटरी की नियुक्ति की जाती है।
२–	ज्योतिर्मठ (इलाहाबाद)	दशनाम दण्डी संन्यासी	स्वामी शंकराचार्य	स्वमी त्रोटकाचार्य (आनन्द गिरि) की शिष्य परंपरा के शंकराचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती।	सन् १९४५	स्वामी विष्णु देवानन्द	१९८०	शंकराचार्य, कोठारी, पुजारी, ब्रह्मचारी।	ज्योतिष्पीठीबदरिश्रम का कार्यालय मठ है।
३–	जंगमवाड़ी मठ (वाराणसी)	वीरशैव लिंगायत	आचार्य विश्वाराध्य	मल्लिकार्जुन शिवाचार्य प्रथम	सन्५५०ई.	जगद्गुरु विश्वेश्वर शिवाचार्य	१९४८	महंत शिवाचार्य व्यवस्थापक, मुख्य पुजारी, सहायक पुजारी, भण्डारी।	वीर शैव सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्राचीन प्रधान पीठ है। न्यास है।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
४–	गोविन्द मठ (वाराणसी)	दशनाम संन्यासी	स्वामी शंकराचार्य	श्री गोविन्दानंद गिरि	१९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध।	स्वामी अतुलानंद	१९७८	महन्त, कोठारी, भण्डारी।	स्वामी कृष्णानन्द जी महानिर्वाणी अखाड़े के आचार्य मण्डलेश्वर हैं। न्यास है।
५–	विहारीपुरीमठ (वाराणसी)	दशनामी नागा सन्यासी	स्वामी शंकराचार्य	गोस्वामी ध्यानपुरी	१७वीं शताब्दी	महन्त अनन्त नारायणपुरी	१९६०	महंत, कारबारी, पुजारी।	वर्तमान महंत महानिर्वाणी अखाड़ा के सेक्रेटरी तथा मांडा मठ के थानापति भी हैं।
६–	बाबा कीनाराम मठ (रामशाला) जौनपुर	अघोरपंथ	श्री कालूराम के शिष्य बाबा कीनाराम	बाबा हुब्बाराम	१८५०	बाबा शंभूराम	१९६८	महंत, अवधूत, मुड़िया	यह मठ क्री कुण्ड वाराणसी से सम्बद्ध है।
७–	श्रीनाथ बाबा मठ (बलिया)	दशनामी संन्यासी	स्वामी शंकराचार्य	श्री सोमारि गिरि	१८वीं शताब्दी	लक्ष्मण गिरि	१९५४	महन्त, अधिकारी; कोठारी, पुजारी	
८–	गीता स्वामीमठ (मीरजापुर)	;;	स्वामी शंकराचार्य	स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती	सन् १९४६	स्वामी सच्चिदानंद (गीतास्वामी)	१९४७	महन्त, पुजारी; सेवक।	पंजीकृत न्यास जिसमें स्वामी जी मैनेजिंग ट्रस्टी हैं।
९–	हथियाराम मठ	;;	स्वामी शंकराचार्य	श्री परशुराम यति	१६वीं शताब्दी	श्री बालकृष्ण यति	१९५४	महन्त, सर्वराकार प्रबन्धक, पुजारी	औपनिषदिक 'यति' उपाधिकारी सिद्ध-पीठ। न्यास के अन्तर्गत।
१०–	देवाश्रम मठ, लार (देवरिया)	;;	स्वामी शंकराचार्य	स्वामी कुशला गिरि (मौनी बाबा)	१७३०	स्वामी चंद्रशेखर गिरि	१९५२	महन्त, भंडारी, पुजारी।	वर्तमान महन्त महानिर्वाणी अखाड़े के सेक्रेटरी भी हैं।
११–	श्री गोरखनाथ मठ (गोरखपुर)	नाथपंथ	श्री गोरखनाथ	श्री गोरखनाथ	९वीं शताब्दी	महंत अवैद्यनाथ	१९७९	महंत, अधिकारी, कोठरी;	नाथपंथ का मुख्यालय न्यास के अंतर्गत पुजारी

5

वैष्णव मठ : परिचय

दार्शनिक पृष्ठभूमि

सम्पूर्ण सृष्टि के रक्षक विष्णु के उपासक ही 'वैष्णव' नाम से जाने जाते हैं। इनकी मान्यता है कि विष्णु सतोगुण संयुक्त हैं, सर्वव्यापी हैं। शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी विष्णु की वैदिककाल से आधुनिककाल तक विविध रूपों में पूजा, अर्चना होती आ रही है। ऋग्वेद और श्रीमद्भागवत वह प्राचीन साहित्य है जिसमें विष्णु की स्तुति विविध प्रकार से की गयी है। दशवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण भारत के तमिल निवासी 'आडवार' भक्तों का विष्णु के प्रति भक्तिपरक उद्गार 'तेवारम्' के नाम से संग्रहीत हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि वह विष्णु की आराधना में भाव-विभोर हो जाते थे।[1]

आडवारों के अनन्तर दक्षिण भारत के वैष्णव धर्म का प्रचार करने वाले भक्त 'आचार्यों' के नाम से प्रसिद्ध हुए। दशवीं शताब्दी में उत्तरार्ध में रघुनाथाचार्य तथा यमुनाचार्य का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने आगे चलकर प्रचलित होने वाले 'श्री सम्प्रदाय' की दार्शनिक आधारशिला प्रस्तुत की। बारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में रामानुजाचार्य ने 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त प्रतिपादित कर पूर्ववर्ती आचार्य शंकर के 'अद्वैत' का खण्डन किया कि जीवात्मा और जगत वस्तुतः परमात्मा के गुण विशेष हैं जो उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं। यह विशिष्ट ब्रह्म अद्वितीय है और उसकी प्राप्ति केवल ज्ञान के आधार पर न होकर, वेदविहित कर्मानुष्ठान तथा विविध भक्ति-साधनाओं के अभ्यास द्वारा ही संभव है। रामानुजाचार्य के अनुयायी वैष्णव 'श्री' सम्प्रदाय के रूप में संगठित हुए।

रामानुजाचार्य के अनन्तर निम्बार्काचार्य (सम्वत् ११७१-१२१९ वि०) ने अपने द्वैताद्वैत सिद्धान्त के आधार पर राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया, जिनके अनुयायियों का संगठन निम्बार्की या 'नामावत सम्प्रदाय' के रूप में प्रचलित है। माध्वाचार्य ने तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'द्वैतवाद' का सिद्धान्त प्रतिपादित कर विष्णु की उपासना को तार्किक आधार प्रदान किया। सोलवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद के सिद्धान्त पर आधारित पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन कर भक्ति

---

१. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, (पूर्वोक्त), पृ० ७८।

की प्रबल धारा बहा दी। सत्रहवीं शताब्दी में चैतन्य देव ने 'अचिन्त्य भेदाभेद' सिद्धान्त के आधार पर अपनी रागानुगा भक्ति का प्रचार किया।

उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित सम्प्रदायों में अत्यन्त साधारण भेद पाया जाता है। 'श्री सम्प्रदाय' के अनुयायी भक्त का भगवान के समक्ष किंकरवत् बने रहना परम मुक्ति का ध्येय मानते हैं तो माध्व सम्प्रदाय वाले भक्त पूर्णतः भगवत्भावापन्न होकर तथा सभी दुःखों को भूलकर उसके साथ आनन्द का उपभोग करना ही मोक्ष का उद्देश्य मानते हैं। नामावत सम्प्रदाय वाले भक्त पूर्णतः भगवद्-भावापन्न होकर तथा सभी दुःखों को भूलकर उसके साथ आनन्द का उपभोग करना ही मोक्ष का उद्देश्य मानते हैं। नामावत सम्प्रदाय वाले भक्त भगवद्भावापन्न होकर दुःखों से रहित हो जाना मुक्ति का लक्ष्य मानते हैं, तो वल्लभ-सम्प्रदाय वाले मोक्ष का स्वरूप भगवान् के अनुग्रह द्वारा एक प्रकार के अभेद-बोधन में मानते हैं। चैतन्य देव के गौड़ीय सम्प्रदाय वाले भक्ति को वैधी की जगह रागानुगा कहकर आर्त्तभाव द्वारा भगवान् के धाम में प्रवेश पा लेना सर्वोत्तम समझते हैं।

उक्त सम्प्रदायों के उपास्य देव भी अलग-अलग हैं। श्री सम्प्रदाय वाले लक्ष्मीनारायण को इष्टदेव मानते हैं तो सनक सम्प्रदाय के सर्वस्व राधाकृष्ण हैं। माध्व के अनुयायी हरि या भगवान् की प्राप्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते हैं तो वल्लभ सम्प्रदाय के पुष्टिमार्गी श्रीनाथ का विधिवत् पूजन करते हैं, उन्हें नाच-गाकर रिझाने का यत्न करते हैं तो गौड़ीय सम्प्रदाय वाले हरिनाम-स्मरण तथा नामसंकीर्त्तन से 'महाभाव' की प्राप्ति करना चाहते हैं।

वर्त्तमान उत्तर भारत के अधिकांश वैष्णव मठ रामावत सम्प्रदाय अथवा रामानन्द की शिष्य-परम्परा में आने वाले सन्तों से सम्बन्धित हैं। चौदहीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा के विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य स्वामी राघवानन्द के शिष्य स्वामी रामानन्द काशी में साधनारत थे। अपने गुरु के साथ खान-पान के सम्बन्ध में मतभेद हो जाने के कारण इन्होंने उनसे अलग रहकर स्वतंत्र मत का प्रतिपादन किया जो रामानन्दी या 'रामावत सम्प्रदाय' के रूप में प्रचलित है। आपने जातिगत भेद-भाव को तिलांजलि देकर हरि-भजन के आधार पर सर्वसाधारण को भी कुलीनवत् अपनाने की प्रथा चलाकर मानव मात्र की वास्तविक एकता पर बल दिया। सर्वप्रथम वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों में आपने ही लोक कल्याण की दृष्टि से कार्य करने वाले संयमशील साधुओं की एक टोली संगठित करके उसे 'वैरागी' या 'अवधूत' नाम देकर जमात के रूप में सर्वत्र भ्रमण करते रहने के लिए प्रेरित किया। ये वैरागी साधु विष्णु और उनके विभिन्न अवतारों—विशेषतः राम और कृष्ण की उपासना करते हैं।

स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यों में पांच अस्पृश्य या निम्न जाति के थे, जो आगे चलकर महान् सन्त हुए—सेन नाई, कबीर साहब, पीपाजी, रमादास (रविदास) तथा धन्ना से सम्बन्धित अनेक मठ पूरे देश में वैष्णव धर्म का अपने ढंग से प्रचार कर रहे हैं। रामावत सम्प्रदाय के वैरागी इस समय चार वर्गों में विभक्त हैं—रक्त श्री, शुक्ल श्री या लश्करी, वेंदी टीका तथा चतुर्भुजी। स्पष्ट है कि यह मस्तक पर अलग-अलग ढंग से टीका लगाते हैं। लाल लम्बा टीका, श्वेत लम्बा टीका, लाल बिन्दी (गोल) तथा चतुर्भजी दो खड़ी रेखाएं खींचकर टीका लगाते हैं। लश्करी अस्त्रधारी लड़ाकू वैरागी होते हैं।

वैष्णव मठों को 'स्थान' और 'आश्रम' भी कहते हैं। इन आश्रमों पर कई पदाधिकारी साधु होते हैं, इन्हें महन्त, अधिकारी, कोतवाल, मुख्तियार, कोठारी, पुजारी और फरखतिया कहा जाता है। फरखतिया पूजा के पंच-पात्र साफ करता है तथा पुजारी के कार्य में सहायक होता है। वैष्णव साधुओं में सम्प्रति रामानन्दी सम्प्रदाय के साधुओं तथा मठों की संख्या ही अधिक है।

वैष्णव नागा

देश, काल की परिस्थिति के अनुसार समाज अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए नवीन संगठनों को विकसित करता है। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर उसके अन्तिम दशक तक दशनाम शैव संन्यासियों की नागा जमात पूर्णतः संगठित हो चुकी थी। उसके अनेक नागा अत्यन्त लड़ाकू प्रकृति के संन्यासी थे जो एक ओर विधर्मियों से हिन्दू मंदिरों, मठों को रक्षा कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर साधारण सी बात पर मतभेद हो जाने पर अपने ही साधु-समाज के अन्य मतावलम्बियों को मौत के घाट उतार देने में देर नहीं करते थे। हरद्वार और नासिक कुम्भ में हुए ऐसे संघर्षों का वर्णन इतिहासकारों ने किया है। युग की मांग को समझकर वैष्णव संन्यासियों ने भी १६५० ई० के लगभग नागा-संगठन का प्रारम्भ किया।

बालानन्द जी नामक वैष्णव ने तीन 'अनी' और सात वैष्णव अखाड़ों की स्थापना की। दिगम्बर, निर्मोही और निर्वाणी इस तीन अनी में दिगम्बर अनी सर्वप्रमुख हैं। कुम्भ के अवसर पर तीनों अनी से तीन 'श्री महन्त' चुने जाते हैं जो समस्त वैष्णव समाज में सर्वाधिक समादृत होते हैं। सात अखाड़े—दिगम्बर, निर्वाणी, निर्मोही, निरालम्बी, संतोषी, महानिर्वाणी और खाकी हैं। वैष्णव नागा संन्यासियों के अपने स्वतंत्र मठ भी हैं जिन्हें स्थानी अखाड़ा कहते हैं। भ्रमणशील नागाओं को रमता वैष्णव अखाड़ा कहते हैं।

समस्त वैष्णव नागा साधु ५२ 'द्वारा' में विभक्त हैं जिनमें ३६ 'द्वारा' रामानंद सम्प्रदाय से सम्बंधित हैं, १० निम्बार्क के नामावत सम्प्रदाय से, तीन माध्व-

गौड़ीय सम्प्रदाय से और अंतिम तीन 'द्वारा' बल्लभाचार्य से सम्बंधित हैं।[१] वैष्णव नागा अपने 'स्थान' के महन्त के आदेश को मानते हैं—इनका अपना पञ्चायती संगठन होता है।

वैष्णव 'नागा' जमात में प्रवेश के लिए पहले किसी वरिष्ठ नागा के साथ रहना पड़ता है जिसे 'सादिक' कहते हैं। वह निम्नलिखित सात स्तरों से होकर पूर्ण नागा बन जाता है।

यात्री—इस स्थिति में उसे वरिष्ठ नागा-'सादिक'-के लिए खरिका एकत्र करना पड़ता है और तीर्थस्थलों में घूमना पड़ता है।

छोरा—पानी लाने तथा बर्त्तन धोने जैसे कार्य सादिक के निर्देशानुसार करने पडते हैं।

बन्दगीदार—भण्डारा की देखरेख, पूजा के लिए प्रसाद और उपहार ले आना और अखाड़े का प्रतीक-झण्डा ले चलना तथा हथियार चलाने की शिक्षा ग्रहण करना इनके मुख्य कार्य हैं।

हुड़दंग—मंदिर में इष्टदेव की पूजा करना तथा भण्डारा के लिए सामान का प्रबंध करना इनका मुख्य कार्य है।

मुदाठिया—इन्हें हिसाब लिखना तथा रोकड़-वही का कार्य करना होता है।

नागा—अखाड़े की सम्पत्ति की रक्षा करना, पूजा-प्रबंध करना तथा वैष्णवधर्म के प्रचार का प्रबंध करना मुख्य कार्य है।

अतीथ—सम्प्रदाय के समक्ष उपस्थित समस्याओं का समाधान करना तथा साधना की सर्वोच्च स्थिति में पहुँच जाना ही मुख्य कार्य है।

'नागा' और 'अतीथ' से ही 'सदर नागा' और 'पञ्च' चुने जाते हैं। 'सदर-नाग' को 'कण्ठी' और 'कटोरी' सहित पञ्च की ओर से कुछ अन्य उपहार भी दिये जाते हैं। 'सदरनागा' की सुरक्षा और सहायता के लिए एक 'नागा' कोतवाल के रूप में नियुक्त किया जाता है। 'सदरनागा' ही अपने चुनाव के बाद 'जमात' संगठित करता है जिसे लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर वैष्णव धर्म के प्रचार तथा धन-संग्रह के लिए भ्रमण करता है। साधना की अत्यन्त उच्च स्थिति से पहुँचे हुए अतीथ को महा अतीथ कहते हैं। इसे अखाड़े में सबसे अधिक सम्मान प्राप्त होता है। 'सदरनागा' का चुनाव १२ वर्ष के लिए होता है। इसके नियंत्रण में ५२ महन्त

---

१. बी० डी० त्रिपाठी, साधूज आफ इण्डिया, (पूर्वोक्त), पृ० ८९।

और ४२ नागा रहते हैं। नागाओं का एक अन्य वर्गीकरण 'सेठी' के रूप में है, जो सम्प्रति चार हैं—सागरीय, उज्जैनी, वासौतीय तथा हरिद्वारीय सेठी। अखाड़े के कोषाध्यक्ष या हिसाब रखने वाले को 'गोलकी' कहते हैं।

उक्त प्रशासनिक संरचना के अतिरिक्त इस समय वैष्णव अखाड़ों में चार खालसा भी प्रचलित है—१—चार सम्प्रदाय खालसा, २—ढाकोर खालसा, ३—बाड़ा भाई दण्डियान खालसा और ४—तेरा भाई त्यागी खालसा। इस प्रकार यह अखाड़े 'अनी', 'द्वारा' 'खालसा' के रूप में प्रशासनिक ढंग पर विभक्त हैं।

सुधारवादी वैष्णव सन्तों में कबीरदास, दादूदयाल, राधा स्वामी, चरणदास, दरियादास, 'बावरी', गुलाबदास, गुलाब साहब, गोविन्द साहब, पलटू साहब आदि से सम्बन्धित मठ उत्तर भारत में अनेक हैं।

वैष्णव संन्यासी श्वेत कौपीन पथा अधोवस्त्र धारण करते हैं। महन्त चादर ओढ़ते हैं अथवा श्वेत वस्त्र पहनते हैं। 'नागा' वैष्णव अर्धनग्न रहते हैं। जननेन्द्रिय मूज से या लंगोटी से ढंके रहते हैं। वैष्णव साधु की जटा उलझी हुई लटों से संयुक्त होती है। वैष्णव साधुओं में टीका-तिलक में अनेक भेद प्रचलित हैं। (सारिणी सं०) विविध सम्प्रदाय से सम्बन्धित वैष्णव साधु अपने इष्टदेव से सम्बन्धित प्रतीक भी अंकित कराते हैं। प्रवेश के समय वैष्णव साधु शिखा छोड़कर अपना सिर मुड़ाते हैं फिर पवित्र नदी या सरोवर में स्नान करते हैं। गुरु द्वारा शिष्य का पंच संस्कार किया जाता है—उसे तिलक, कण्ठी, कौपीन, नाम और मंत्र देकर पूर्ण वैष्णव बनाया जाता है और नित्यप्रति हवन, पूजा, आरती, सन्त-सेवा और स्वाध्याय करने का निर्देश दिया जाता है। गुरु द्वारा किए जानेवाले पंच संस्कार निम्नलिखित हैं—

(१) शंख चक्रांकन—शिष्य की दाहिनी भुजा पर 'चक्र' और बाँयी भुजा पर 'शंख' लोहे या ताँबे को गरम करके अंकित किया जाता है इसे तप संस्कार भी कहते हैं। वर्तमान समय में सुविधा के लिए चन्दन के लेप से ही शंख, चक्रांकन कर दिया जाता हैं।

(२) ऊर्ध्वपुण्ड्र संस्कार—गुरु द्वारा शिष्य के मस्तक पर आकार का सफेद लाल या पीला तिलक लगाया जाता है।

(३) मंत्र संस्कार—गुरु द्वारा शिष्य को 'राम तारकमंत्र', विष्णु महामंत्र' या 'नारायण अष्टाक्षर मंत्र' दिया जाता है।

(४) यज्ञ संस्कार—इसमें गुरु यह उपदेश देते हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।

(५) नाम संस्कार—दीक्षोपरान्त गुरु अपने शिष्य का नया नामकरण करता है। पुरुषों को सामान्यतया 'दास' और स्त्री शिष्या को 'दासी' नाम के अन्त में जोड़ते हैं।

श्री रूपगौड़ीय मठ, इलाहाबाद

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

१८ फरवरी, १४८६ ई० को पश्चिम बंगाल के नदिया जिले में श्री मायापुर नामक स्थान पर श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु का जन्म हुआ था। भक्तों की दृष्टि में वह कोई साधारण पुरुष नहीं अपितु स्वयं भगवान् कृष्ण ने अपने भक्तों पर अहेतुकी कृपा कर उन्हें दिव्य ज्ञान से प्रकाशित करने हेतु अवतार लिया था। चैतन्य महाप्रभु के उपदेशानुसार जो भक्त अपना सारा समय उस परम प्रभु 'कृष्ण' के चिन्तन-मनन और उनकी सेवा में व्यतीत करते थे उन्हीं के संगठन के रूप में 'विश्व वैष्णव राज-सभा' का गठन किया गया।

१६वीं शताब्दी में श्री जीवगोस्वामी द्वारा उन्हीं चैतन्य महाप्रभु (कृष्ण) के भक्तों के संगठन को 'गौड़ीय मठ' स्वरूप प्रदान किया गया जिसके प्रथम 'पत्रराज' या अध्यक्ष (महन्त) श्री रूप गोस्वामी नियुक्त किए गये। इनके ही नाम को जोड़कर आगे चलकर 'वैष्णव-मठ' के रूप में 'रूप गौड़ीय-मठ' की परम्परा प्रचलित हुई।

महन्त-परम्परा

श्री रूपगोस्वामी के पश्चात् श्री रूपगड़ीय मठ के अध्यक्ष पद पर श्रीला ठाकुर भक्ति विनोद प्रतिष्ठित हुए, जिन्होंने अचिन्त्य भेदाभेद सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार किया। उनके उत्तराधिकारी श्रीमद् भक्ति सिद्धान्त सरस्वती हुए जिनका जन्म १८७४ ई० में पुरुषोत्तम क्षेत्र पुरी में हुआ था। २०वीं शताब्दी के प्रतिष्ठित सन्त के रूप में विश्व के प्रायः सभी भागों में आपकी ख्याति फैली हुई है। आपने ही भारत के प्रमुख शहरों तथा 'लन्दन' और 'न्यूयार्क' में मठ की शाखाएँ स्थापित की हैं। रूपगौड़ीय मठ का मुख्य कार्यालय कालीप्रसाद चक्रवर्त्ती स्ट्रीट, बाग बाजार, कलकत्ता में है। इसी की एक शाखा इलाहाबाद शहर के तुलाराम बाग में है। शाखा मठों पर जो प्रभारी पत्रराज रहते हैं, उन्हें 'मठरक्षक' कहते हैं।

सम्प्रति रूपगौड़ीय मठ, कलकत्ता के अध्यक्ष 'भक्ति केवल औहुलोकी महाराज' हैं। इलाहाबाद शाखा के मठरक्षक श्री 'सुबलसुखदास ब्रह्मचारी' हैं।

सम्प्रदाय-परिचय

वैष्णव सिद्धान्त के पोषक चैतन्य महाप्रभु के उपदेशों का प्रचार-प्रसार करते

हुए श्रीकृष्ण नाम संकीर्त्तन का आयोजन करना रूपगौड़ीय मठ की प्रमुख विशेषता है। इसके अनुयायी सिर पर गो-खुर के बराबर भाग में चोटी रखते हैं, सफेद धोती पहनते हैं। मस्तक पर तीन खड़ी रेखाएँ खींचकर सफेद चन्दन लगाते हैं। सभी मनुष्यों में परमप्रभु कृष्ण का दर्शन करते हेतु सेवा और प्रेम-भावना का प्रचार इनका लक्ष्य है। 'हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे' का सामूहिक संकीर्त्तन करते हुए इनकी टोलियाँ देखी जा सकती हैं। इनकी मान्यता है कि कलियुग में 'नाम' संकीर्तन से ही मनुष्य का उद्धार—'मोक्ष' सम्भव है।[1]

स्थिति एवं साज-सज्जा

इलाहाबाद जनपदान्तर्गत तीर्थक्षेत्र प्रयाग की सीमा में तुलाबाग स्थित श्री रूपगौड़ीय मठ लगभग एक एकड़ क्षेत्रफल में निर्मित है। मठ का प्रमुख आकर्षण आधुनिक शैली में निर्मित श्री राधाकृण तथा चैतन्य महाप्रभु का मन्दिर है। मन्दिर के सामने कीर्त्तन-कक्ष है। मोजैक से निर्मित सुन्दर फर्श पर दरी बिछी रहती है। जिस पर भक्त संकीर्त्तन करते हैं। विद्युत-व्यवस्था है—प्रकाश, पंखे की हवा तथा स्वच्छता पर ध्यान दिया गया है। मन्दिर के बरामदे से ही बांयी तरफ एक छोटा कक्ष है—जिसमें मठ-रक्षक के बैठने की सुन्दर व्यवस्था है। दाहिनी तरफ पुस्तकालय और वाचनालय है, जहाँ साम्प्रदायिक धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थ भी हैं। मठ के पीछे के भाग में भोजनालय एवं निवास कक्ष है। आधुनिक संसाधनों से युक्त अतिथि निवास भी है जिसमें एक साथ पचास व्यक्तियों के रहने की समुचित व्यवस्था है। एक छोटी सी गोशाला भी है जिसमें दो गायें हैं।

मठ के सामने सुन्दर पुष्पवाटिका है। माली निरन्तर उसकी देख-रेख करता है। चहारदीवारी के मुख्य फाटक से मन्दिर तक आने के लिए लगभग ५० गज लम्बी ३ गज चौड़ी पिच सड़क है। मन्दिर के ऊपर सुन्दर चमकता हुआ कलश है। यहाँ स्थायी रूप से आठ महात्मा रहते हैं।

अचल एवं चल सम्पत्ति

रूपगौड़ीय-मठ इलाहाबाद शाखा के पास कोई अचल सम्पत्ति नहीं है। भक्तों

---

१. आउट लाइन्स आफ गौड़ीय मिशन, (कलकत्ता : गौड़ी मठ प्रकाशन ९९६०), पृ० ७।

से प्राप्त दान तथा मधुकरी पर ही यहाँ के महात्मा निर्भर हैं। प्रधान कार्यालय कलकत्ता के अधीन सम्पत्ति है। बैंक में स्थायी निधि भी है।

प्रशासन-तन्त्र

गौड़ीय मठ मार्च १९४७ में सोसायटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्टXXI, १८६० के अन्तर्गत एक रजिस्टर्ड संस्था है जिसकी परिनियमावली में निम्नलिखित सदस्यों की प्रशासनिक समिति का वर्णन है—

१—अध्यक्ष, (पदेन) —श्रीमद् कक्तिकेवल ओडुलोमी

२—सचिव (सेक्रेटरी) —उपदेशक श्री रूप विलास महाराज ब्रह्मचारी

३—सहायक सचिव —(१) श्री विलासविग्रह दासाधिकारी
(२) श्री जगज्जीवन दासाधिकारी

४—सदस्य —१—उपदेशक श्री अप्रमेयदास भक्तिशास्त्री
२—त्रिदण्डी स्वामी श्रीपादभक्तिसाधन सज्जन महाराज
३—श्री व्रजकिशोर दासाधिकारी
४— ;; सुपद रंजन नाग
५— ,, सचिनाथ राय चौधरी
६— ,, नावानावा रसानन्द ब्रह्मचारी
७— ,; नन्दलाल विद्यासागर
८— ,, निखिल प्रभु दासाधिकारी

उक्त सदस्यों की सर्वोच्च प्रशासनिक समिति ही समस्त शाखा मठों सहित प्रधान कार्यालय की व्यवस्था करती है। सम्प्रति इलाहाबाद स्थित रूपगौड़ीय मठ में प्रधान मठाध्यक्ष तथा मठ-रक्षक पूरी व्यवस्था उक्त समिति की स्वीकृति से करते हैं। उनके ही निर्देशों का पालन अन्य महात्माओं तथा कर्मचारियों को करना होता है।

आगन्तुक विवरण

मठ पर महीने में औसत दस साधु और २५ गृहस्थ शिष्य बाहर से आते हैं। स्थायी रूप से आठ वैष्णव साधु और कुछ वैष्णव विद्यार्थी यहाँ रहते हैं। श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी को स्थानीय नागरिक हजारों की संख्या में मठ पर आते हैं तथा भजन-कीर्तन में सम्मिलित होते हैं।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

इस सम्प्रदाय के साधु अपने आराध्य विष्णु के अवतार राम, कृष्ण और कलियुग में चैतन्य महाप्रभु की पूजा करते हैं। ये श्री मूर्त्ति, शास्त्र, गुरुदेव और नाम-संकीर्त्तन-चतुर्विध-उपासना में विश्वास रखते हैं। चैतन्य महाप्रभु-श्रीमूर्त्ति (कृष्ण) हैं, शास्त्र—श्रीमद्‌भागवत है। गुरुदेव—भक्ति केवल औडुलोमी महाराज और नाम हरे राम-हरे कृष्ण है।

सांसारिक जीवन से पूर्णतः विरक्त तथा ब्रह्मचारी साधु ही मठ के केन्द्रीय व्यक्ति होते हैं। यह मठ एक प्रकार से गोड़ीय सम्प्रदाय के साधुओं की प्रशिक्षणशाला है, जहाँ वैष्णव-जीवन-प्रद्धति का प्रशिक्षण दिया जाता है। मठ के सदस्यों का जीवन परमेश्वर कृष्ण के परिवार के सदस्य जैसा होता है, जिसकी पूजा उनके पवित्र नाम और श्रीमूर्त्ति के रूप में की जाती है। नाम-संकीर्त्तन पवित्र मन्त्र के उच्चारण जैसा किया जाता है। मठ के साधु अपने पड़ोस के मुहल्लों में नाम संकीर्त्तन करते हुए घूमते हैं तथा श्रीमूर्त्ति की उपासना हेतु उपदेश करते हैं। मठ पर कोई स्त्री नहीं रह सकती। साधुओं को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना होता है। गृहस्थ-शिष्य भी मठ पर रह सकते हैं किन्तु उन्हें मठ के सभी नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करना होता है। मठ पर वही सात्विक भोजन ही बनता है जिसका विष्णु को भोग लगाया जा सके। नशा—भांग आदि का सेवन साधुओं के लिए वर्जित है।

प्रातःकाल से सायं सोने के पूर्व तक पूजन, भजन, नाम-संकीर्त्तन एवं जप के लिए समय निश्चित है।

आय के स्रोत—प्रायः २५,०००) पच्चीस हजार रुपये वार्षिक भक्तों से दान के रूप में मिलता है। शेष व्यय मुख्यालय से प्राप्त होता है। अन्य कोई स्पष्ट एवं स्थायी आय नहीं है।

विवाद एवं मुकदमें—कोई नहीं।

राजनीतिक सहभागिता—राजनीति में कोई रुचि नहीं है।

सामाजिक सेवा-कार्य

गोड़ीय मठ के मुख्यालय (कलकत्ता) पर आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा देने के लिए एक 'पराविद्यापीठ' संचालित है। वहाँ एक दातव्य औषधालय भी संचालिय है। धार्मिक उत्सवों पर स्वच्छता का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जाता है।

रूपगोड़ीय मठ इलाहाबाद सामाजिक सेवा के क्षेत्र में प्रत्यक्षतः अपने सम्प्रदाय के प्रति लोगों की आस्था एवं श्रद्धा को बनाए रखने के लिए बराबर

प्रयत्नशील है। मठ पर धार्मिक साहित्य और पत्र-पत्रिकाएँ उपलब्ध कराकर स्थानीय समाज की सेवा की जा रही है। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी महोत्सव पर प्रतिवर्ष दो हजार व्यक्तियों को प्रसाद (भोजन) दिया जाता है। इसी प्रकार होली के दिन भी 'भण्डारा' आयोजित होता है। श्री चैतन्य महाप्रभु का जन्मोत्सव मनाया जाता है। उस दिन शिष्य लोग दान देते हैं।

प्रतिदिन सायंकाल आरती के उपरान्त भागवत पाठ होता है, श्री चैतन्य चरितामृत का प्रवचन होता है। शठ-सन्दर्भ-गौड़ीय वैष्णव वेदान्त का प्रचार किया जाता है। भगवान् की मूर्त्ति के समक्ष नृत्य, कीर्त्तन एवं भजन का अवसर देकर भक्तों का मानसिक तनाव दूर करते हैं। एकादशी और नृसिंह चतुर्दशी को निर्जल व्रत रहते हैं। श्रीकृष्ण जयन्ती, रामनवमी, चैतन्य महाप्रभु जयन्ती, राधा·जयन्ती तथा वामन द्वादशी धूम-धाम से समारोह पूर्वक मनाते हैं।

श्री वैष्णवाश्रम, रामानुज कोट, (इलाहाबाद)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

तीर्थराज प्रयाग प्राचीनकाल से ही सन्त-महात्माओं का साधना-स्थल रहा है। वर्ष में एक माह तक माघमेला में महात्माओं के 'कल्पवास' की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसी परम्परा के अनुपालनार्थ गोवर्धन पीठाधीश्वर श्री स्वामी रंगाचार्य के शिष्य स्वामी राम प्रपन्नाचार्य, बड़ा मन्दिर, देवराज नगर, जिला सतना (मध्य प्रदेश) प्रतिवर्ष माघ-मकर-मास में संगम क्षेत्र-प्रयाग में अस्थायी वैष्णवाश्रम (बाड़ा) बनाकर एक मास तक वैष्णव अतिथि अभ्यागतों की सेवा करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक से बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक यह कार्यक्रम प्रतिवर्ष चलता रहा है। श्री स्वामी राम प्रपन्नाचार्य के सुयोग्य शिष्य स्वामी गोविन्दाचार्य ने अपने पूज्य गुरुदेव की पुण्य स्मृति में दारागंज स्टेशन के निकट जी० टी० रोड पर स्वतन्त्र भूमि प्राप्त करके १९१६ में श्री वैष्णवाश्रम (रामानुज कोट) का निर्माण कराया है, साथ ही वे अपने गुरु महाराज के नाम पर १९३८ ई० से श्री रामदेशिक संस्कृत महाविद्यालय का भी संचालन कर रहे हैं।

महन्त-परम्परा

श्री रंग मन्दिर वृन्दावन के संस्थापक स्वामी रंगाचार्य के शिष्य श्री राम प्रपन्नाचार्य, महन्त बड़ा मन्दिर, देवराज नगर, सतना (म० प्र०) थे। श्री राम प्रपन्नाचार्य के शिष्य स्वामी गोविन्दाचार्य, बड़ा मन्दिर, देवराज नगर के महन्त हुए।

उन्होंने ही वैष्णवाश्रम, दारागंज की स्थापना की है। स्वामी रंगाचार्य के पश्चात् श्री रंग मन्दिर वृन्दावन के महन्त परमहंस माधवाचार्य बने, जो स्वामी गोविन्दाचार्य के गुरुभाई थे। परमहंस माधवाचार्य ने १९२५ ई० में परमपद प्राप्त कर लिया। उनके पश्चात् स्वामी गोविन्दाचार्य ही श्री रंग मन्दिर वृन्दावन के भी 'महन्त' चुने गए। इस प्रकार स्वामी गोविन्दाचार्य, वैष्णवाश्रम दारागंज के संस्थापक तथा बड़ा मन्दिर और श्रीरंग मन्दिर के भी महन्त थे। स्वामी गोविन्दाचार्य ने अपने जीवनकाल में ही अपने सुयोग्य सदाचारी शिष्य परम वैष्णव सीतारामाचार्य, शास्त्री, व्याकरण, वेदान्ताचार्य को बड़ा मन्दिर, देवराज नगर, सतना के अधिकारी पद पर नियुक्त कर दिया और १८–८–६६ को अपने इच्छा-पत्र 'वसीयतनामा' में लिख दिया कि मेरे मरने के बाद मेरे शिष्य श्री सीतारामाचार्य ही मेरी अन्त्येष्टि संस्कार करेंगे और मुझसे सम्बन्धित समस्त स्थानों—आश्रमों के महन्त होंगे। तदनुसार श्री सीतारामाचार्य ही सम्प्रति श्री वैष्णवाश्रम, दारागंज तथा यहाँ से सम्बन्धित समस्त स्थानों के अधिपति महन्त हैं।

सम्प्रदाय-परिचय

श्री वैष्णवाश्रम, वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत श्री रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में स्थापित आश्रम है। आश्रम में रहनेवाले समस्त साधु, गृहस्थ, अध्यापक, छात्र आदि का भी पंच संस्कार सम्पन्न 'श्री' वैष्णव होना आवश्यक है। समस्त आश्रमियों के मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र त्रिपुण्ड (किनारे की ओर दोनों सफेद सीधी रेखाओं के बीच में एक लाल 'श्री') सुशोभित है। सभी श्वेत वस्त्र पहनते और गले में तुलसी की माला धारण करते हैं।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

आश्रम दारागंज स्टेशन के निकट जी० टी० रोड पर रेलवे लाइन के दक्षिण में अवस्थित है। संगम क्षेत्र के निकट पवित्र स्थान है। आश्रम के दक्षिण तरफ किला का मैदान है। इससे वातावरण खुला हुआ, नगर के कोलाहल एवं व्यस्ततापूर्ण जीवन से दूर है। आश्रम से साधु-महात्मा और आचार्य (महन्त) के आवास के अतिरिक्त कोठार, रसोईंघर तथा चार बड़े कमरे और श्री वेंकटेश भगवान् का भव्य मन्दिर है। आश्रम में अतिथियों के निवासादि की सुन्दर व्यवस्था, श्री रामदेशिक संस्कृत महाविद्यालय के लिए ६ अध्यापन-कक्ष, १ आचार्य-कक्ष तथा ६० छात्रों के रहने योग्य छात्रावास, एक गोशाला, एक अतिथिशाला और लगभग २० डिशमिल में पुष्पवाटिका भी है। आश्रम एवं आश्रमस्थ विद्यालय में विद्युत-प्रकाश, पंखे तथा फोन के अतिरिक्त बैठने की समुचित व्यवस्था है। आश्रम में ही श्री

वेंकटेश आयुर्वेदिक औषधालय भी है। मन्दिर और विद्यालय के बीच की भूमि पर एक यज्ञशाला एवं सत्संग-भवन है।

अचल एवं चल सम्पत्ति

श्री वैष्णवाश्रम के ब्रह्मलीन महन्त स्वामी गोविन्दाचार्य ने अपनी चल, अचल सम्पूर्ण सम्पत्ति का विवरण 'श्रीमहन्त जी महाराज देवरा-प्रयागन्यासपरिषद्' की नियमावली में दिया है। इस विवरण के अनुसार वैष्णवाश्रम के वर्त्तमान महन्त स्वामी सीतारामाचार्य ही न्यास परिषद् की ओर से सम्पूर्ण सम्पत्ति के स्वामी हैं। नियमावली में उल्लेखनीय बात यह है कि अचल सम्पत्ति किसी न किसी मन्दिर के देवता के नाम से उसके राग–भोग के लिए है, उसे कोई बेंच नहीं सकता है।

श्री वैष्णवाश्रम प्रयागस्थ श्री वेंकटेश मन्दिर के नाम निम्नलिखित भू-सम्पत्ति तथा मकान हैं—

स्थान		क्षेत्रफल
पहरिया—रीवां (म० प्र०)	—	१२ एकड़ ३१ डिसमिल
बिरहुली (जबलपुर)	—	१७७ एकड़ ८ डिसमिल
मुस्तफाबाद—इलाहाबाद	—	— ३२ डिसमिल
लवायन—इलाहाबाद	—	३ एकड़ ५० डिसमिल
चिरौली—शाहाबाद	—	१० एकड़ —
डिलियां—शाहाबाद	—	१ एकड़ ४० डिसमिल
नउआ छोटी } नउआ सहमल } ,,	—	१६ एकड़ ९ डिसमिल

मकान विवरण निम्नवत् है—

श्री वैष्णवाश्रम (रामानुजकोट), श्री वेंकटेश मंदिर; श्री रामदेशिक संस्कृत महाविद्यालय, गोशाला तथा श्रीमती इन्दासनी देवी द्वारा प्रदत्त मकान नं० २८७ दारागंज, प्रयाग, मकान नं० १६, १७ पड़ाइन का पूरा, प्रयाग। इसके साथ दस हजार रुपया नकद श्री वेंकटेश भगवान् के राग-भोग के निमित्त है।

प्रशासन-तंत्र

'श्री महन्त जी महाराज-देवरा-प्रयाग न्याय परिषद्' की नियमावली में श्री वैष्णवाश्रम प्रयाग के महन्त श्री स्वामी सीतारामाचार्य को सभी सम्बन्धित स्थानों का भी प्रधान महन्त लिखा गया है। आपके अधीन आपकी स्वीकृति से निम्नलिखित

उप-महन्त कार्य करते हैं जो अपने नाम के समक्ष अंकित स्थानों के कार्यकारी महन्त समझे जाते हैं—

(१) स्वामी राघव प्रपन्न जी, बड़ा मंदिर, देवराज नगर, सतना।
(२) श्री सुदर्शनदास जी, श्रीराम मंदिर, कनाड़ी छोट, जि० शहडोल।
(३) श्री राघवदास जी, श्री सीताराम मंदिर, पुरैना, रीवां।
(४) श्री सत्यनारायणदास, श्री वेंकटेश मंदिर, मुख्तारगंज, सतना।
(५) श्री रामकिंकर शास्त्री, श्री लक्ष्मीनारायण मंदिर, राजघाट, काशी।
(६) श्री हरिप्रपन्न वेदान्ताचार्य, श्री राधाकृष्ण रघुनाथ मंदिर, श्री वैष्णवाश्रम, वृन्दावन।

श्री वैष्णवाश्रम प्रयाग की अध्यक्षता में गठित उक्त न्यास में परिषद् के छः उपमहन्तों के अतिरिक्त छः चुने हुए सदस्य होंगे जो प्रथमतः स्वामी गोविन्दाचार्य द्वारा नियुक्त किए गए हैं। बाद में स्थान रिक्त होने पर समिति के बहुमत से चुने जायेंगे।

दैनन्दिन कार्य के लिए आश्रम पर महन्त के अतिरिक्त २५ श्री वैष्णव महात्मा, १ पुजारी, १ भण्डारी हैं।

आगन्तुक-विवरण

आश्रम पर स्थायी रूप से २५ वैष्णव महात्मा रहते हैं। इनके अतिरिक्त माघ मेला के समय सम्प्रदाय के लगभग ५०० वैष्णव साधु तथा ८०० गृहस्थ शिष्य आश्रम तथा सङ्गम क्षेत्र में निर्मित 'वाड़ा' में रहते हैं। प्रतिमास गृहस्थ आगन्तुकों की औसत संख्या १० और साधु आगन्तुकों की मासिक संख्या २५ बतलाई गयी है। आगन्तुकों के आवास तथा भोजनादि की व्यवस्था आश्रम की ओर से की जाती है।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

श्री वैष्णवाश्रम के महात्मागण प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में स्नानादि से पवित्र होकर श्री वेंकटेश भगवान की आराधना, आरती, स्तोत्र-पाठ, मन्त्र पुष्पांजलि, तुलसी अर्चना आदि कार्यक्रम प्रातः ८ बजे तक सम्पन्न करते हैं। तदनन्तर भागवत-माहात्म्य-कथा नियमित होती है। विशेष धार्मिक अवसर यथा—वसन्त पञ्चमी को श्री वैष्णवाश्रम (रामानुज कोट) से भगवान की सवारी बड़े उत्साह एवं सज-धज के साथ स्तोत्र पाठ, कीर्त्तन करते हुए त्रिवेणी संगम पर जाकर, वसन्तोत्सव मनाकर रामानुजनगर में स्थान-स्थान पर आरती, पूजन ग्रहण करती हुई सायंकाल वैष्णवाश्रम में लौटती है।

प्रतिदिन मध्याह्न एवं सायंकाल आश्रम के भण्डारा (रसोई) में समस्त स्थायी आश्रमियों तथा आगन्तुक साधु-महात्मा एवं गृहस्थ शिष्यों के लिए सात्विक भोजन की व्यवस्था होती है। आश्रम पर रहने वाले महात्माओं के लिए गृहस्थ जीवन से विरक्त तथा संस्कार सम्पन्न श्री वैष्णव होना आवश्यक है।

आय के स्रोत

अचल एवं चल सम्पत्ति का जो विवरण दिया गया है उससे कृषि द्वारा तथा बँटाई से १५ हजार रुपये वार्षिक आय होती है। चिरहुली तहसील, गड़वारा, जिला जबलपुर में आश्रम की १५६ एकड़ भूमि थी, जिसे महन्त जी ने संस्कृत महाविद्यालय के निमित्त प्रदान कर दिया है। अन्य स्थानों पर जो भूमि है उससे वर्ष में दस हजार रुपये का अनाज और भूसा प्राप्त हो जाता है। शिष्यों से माघ मेला के समय तथा अन्य पर्वों पर कुल मिलाकर लगभग २५ हजार रुपये वार्षिक दक्षिणा प्राप्त होती है। संस्कृत पाठशाला के लिए उदार तथा सम्पन्न शिष्य प्रतिवर्ष दान करते हैं जिसका उल्लेख संस्कृत महाविद्यालय के वार्षिक विवरण में किया जाता है।

विवाद एवं मुकदमें

वैष्णवाश्रम के महन्त जी को सुश्री राजवंशी कुंवरि विधवा श्री बाबू बद्री सिंह, ग्राम रूपपुर जिला शाहाबाद ने दिनांक ९–२–६२ को १६ एकड़ भूमि दान में दी थी। उनके वसीयतनामें के अनुसार उक्त भूमि महन्त जी के अधीन होनी चाहिए किन्तु उक्त भूमि विवादग्रस्त है। अन्य कोई विवाद नहीं है।

राजनीतिक सहभागिता

आश्रम के महन्त तथा अन्य महात्माओं की राजनीति में कोई प्रत्यक्ष भागीदारी नहीं है और न कोई रुचि ही है। इनमें राजनीतिक छल-छद्म के प्रति घृणा-भाव है।

सामाजिक सेवाकार्य

परम्परानुसार श्री वैष्णव-सेवा, श्री वैष्णव धर्म का प्रचार, संस्कृत महाविद्यालय का संचालन तथा गो, ब्राह्मण एवं निर्धनों, अपाहिजों की सेवा श्री वैष्णवाश्रम का मुख्य उद्देश्य है। आश्रम पर नियमित सत्संग द्वारा श्री वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार, माघमेला में 'अन्न-क्षेत्र' बनाकर हजारों तीर्थयात्रियों के आवास-भोजन की व्यवस्था करने के अतिरिक्त श्रीरामदेशिक संस्कृत महाविद्यालय के संचालन द्वारा संस्कृत साहित्य के अध्ययन-अध्यापन तथा भारतीय संस्कृति के

सम्बर्द्धन हेतु निरन्तर कार्य हो रहा है। माघ शुक्लपक्ष में संस्कृत सप्ताह समारोह मनाया जाता है।

सम्प्रति विद्यालय में ११० छात्र, १२ अध्यापकों से आचार्य उपाधि तक शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। ३० छात्रों को आश्रम की ओर से नियमित भोजन एवं छात्रवृत्ति प्रदान की जाती है।

आश्विन शुक्ल दशमी को श्री वेंकटेश-जयन्ती, फाल्गुन कृष्ण द्वादशी को महंत श्रीराम प्रपन्नाचार्य की पुण्यतिथि एवं आश्विन कृष्ण दशमी को महंत श्री गोविंदाचार्य की पुण्यतिथि के अवसर पर आश्रम पर वृहद् भण्डारा आयोजित होता है। आश्रम पर श्री वेंकटेश धर्मार्थ आयुर्वेदिक महौषधालय द्वारा रोगियों की चिकित्सा भी की जाती है।

कबीर कीर्ति मन्दिर मठ, (काशी)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कबीर कीर्ति मंदिर (मठ) कबीर पंथ के उन मठों में से एक महत्वपूर्ण मठ है जिनकी स्थापना स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के विभिन्न क्षेत्रों में हुई है। कबीरमठ की परम्परा में कबीर पंथ के अनेक अनुयायी 'कबीरचौरा मठ' (काशी) को अन्य सभी शाखाओं से अधिक प्राचीन मानते हैं। इस शाखा को प्राचीनतम मानने की बात सम्भवतः कबीर की जन्मस्थली काशी होने के कारण है। क्योंकि इसकी प्राचीनता के वास्तविक एवं विश्वसनीय प्रमाण अभी उपलब्ध नहीं हैं। कबीरमठ कबीरचौरा, वाराणसी की प्राचीनता तथा उसकी प्रमुखता को अस्वीकार करते हुए कतिपय लोगों की धारणा है कि कबीरपंथ के प्रचार-प्रसार के लिए सर्वप्रथम मध्यप्रदेश की ओर से प्रयास किया गया होगा। इनका कथन है कि कबीर पंथ को स्थापित करके उसका प्रचार-प्रसार तथा संचालन करने का कार्य कबीर साहब द्वारा अपने शिष्य धर्मदास को सौंपा गया था जिनके उत्तराधिकारी मुक्तामणि नाम ने उसे कुदरमाल में सुव्यवस्थित रूप दिया। 'सद्गुरु 'श्री कबीर चरितम्' (पृ० ३२२ में) में कहा गया है कि 'कबीर पंथ के जितने भी मठ हैं वे सब उसी के शाखा मठ कहे जा सकते हैं।[1] कबीर कीर्ति मंदिर मठ काशी का सम्बन्ध दक्षिण

---

१. दृश्यन्ते साम्प्रतंदेशे, मठा येऽस्य पथः खलु।
शाखा मठाः तस्यैव सर्वं सन्तीति निश्चितम् ॥ २०५ ॥
—(श्री सद्गुरुकबीर चरितम्, पृष्ठ ३२२)
परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परंपरा, (इलाहाबाद, लीडर प्रेस, १९७२), पृ० ३०२ पर उद्धृत।

भारत की इसी शाखा के 'कबीर आश्रम मठ' जामनगर से है। इसका सम्बन्ध "कबीरचौरा मठ' काशी से नहीं है। काशी की कबीरचौरा वाली शाखा की उप-शाखाओं में नडियाड, बड़ौदा तथा अहमदाबाद आदि मठों के नाम दिए जाते हैं।[1] इस शाखा के मठों की स्थापना का श्रेय कबीर साहब के शिष्य सुरतगोपाल जी को को दिया जाता है। कुछ लोग इसे कबीर साहब के जीवन से ही सीधे सम्बद्ध करते हैं।

'कबीर कीर्ति मंदिर' का सम्बन्ध 'छत्तीसगढ़ी' या 'धर्मदासी' शाखा से है। इस शाखा से मूल प्रवर्त्तक कबीरदास के शिष्य धर्मदास जी माने जाते हैं। कहा जाता है कि एक बार कबीर अतिथि के रूप में स्वयं इनके यहाँ उपस्थित हुए थे, इसी समय धर्मदास जी के द्वितीय पुत्र 'चूड़ामणि नाम' को विधिवत् गद्दी पर बैठा दिया गया था। गद्दी पर बैठने के बाद उन्हें इस शाखा के प्रमुख आचार्य 'मुक्तामणि नाम' के रूप में ख्याति मिली। धर्मदास जी कबीर के साथ जगन्नाथपुरी की ओर चले गये थे। कहा जाता है कि कुछ बाद में 'मुक्तामणि नाम' के बड़े भाई नारायण ने इस गद्दी के प्रति विरोध व्यक्त किया जिसके कारण इन्हें पहले 'कोर्बा' किन्तु बाद में 'कुदरमाल' चला जाना पड़ा। इसी शाखा का एक मठ सौराष्ट्र प्रदेश के जामनगर शहर में स्थापित किया गया। 'कबीर कीर्ति मंदिर काशी' श्री कबीर आश्रम जामनगर (सौराष्ट्र) की एक उपशाखा है। इसी मठ की श्री महंत परंपरा में श्री शान्तिदास जी के शिष्य श्री महंत पुरुषोत्तमदास जी महाराज साहब ने सन् १९५८ ई० में काशी में श्री कबीरकीर्ति मंदिर की स्थापना की। १९७४ में इसी के नाम से एक न्यास स्थापित किया गया जिसमें संस्था के लिए प्रभूत कोष की व्यवस्था की गई है।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

कबीर कीर्ति मंदिर मठ वाराणसी नगर के प्रमुख चौराहा लहुरावीर से मैदागिन को जाने वाले 'संत कबीर राज मार्ग' के बायें किनारे पर कबीरचौरा के पूर्व ही स्थित है। इस मठ के परिसर में उद्यान, भवन, कूप और मंदिर है। राज-मार्ग के उत्तरी किनारे पर भवन का एक भव्य एवं विशाल प्रवेश द्वार है। प्रवेश द्वार के दायीं ओर एक विशाल सभा भवन है जिसमें पर्यटकों, छात्रों, साधु-संन्यासियों एवं अतिथियों के विश्राम करने की आवश्यकतानुसार व्यवस्था की जाती है। इस बृहद् सभा-भवन से लगा हुआ एक मंदिर है जिसमें श्री कबीर साहब की श्वेत संग-

---

१. परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की संत परंपरा पृ० ३०४ पर उद्धृत।

मरमर की एक विशाल मूर्ति है। मंदिर का द्वार सीधे सभा-भवन में ही खुलता है। सभाभवन में लगभग एक हजार व्यक्ति एक साथ कीर्तन-भजन, प्रवचन एवं सत्संग में भाग ले सकते हैं। सभा मण्डप के सामने कबीर कीर्ति मंदिर का प्रमुख भवन है जिसमें कुल १६ बड़े कमरे तथा विस्तृत बरामदा है। कमरों का उपयोग, वाचनालय, 'कबीर शांति संदेश' (पत्रिका) के कार्यालय, औषधालय एवं मठवासियों के आवास के रूप में होता है। कमरे आधुनिक उपकरणों, पंखे, बत्ती, आलमारी आदि से सुसज्जित हैं।

महन्त परम्परा

सम्प्रति इस आश्रम के कार्यकारी महंत श्री रामस्वरूप दास जी 'साहब' हैं जो कबीर संदेश के प्रचार एवं प्रसारार्थ विदेश-यात्रा कर रहे हैं। कबीर कीर्ति मंदिर का मुख्यालय जामनगर सौराष्ट्र में है। वहाँ के महन्त श्री शांतिदास जी (गुरुपूज्य चरण श्रीमहंत पुरुषोत्तमदास जी महाराज 'साहब') हैं। शान्तिदास जी को उनके गुरु श्री पुरुषोत्तमदास जी ने १९१८ ई० में जामनगर की गद्दी पर बैठाया था। पुरुषोत्तदास जी का सन् १९१९ ई० में स्वर्गवास हो गया। श्री शांति दास जी ने अपने जीवनकाल में ही अपना उत्तराधिकारी श्री रामस्वरूपदास जी को बनाया है। सम्प्रति जामनगर कबीर मठ से सम्बन्धित कबीर मठों का सञ्चालन वही कर रहे हैं।

श्री राम स्वरूपदास जी बड़े प्रबुद्ध महात्मा हैं। उनके व्यक्तित्व में एक अद्भुत आकर्षण है। उनकी वाणी में संत-सुलभ ओज तथा माधुर्य है। आश्रम के सम्बर्द्धन-सञ्चालन के प्रति वे सदैव सजग रहते हैं और कबीरदास के सदुपदेशों के प्रचार-प्रसारार्थ प्रायः भ्रमण पर रहते हैं। 'कबीर-शांति संदेश' (पत्रिका) के सम्पादक श्री श्यामदास शास्त्री से ज्ञात हुआ है कि सम्प्रति श्री स्वरूपदास जी विदेश में 'कबीर आश्रम' की स्थापना का संकल्प लेकर भ्रमण कार्य पर निकले हुए हैं। स्वामी जी का हाँग-कांग से भेजा हुआ पत्र दिखाते हुए शोधकर्त्ता को बताया गया कि इस यात्रा क्रम में श्री रामस्वरूपदास जी लंदन, लिस्बन, पूर्तगाल, स्पेन, पेरिस, हालैण्ड, नार्वे, स्वीडेन, जर्मनी, जिनेवा आदि देशों में अपने प्रवचन एवं सत्संग का कार्य सम्पन्न कर चुके हैं। कबीर कीर्ति मंदिर काशी के मुख्यालय कवीर-आश्रम जामनगर (सौराष्ट्र) की महंत परम्परा निम्नलिखित रूप में उपलब्ध हैं[१]—

श्री खेमदास	—	सन् १७६७ ई०
,, निर्भयदास	—	सन् १७७९ ई०
,, जीवनदास	—	सन् १७९९ ई०

---

१. महन्त श्री विचारदास जी साहब शास्त्री, अथ ग्रन्थ ब्रह्म निरूपणम्, (जामनगर (सौराष्ट्र), श्री कबीर आश्रम, १९५५), पृ० २३-२४।

श्री मोहनदास	—	सन् १८४९ ई०
,, अम्मरदास	—	सन् १८७४ ई०
,, पुरुषोत्तमदास	—	सन् १८८३ ई०
,, शांतिदास	—	सन् १९१८ ई०

श्री शान्तिदास ने अपने जीवनकाल में ही श्री स्वरूपदास को सन् १९२८ से अपना उत्तराधिकार सौंप दिया है, वही सम्प्रति कार्यकारी महन्त हैं।

सम्प्रदाय-परिचय

प्रस्तुत मठ वैष्णव सम्प्रदाय के अंतर्गत 'कबीर पंथ' का अनुयायी है। सुधारवादी वैष्णवों में कबीर पंथ का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि कबीरदास जी किसी सम्प्रदाय विशेष या पन्थ विशेष की स्थापना के पक्ष में नहीं थे किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् शिष्यों ने उनकी बानियों, विचारों एवं उपदेशों के प्रचारित-प्रसारित करने के लिए 'कबीर-पन्थ' को जन्म दिया और उनके नाम से अनेक मठों की स्थापना भी की। 'अनुराग सागर' में द्वादस पन्थों का उल्लेख किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अठारहवीं शताब्दी के अंत तक उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, काठियावाड़, गुजरात, बड़ौदा, बिहार आदि विभिन्न प्रदेशों एवं क्षेत्रों में 'कबीर पन्थ' सम्प्रदाय को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी।[1] कबीर-पन्थी मठों की स्थापना सर्वप्रथम कहाँ पर हुई, इस सम्बन्ध में निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं है फिर भी परम्परागत कबीर पन्थ का मूल स्थान अधिकांश लोग कूदरमाल (मध्य प्रदेश) को मानते हैं। कारण यह कि अन्य मठ प्रायः उसी मठ की शाखाओं के रूप में फैले हुए हैं। प्रस्तुत मठ भी उसी की एक शाखा है।

अचल एवं चल सम्पत्ति

मठ के पास अपना मंदिर, मंदिर से लगा हुआ वृहद् सभा कक्ष, आवास, कार्यालय एवं वाचनालय हेतु भवन, कूप तथा छोटा सा उद्यान भी है। महन्त श्री शान्ति जी ने इसे १९३८ ई० में एक लाख रुपये में क्रय किया था। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत मठ के नाम से लगभग १० लाख की फिक्स्ड डिपाजिट भी है जिसके व्याज से मठ का व्यय आसानी से चल जाता है।

प्रशासन-तन्त्र

कबीर कीर्ति मंदिर काशी, श्री कबीर-आश्रम, जामनगर (सौराष्ट्र) की

---

१. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, (पूर्वोक्त), पृ० २९०।

एक शाखा के रूप में कार्य कर रहा है। यद्यपि इसके सञ्चालन हेतु प्रभूत धन की व्यवस्था अलग से कर दी गयी है फिर भी प्रशासन की दृष्टि से जामनगर के महंत के निर्देशन में ही यहाँ के कार्यों का सम्पादन होता है। यहाँ महन्त के अतिरिक्त दीवान, कोठारी, पुजारी, भण्डारी आदि पदाधिकारी अपने-अपने नियत कार्य सम्पादित करते हैं। यहाँ के कोठारी संत श्री हंसदास साहब हैं जो एक प्रबुद्ध नवयुवक हैं। वे स्वभाव से बड़े सामाजिक एवं व्यवहारकुशल व्यक्ति हैं।

आगन्तुक विवरण

मठ के आगन्तुकों में अधिकांशतः साधु, साहित्यिक अभिरुचि सम्पन्न व्यक्ति, लेखक, विद्वान एवं गृहस्थ सभी कोटि के लोग हैं। साधु एवं गृहस्थ आगन्तुकों की औसत मासिक संख्या २५० है। इनमें से अधिकांश आगन्तुक रात्रि निवास भी करते हैं। उनके भोजन एवं आवास की व्यवस्था मठ की ओर से की जाती है। मठ में स्थायीरूप से कुल १६ व्यक्ति रहते हैं, जिनमें वर्तन आदि साफ करने के लिए एक नौकर भी है।

मठ में साधुओं की दिनचर्या

मठ में रहने वाले सभी सन्त प्रातःकाल उठते ही अपने से श्रेष्ठ महात्मा के पास पहुँच कर 'बन्दगी' करते हैं—कबीर कीर्ति मंदिर की यह एक विशेष परंपरा है। यह बन्दगी सन्त के चरणों की ओर दोनों हथेलियों से की जाती है। 'बन्दगी' करने वाला व्यक्ति कहता है—'सतनाम सतगुरु पाय लागों 'वन्दना'। कबीर पन्थ का सामान्य अभिवादन है—'साहब बन्दगी'। इसके बाद स्नानादि कर साधना एवं भजन तथा बीजक-रमैनी आदि कबीर साहित्य का पाठ करते हैं। तत्पश्चात् आश्रम से सम्बन्धित आवश्यक कार्य, जिसमें शारीरिक श्रम भी निहित है, किया जाता है, फिर दोपहर का भोजन। भोजन शुद्ध-सात्विक शाकाहारी होता है। संध्या के समय आरती, सत्संग एवं भजनादि का आयोजन किया जाता है। सोते समय गुरुमंत्र का ध्यान। प्रातः एवं सायंकालीन आरती-भजनादि में सम्मिलित होना प्रत्येक आश्रमवासी के लिए अनिवार्य है।

आय के स्रोत

आय के लिए इस मठ को विशेष षटराग नहीं करना पड़ता। चढ़ावा एवं पूजा के अतिरिक्त इसके नाम से पर्याप्त धन फिक्स्ड डिपाजिट के रूप में जमा है। उससे लगभग २५००) मासिक की आय हो जाती है। मठ के नाम से पृथक् जमीन अथवा किराये आदि पर देने के मकान नहीं हैं।

विवाद एवं मुकदमें

कबीर कीर्ति मंदिर का वातावरण बिलकुल शान्त एवं स्वच्छ है। यहाँ के आश्रमवासियों में किसी प्रकार के आपसी एवं आन्तरिक तनाव का अनुभव नहीं हुआ। आश्रम किसी भी प्रकार के विवाद एवं मुकदमों से मुक्त है। यही कारण है कि महन्त स्वरूपदास जी निश्चिन्त भाव से विदेश-भ्रमण कर कबीर के उपदेशों को विश्व के कोन-कोने में पहुँचाने का कार्य कर रहे हैं।

राजनीतिक सहभागिता

यहाँ राजनीतिक सक्रियता का दर्शन नहीं हुआ फिर भी आश्रमवासियों का वर्तमान शासन के प्रति विशेष लगाव है। अनेक राजनीतिज्ञों का इस आश्रम को स्नेह भी प्राप्त है।

समाजिक सेवाकार्य

सन्त कबीर के उपदेशों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए यह संस्था 'श्री कबीर शान्ति सन्देश' नामक धार्मिक पत्रिका प्रकाशित करती है। इसका प्रकाशन कार्य गत तीन वर्षों से अनवरत अबाध गति से चल रहा है। पत्रिका के सम्पादक सन्त श्री श्यादास शास्त्री कबीर साहित्य के मर्मज्ञ, कर्मठ एवं समाजसेवी व्यक्ति हैं। समाजसेवा की भावना से ही महन्त श्री रामस्वरूपदास जी सम्प्रति विदेश-भ्रमण कर रहे हैं।[१]

साप्ताहिक सत्संग का आयोजन भी आश्रम में नियमित ढंग से होता है।

---

१. मेरे आत्मस्वरूप सज्जनों श्रद्धालु भक्तों को विशेष आग्रह से अज्ञानान्धकार को हटाने वाले सद्गुरु कबीर के ज्ञान प्रकाश में लाते हुए लन्दन से लिस्बन, पुर्तगाल, स्पेन होते हुए पेरिस में जिज्ञासु भक्तों को सद्गुरु कबीर के सुख एवं शांति प्रदान करने वाले उपदेश दिये।.... ...२९ जनवरी को पेरिस से वेल्जियम के लिए प्रस्थान कर वहाँ के ज्ञानपिपासु भक्तों को तृप्त कर हालैण्ड, नार्वे स्वीडन, जर्मनी, जिनेवा में सत्संग का कार्यक्रम सम्पन्न कर हांग-कांग के लिए प्रस्थान किया।... ...यहाँ हिन्दू मन्दिर, हिन्दू मन्दिर कोलून, सत्यसाईं बाबा सेन्टर और भावुक प्रेमी गृहस्थों के गृह में सद्गुरु के अनमोल ज्ञान का वर्णन, सत्संग प्रवचन का कार्यक्रम सुन्दर रीति से हुआ।... ...यहाँ से मेरा कार्यक्रम जापान, मनीला, सिडनी होते हुए फीजी जाने का है।.... ....आगे कबीर की दया और इच्छा।'

—महन्त श्री रामस्वरूपदास जी द्वारा संत श्री श्यामदासजी को हांग-कांग से भेजे गये पत्र से उद्धृत।

सन्त श्री श्यामदास शास्त्री द्वारा सन्त श्री किशोरदास साहब की देखरेख में गरीब रोगियों की निःशुल्क आयुर्वेदिक चिकित्सा की भी व्यवस्था है। ज्ञात हुआ कि परमार्थ की दृष्टि से इस व्यवस्था का भार आश्रम ही उठाता है, इसके लिए किसी प्रकार का राजकीय अनुदान नहीं प्राप्त है।

प्रति मास पूर्णिमा, चतुर्दशी को 'भण्डारे' का आयोजन किया जाता है। लगभग १० विद्यार्थियों को यहाँ आवासीय एवं भोजन की सुविधा प्रदान की गयी है। ये छात्र आश्रम पर ही रहकर विद्याध्ययन करते हैं।

लोटा टीला-मठ-ईश्वरगंगी, (वाराणसी)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उत्तर भारत की सन्त परम्परा में चौदहवीं शताब्दी में अनेक आचार्यों का अभ्युदय हुआ जिनमें स्वामी रामानन्द सर्वाधिक उदार, मानवतावादी, सहृदय तथा स्वाधीनचेता आचार्य थे। उत्तर भारत में आज जिस भक्ति-साधना का चतुर्दिक् प्रचार दिखायी देता है उसके प्रधान प्रवर्त्तक स्वामी रामानन्द ही थे। आपने ही सर्वप्रथम हरि-भजन के आधार पर जाति तथा वर्ण सम्बन्धी कड़े नियमों को शिथिल कर सर्व साधारण के लिए ईश्वर-आराधना का मार्ग प्रशस्त किया। आपने धर्म-प्रचार के लिए संस्कृत भाषा की अपेक्षा हिन्दी को उपयुक्त सिद्ध किया और इसे ही अभिव्यक्ति के साधन के रूप में अपनाने पर बल दिया। प्रसिद्ध सन्त स्वामी रामानुजाचार्य के शिष्य के रूप में आपने वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार की सुन्दर व्यवस्था हेतु मठों, मन्दिरों और आश्रमों की स्थापना की। आप द्वारा प्रवर्तित उपासना पद्धति के आधार पर रामानुजी 'श्री सम्प्रदाय' से भिन्न रामानन्दी 'रामावत' सम्प्रदाय विकसित हुआ जिसमें आराध्य के रूप में क्षीरशायी विष्णु या नारायण के स्थान पर सगुण साकार रूप में अधिक लोकप्रिय राम-जानकी को मान्यता दी गयी है। यह सम्प्रदाय सबकी समानता में विश्वास रखता है, किसी को जन्म से छोटा या बड़ा नहीं मानता।

स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, योगानन्द सुखानन्द, भवानन्द तथा गालवानन्द के अतिरिक्त सेन नाई, कबीर साहब, पीपा जी, रविदास तथा पद्मावती की गणना की जाती है। प्रथम शिष्य अनन्तानन्द की शिष्य-परम्परा की चौथी पीढ़ी में स्वामी गोवर्द्धनदास उपनाम लोटादास नामक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं जिनका ईश्वरगंगी पर प्रसिद्ध लोटा टीला-मठ गत तीन सौ वर्षों से वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

महन्त-परम्परा

लोटा टीला मठ के संस्थापक स्वामी लोटादास भगवान जी के शिष्य थे, जिनकें नाम पर 'भगवान जी' का 'द्वारा' प्रसिद्ध है। पिण्डोरीधाम (गुरुदासपुर) इनकी पवित्र गद्दी है। भगवान जी ने वैष्णव जमात को संगठित किया था। उनके नाम पर स्थापित 'द्वारा' की कुल ३९ गद्दी या मठ पूरे भारत में सम्प्रति है। नागा संन्यासियों की ५२ मढ़ी की भाँति वैष्णव संन्यासियों में प्रमुख संगठनकर्ता आचार्यों के नाम पर ५२ 'द्वारा' प्रचलित है। भगवान जी, श्रीकृष्णदास पयहारी के शिष्य और स्वामी अनन्तानन्द के प्रशिष्य थे जो सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी रामानन्द के प्रथम शिष्य थे। इस प्रकार स्वामी लोटादास जी स्वामी रामानन्द की पांचवीं पीढ़ी के महन्त थे जो लोटा टीला मठ के प्रथम महन्त माने जाते हैं। इस समय पन्द्रहवीं पीढ़ी में महन्त पद पर स्वामी रामकिशोरदास जी महाराज आसीन हैं जो स्वामी गुरुचरनदास के शिष्य हैं। महन्त पद पर क्रमानुसार निम्नलिखित आचार्य रह चुके हैं—

१—स्वामी लोटादास जी — (१७६३ वि० से १८१३ वि० तक)
२— ,, द्वारिकादास — (संवत् १८१३ में कुछ माह तक)
३— ,, सुरतदास — (संवत् १८१३ में ही दो माह)
४— ,, लक्ष्मणदास — (संवत् १८१३ से १८४३ तक)
५— ,, नारायणदास — (संवत् १८४३ से १८६८ तक)
६— ,, गदाधरदास — (संवत् १८६८ से १९१६ तक)
७— ,, कालिकादास — (संवत् १९१६ से १९४६ तक)
८— ,, रघुबरदास — (१९४६ से १९४७ तक)
९— ,, रामसुमेरुदास — (संवत् १९४७ से १९५९ तक)
१०— ,, भगवानदास — (संवत् १९५९ से १९८० तक)
११— ,, नरोत्तमदास — (१९८० से २००० तक)
१२— ,, भरतदास — (संवत् २००० में कुछ माह तक)
१३— ,, मकसूदनदास — (संवत् २००० से २०१४ तक)
१४— ,, सुखरामदास — (संवत् २०१४ज्येष्ठ से आषाढ़२०१४)
१५— ,, गुरुचरनदास — (संवत् २०१४ से २०२१ तक)
१६— ,, रामकिशोरदास — (संवत् २०२१ से —)

सम्प्रदाय परिचय

वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'रामावत सम्प्रदाय' स्वामी रामानन्द के उदार मानवतावादी विचारों पर आधारित है। इस सम्प्रदाय के उपास्यदेव चतुर्भुज

क्षीरशायी नारायण न होकर द्विभुजधारी सामान्य जन के बीच विचरण कर सकने वाले राम-जानकी हैं। यद्यपि विष्णु और राम एक ही ब्रह्म के अवतार हैं किन्तु नारायण—'विष्णु' विशिष्ट कुलीन आचार्यों तक सीमित रह गये हैं। राम का रूप जनप्रिय, समाज सुधारक और लोकरंजक का रूप है इसीलिए रामावत सम्प्रदाय इन्हें विशेष महत्व देता है। इनका मूलमन्त्र 'राम' या 'सीताराम' है। इनके इष्टदेव 'रामचन्द्र' हैं जो ब्रह्म के रूप में निर्गुण और निराकार होते हुए भी भक्तों का कष्ट दूर करने के लिए नर-देह धारण करते हैं। इस सम्प्रदाय के साधु मस्तक पर सीधा खड़ा उर्ध्वपुण्ड्र चन्दन लगाते हैं। सीताराम के साथ ही हनुमान जी, शंकर जी तथा वाराह भगवान, गणेश जी की भी पूजा करते हैं। सफेद वस्त्र ही पहनते हैं। अधिकांशतः मठ के महन्त पद पर विरक्त महात्मा ही आसीन होते हैं किन्तु साधना के लिए विरक्त होना आवश्यक नहीं है। गृहस्थ शिष्य ही अधिक हैं।

स्थिति, भवन एवं साजसज्जा

लोटा टीला मठ वाराणसी नगर के प्राचीन मुहल्ला ईश्वरगंगी के प्रसिद्ध सरोवर के किनारे पुराने टीले पर प्रायः दो एकड़ क्षेत्रफल में स्थित है। मठ कई खण्डों में विभक्त है। कुल ४ बड़े-बड़े आंगन हैं। भीतर के भाग में कई मन्दिर हैं। मुख्य मन्दिर में राम जानकी और लक्ष्मण की मूर्ति बीच में स्थापित है। किनारे दो मूर्तियाँ राधाकृष्ण की हैं। जगन्नाथ जी, बलभद्र और सुभद्रा की भी मूर्ति स्थापित है। हनुमान जी की सुन्दर मूर्ति एक अन्य मन्दिर में प्रतिष्ठित है।

सामने के भाग में कुल पचास से अधिक सालिग्राम की प्राचीन पिण्डियाँ हैं जिनमें कुछ तीन सौ वर्षों से भी अधिक पुरानी हैं। विविध प्रकार के सालिग्राम यहाँ दर्शनीय हैं। सूर्यमुखी, चन्द्रमुखी, गोमुखी आदि अनेक रूपों का वर्णन पुजारी जी ने किया। एक अन्य मन्दिर में शंकर जी की मूर्ति है। श्री गणेश जी, वाराह भगवान तथा मठ के संस्थापक स्वामी लोटादास की भी मूर्ति अलग-अलग मन्दिरों में है। मठ पर आवास योग्य कुल ४० कमरे हैं जिनमें तीस कमरों में गृहस्थ किराएदार रहते हैं, शेष दस कमरे आगन्तुक साधु-सन्तों और शिष्यों के प्रयोग के लिए हैं। इन्हीं कमरों में संस्कृत पाठशाला भी चलती है।

सम्पत्ति तथा आय के स्रोत

मठ के अधीन इस समय विभिन्न स्थानों पर तीन सौ एकड़ से अधिक भूमि है जिसमें अधिकांश कृषि योग्य है, कुछ बाग और कुछ मकान भी हैं। जिस स्थान पर मठ बना है, वह सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में ९९ रुपये में खरीदा गया था। ऐसा एक फारसी दस्तावेज देखने से ज्ञात हुआ है जो मठ पर सुरक्षित है।

बिहार प्रदेश में कई स्थानों पर तथा उत्तर प्रदेश में गोरखपुर और जौनपुर जिले में मठ की जमीन है जिसका विवरण इस प्रकार है—

१—मुकामा, जिला पटना (बिहार) में	१०० एकड़ भूमि।
२—हरनामचक, जिला मुंगेर (बिहार) में	३५ एकड़ भूमि।
३—पोक्सी, जिला नवादा (बिहार) में	१०० एकड़ भूमि।
४—लोहापुरवा, फरेन्दा, गोरखपुर(उ०प्र०)	२५ एकड़ भूमि।
५—थानागद्दी, जौनपुर (उ० प्र०) में	२५ एकड़ भूमि।

उपर्युक्त भूमि पर मठ की ओर से खेती का प्रबन्ध किया जाता है जिससे प्राय: साठ हजार रुपये वार्षिक आय होती है।

मठ के अधीन निम्नलिखित मुहल्लों में आवास योग्य मकान हैं—

(१) सोनारपुरा, वाराणसी	एक मकान	कुल आठ कमरे
(२) चेतगंज, वाराणसी	दो मकान	कुल बारह कमरे
(३) गोलादीनानाथ, वाराणसी	मन्दिर (रामजानकी हनुमान जी) तथा तीन दुकाने और पुजारी का आवास।	
(४) ईश्वरगंगी, वाराणसी	मठ के अतिरिक्त छः मकान हैं। कुल ४० कमरे आवास योग्य हैं।	
(५) नाटी इमली, वाराणसी	राम जानकी और हनुमानजी का मंदिर है।	

उक्त मकान किराये पर दिये गये हैं जिनसे मासिक आय दो हजार रुपये के लगभग है। मन्दिरों पर मठ की ओर से पुजारी हैं जो अपना खर्च मन्दिर पर आने वाले चढ़ावे से चलाते हैं। प्रतिवर्ष मठ को अपने दीक्षित शिष्यों से 'पूजा' मिलती है। शिष्यों की संख्या तीस हजार से अधिक है। इन्हीं शिष्यों के यहाँ महंत जी परिभ्रमण करते हैं और शिष्य अपने गुरु महाराज का दर्शन करने आते हैं। इनसे वार्षिक आय एक लाख रुपये अनुमानित है। गुरूपूर्णिमा तथा रामनवमी, पुरुषोत्तम मास तथा जन्माष्मी को अधिक शिष्य आते हैं।

प्रशासन-तन्त्र

महन्त श्री रामकिशोरदास सर्वोच्च पद पर हैं। आपके निर्देश के बिना कोई भी कार्य नहीं होता। आपके उत्तराधिकारी शिष्य श्री मधुसूदनदास का भी मठवासियों पर प्रभाव है। महन्त अपनी वसीयत लिखकर उत्तराधिकारी निश्चित कर दिये हैं। इन दो महात्माओं के अतिरिक्त पुजारी श्री लक्ष्मीनारायण दास मठ पर देवताओं की पूजा-अर्चना तथा भण्डारा की व्यवस्था देखते हैं। श्री रामप्यारे गुप्त गृहस्थ शिष्य मठ की ओर से शहर के मकानों का किराया वसूल करते हैं तथा मठ का अन्य कार्य भी देखते हैं।

आगतुक विवरण

प्रतिमास औसत २० साधु तथा ३० गृहस्थ शिष्य आते हैं। विशेष अवसरों पर अधिक आते हैं। स्थायी रूप में आठ महात्मा तथा चार कर्मचारी, पुजारी, भण्डारी, परिचारक रहते हैं।

साधूओं की दिनचर्या

मठ के साधु वैष्णव पद्धति से भजन-कीर्तन और आराध्यदेव तथा संस्थापक महापुरुष की पूजा करते हैं। सन्ध्या वन्दन और आरती, भगवान का राग-भोग और शृंगार इनका प्रमुख कार्य है। साधुओं का जोवन सरल और आडम्बरहीन है। कर्मकाण्डों का अनुपालन किया जाता है।

विवाद एवं मुकदमें

इस मठ पर सम्प्रति कोई विवाद नहीं है। उत्तराधिकार अथवा सम्पत्ति से सम्बन्धित विवाद अतीत में भी नहीं हुए हैं।

राजनीतिक सहभागिता

राजनीति में रुचि नहीं है। साम्प्रदायिक सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार, मानव सेवा, जीवमात्र के प्रति दया-भावना के प्रचार तथा संस्कृत और संस्कृति के संरक्षण हेतु विशेष प्रयत्न करना ही इनके प्रमुख कार्य हैं।

सामाजिक सेवाकार्य

महन्त तथा अन्य महात्मा सामान्य जनता में सरल ढंग पर धर्म के उस अंश का प्रचार अधिक करते हैं जो सभी मनुष्यों को समान मानकर परस्पर प्रेम भावना पर जोर देता है। इनके द्वारा दीन-दुःखियों की सहायता तथा निधन छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान की जाती है। १९७९ ई० से मठ पर ही 'श्री वेदाङ्ग मधुसूदन संस्कृत महाविद्यालय' की स्थापना की गयी। अभी केवल मध्यमा स्तर तक अध्यापन की व्यवस्था है। कुल ३० छात्र, ५ शिक्षक, १ कर्णिक, १ भण्डारी और दो परिचारक हैं। छात्रों और शिक्षकों के आवास तथा भोजन का प्रबन्ध मठ द्वारा किया जाता है।

सावन सुदी तीज को प्रतिवर्ष भण्डारा आयोजित होता है जिसमें लगभग चार हजार साधु महात्मा तथा दरिद्रनारायण भोजन करते हैं। गुरुपूर्णिमा आषाढ़ सुदी पूर्णमा को मनाई जाती है। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, रामनवमी, विजयादशमी, रामानन्द जयन्ती के अवसर पर मठ पर उत्सव आयोजित होता है।

श्री गोविन्द योगाश्रम, गोविन्द साहब मठ (आजमगढ़)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पूर्वी उत्तर प्रदेश में बावरी पन्थ के प्रमुख साधना-केन्द्र आचार्यपीठ भुड़कुड़ा गाज़ीपुर की गद्दी पर ऐसे अनेक सन्त प्रतिष्ठित हो चुके हैं जिनके शिष्यों-प्रशिष्यों के नाम पर अनेक पन्थ प्रचलित हैं। अपनी अन्तःसाधना तथा आन्तरिक अनुभूति से लोकहित में तत्पर रहने वाले सन्तों की परम्परा में बावरी-पन्थ के प्रमुख आचार्य बूला साहब के शिष्य गुलाल साहब हुए जिनके नाम पर सं० १७६६ वि० में गुलाल-पन्थ का प्रवर्त्तन हुआ। इन्हीं गुलाल साहब के शिष्य भीखा साहब ने तमसा-तटवर्त्ती नगर जलालपुर, फैजाबाद में पंक्तिपावन सरयूपारीण ब्राह्मण-परिवार में जन्में बालक गोविन्दधर दूबे को दीक्षित किया था जो आगे चलकर अपनी यौगिक सिद्धियों से अपने समकालीन सन्तों को चमत्कृत कर गोविन्द साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। अपने जन्मस्थान के समीप जिस अहिरौली ग्राम में आपने साधना की और सम्वत् १८७९ वि० में समाधि ली उस गांव को ही आपकी स्मृति में गोविन्द साहब कहा जाने लगा। यहीं पर स्थापित गोविन्द योगाश्रम, गोविन्द साहब के मत का आज भी प्रचार-प्रसार कर रहा है।

महन्त-परम्परा

गोविन्द साहब के सर्वप्रमुख शिष्यों में पलटू साहब हुए हैं जो प्रारम्भ में आपके गुरुभाई थे किन्तु उन्होंने गोविन्द साहब की यौगिक उपलब्धियों से प्रभावित होकर उन्हें ही अपना गुरु बना लिया। पलटू साहब के नाम पर ही पलटू पन्थ और अयोध्या में पलटू-अखाड़ा स्थापित हुआ है। गोविन्द साहब के अन्य शिष्यों में कृपादास (कलवार), बेनीदास, रामचरन दास, मानदास, इच्छा साहब, मोतीदास, घनश्यामदास तथा अयोध्यादास हुए हैं।

सम्वत् १८७९ वि० में गोविन्द साहब के ब्रह्मलीन होने पर उनके शिष्य बेनी साहब उनके उत्तराधिकारी के रूप में मठ के महन्त हुए और दस वर्ष तक मठ की मर्यादा बनाए रखे। सम्वत् १८८९ वि० में बेनी साहब के समाधिस्थ होने के पश्चात् श्री दयाल साहब उनके उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने ६१ वर्ष तक महन्त पद पर आसीन रहकर साधना की। आपने महन्त बनने के बाद आजीवन दुग्ध से ही शरीर की रक्षा की जिससे क्षेत्रीय जनता में पयहारी बाबा के नाम से आप प्रसिद्ध हुए। सम्वत् १९५० में पयहारी बाबा के समाधिस्थ होने के बाद इस गद्दी पर महन्त जीतदास जी प्रतिष्ठित हुए जो सम्वत् १९५५ में समाधिस्थ हो गये। तदनन्तर उनके शिष्य श्री सीतारामदास जी महन्त बनाए गये किन्तु मठ की व्यवस्था में समय

देने से साधना में व्यवधान पड़ता देखकर आपने श्री रामलखनदास जी को गोविन्द साहब मठ की व्यवस्था देखने के लिए 'अधिकारी' या मुख्तार बना दिया। श्री रामलखन दास जी महन्त सीताराम दास जी के शिष्य थे। आपके समाधिस्थ होने के बाद महन्त सीताराम दास जी ने अपने अन्य शिष्य श्री कोमलदास जी को गोविन्द साहब मठ का मुख्तार बना दिया। महन्त श्री सीतारामदास जी महाराज २६ फरवरी, १९५८ ई० समाधिस्थ हुए और आपके पश्चात् २० मार्च सन् १९५८ ई० को श्री रामकोमलदास जी महाराज को गद्दी पर प्रतिष्ठित किया गया। सम्प्रति आपके शिष्य श्री रामनिहालदास जी अपने को गोविन्द साहब मठ का उत्तराधिकारी मानते हैं क्योंकि आचार्यपीठ भुड़कुड़ा के महन्त ने सन्त परम्परानुसार आपको गद्दी पर प्रतिष्ठित किया है। किन्तु अन्य दो दावेदारों ने उक्त पद के वास्तविक उत्तराधिकारी के रूप में न्यायालय में वाद प्रस्तुत कर दिया है जो अभी विचाराधीन है और मठ पर व्यवस्था हेतु न्यायालय द्वारा 'रिसीवर' नियुक्त कर दिया गया है।

सम्प्रदाय-परिचय

वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना में विश्वास करने वाले सन्तों की बावरी-पन्थ के आचार्यपीठ भुड़कुड़ा मठ की शिष्य परम्परा में गोविन्द साहब द्वारा स्थापित मठ है। वर्ण और जातिगत भेद-भावना को यहाँ कोई महत्व नहीं दिया जाता है। आत्मिक उत्कर्ष ही साधना का लक्ष्य है। सरल, आडंबर रहित जीवन और सबमें समानता का प्रचार इनका लक्ष्य है। इनका सत्यनाम भुड़कुड़ा, सत्य गोविन्द-गोविन्द साहब और सत्य राम पलटू साहब है।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

आजमगढ़ और फैजाबाद जनपद के मिलन बिन्दु पर बूढ़ी सरयू के पश्चिमी तट पर बसा प्राचीन अहिरौली ग्राम गोविन्द साहब की साधना-स्थली होने के कारण 'गोविन्द साहब' कहा जाने लगा है। यहीं पर गोविन्द साहब द्वारा बनवाया गया मन्दिर और मठ स्थित है जो आजमगढ़ मुख्यालय से प्रायः ६० कि० मी० दूर आजमगढ़ फैजाबाद मार्ग पर पडता है। सम्प्रति श्री 'गोविंद योगाश्रम' गोविन्द साहब में सन्तों के निवास हेतु मठ के अतिरिक्त दो सत्संग-भवन, तीन मन्दिर, दो धर्मशाला और एक गोशाला के अतिरिक्त मेला के समय दुकान लगाने के लिए दूर-दूर तक फैले लम्बे चबूतरे बने हुए हैं। एक मन्दिर में राम, लक्ष्मण और सीता की सुन्दर मूर्त्ति है। बाजार और मेला लगने पर दुकानदारों से मठ को किराया मिलता है। गोविन्द साहब के जीवनकाल से ही यहाँ मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को मेला लगता आ रहा है। यही तिथि गोविन्द साहब की जन्मतिथि भी है। मन्दिर के भीतर ही गोविंद साहब ने जहाँ चिर समाधि ली थी, वहीं उनकी

स्मृति में समाधि बना दी गयी है। यहाँ अनेक भक्तों द्वारा निर्मित अनेक सुन्दर सरोवर तथा कुएँ भी हैं।

अचल एवं चल सम्पत्ति

गोविंद साहब मठ के पास लगभग ४० एकड़ भूमि है जिसमें १० एकड़ में बाग है। शेष २५ एकड़ को तीन खण्डों में विभक्त करके खेती की जाती है। ५ एकड़ में मन्दिर, धर्मशाला, गोशाला, सरोवर आदि हैं। कृषि-कार्य के लिए नलकूप, ट्रैक्टर, आटाचक्की और गाय, बैल आदि कुल २५ मवेशी हैं।

प्रशासन-तन्त्र

सम्प्रति मठ के पीठाधीश्वर—'महंत' पद पर नियुक्ति की वैधता न्यायालय में विचाराधीन होने के कारण वास्तविक प्रशासन न्यायालय द्वारा नियुक्त 'रिसीवर' के अधीन है तथापि आचार्य गद्दी भुड़कुड़ा, गाजीपुर द्वारा नियुक्त महन्त श्री रामनिहालदास मठ पर रहते हैं और पूजा, अर्चना करते हैं। उनके अतिरिक्त महन्त पद के दो अन्य दावेदार श्री राजमणि उर्फ रामचन्द्रदास तथा श्री विमलेश्वररानन्द सरस्वती उर्फ प्रिन्सिपल भी मठ पर ही रहते हैं। तीनों ही तथाकथित महत सम्पत्ति पर नियंत्रण रखने और अपने व्यक्तिगत हित में उपयोग करने का प्रयास कर रहे हैं। सम्पूर्ण व्यवस्था चरमरा रही है. विघटन के लक्षण स्पष्ट है।

आगन्तुक-विवरण

गोविन्द साहब के श्रद्धालु भक्त उनकी समाधि का दर्शन करने, मनौती चढ़ाने तथा सरोवर में स्नान करने के लिए वर्ष भर आते रहते हैं। गृहस्थ आगन्तुकों की मासिक औसत संख्या १५ है। मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को प्रतिवर्ष दूर-दूर से लगभग पचास हजार दर्शनार्थी आते हैं। इस समय यहाँ का प्रसिद्ध मेला लगता है। जानवरों का क्रय-विक्रय, लकड़ी के सामान तथा गृहस्थी के सामान इस मेले में बिकते हैं। मकरसंक्रान्ति के दिन भी भक्त-जन दर्शन करने तथा खिचड़ी चढ़ाने हजारों की संख्या में आते हैं। सम्प्रदाय से सम्बन्धित विरक्त सन्त महीने में औसत ५ आते हैं। पलटू साहब के नाम पर स्थापित अखाड़े के साधु भी महीने में प्रायः दस आते हैं।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

मठ पर जो सन्त हैं, वह पारस्परिक दिनचर्या का अनुसरण विशेष अवसरों पर ही करते हैं। सामान्यतः गृहस्थों जैसे ही दैनन्दिन कार्य करते हैं। समाधि-पूजन, मन्दिर में मूर्तियों की पूजा-आरती नियमित करते हैं। गृहस्थ के कार्य, मुकदमें की तैयारी में अधिक समय व्यतीत करते हैं।

आय के स्रोत

मठ पर आय खेती से वार्षिक दस हजार रुपये, आटाचक्की से वार्षिक पांच हजार रुपये तथा मेला, बाजार और दुकान से लगभग अड़तीस हजार रुपये है। आय का विवरण देने से महन्तों ने इनकार कर दिया किंतु स्थानीय स्रोतों से सूचना एकत्र की गयी है।

विवाद एवं मुकदमे

सम्प्रति गोविन्द साहब मठ के वास्तविक उत्तराधिकारी के प्रश्न पर बहुचर्चित वाद उच्च न्यायालय इलाहाबाद की लखनऊ बेन्च में विचाराधीन है। ब्रह्मलीन महन्त निहालदास जी ने अपनी 'वसीयत' नहीं छोड़ी थी और न अपने उत्तराधिकारी की घोषणा ही की थी। आचार्य गद्दी के महन्त द्वारा जिसे महन्त पद पर आसीन किया गया है, उसे अन्य दो व्यक्तियों ने न्यायालय में चुनौती दे दी है।

राजनीतिक-सहभागिता

राजनीति में इस मठ का सक्रिय योगदान नहीं है। सामान्य नागरिक की भाँति वर्त्तमान राजनीति के प्रति अन्यमनस्क हैं।

सामाजिक सेवा-कार्य

गोविन्द साहब की स्मृति में अनेक शिक्षण संस्थाएँ संचालित हैं, किन्तु उन पर मठ का कोई नियन्त्रण नहीं है। महात्मा गोविन्द इण्टर कालेज, दुलहूपुर, फैजाबाद तथा बाबा गोविन्द साहब उ० मा० विद्यालय, पिण्डोसिया, आजमगढ़ उल्लेखनीय हैं।

गोविन्द साहब का प्रसिद्ध मेला मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को प्रतिवर्ष लगता है जिसकी व्यवस्था आजमगढ़ और फैजाबाद जिला परिषद् द्वारा की जाती है। प्रतिवर्ष पचास हजार से अधिक यात्री मेले में आते हैं। मठ पर एक होमियोपैथिक तथा आयुर्वेदिक चिकित्सालय भी जनता की सेवा-भावना से चलाया जाता है।

गोविन्द साहब के पंथ से सम्बन्धित निम्नलिखित सामग्री मठ के सहयोग से प्रकाशित है, जो संत साहित्य की वृद्धि में सहायक है—

(१) सत्यसार

(२) गोविंद सुधा

(३) गोविंद वचनामृत

(४) गोविंद योग भाष्कर (संस्कृत में)

(५) गोविंद साहब का संक्षिप्त इतिहास

(६) गुलाल पंथ।

श्री पवहारी वैष्णवाश्रम (देवरिया)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में स्थित वर्त्तमान देवरिया जनपद अतीत में ऋषि-मुनियों एवं साधकों-संतों की तपश्चर्या का केन्द्र रहा है। पावन सलिला सरयू, सदानीरा बड़ी गण्डक, छोटी गण्डक तथा राप्ती के पवित्र जल से सिंचित यह क्षेत्र 'सरुआर' नाम से विख्यात है। यहाँ के पंक्तिपावन सरयूपारीण ब्राह्मणों तथा विशेन एवं मल्ल वंशीय क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति के संरक्षण, सम्बर्द्धन तथा प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ब्रह्मर्षि, वशिष्ठ, भारद्वाज, गर्ग, गौतम और शाण्डिल्य आदि ऋषियों की वंश परम्परा में अनेक विद्वान् साधक एवं वीतराग संत-महात्मा हुए हैं।

उक्त परम्परा में अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राप्ती नदी के पवित्र तट पर अवस्थित महेन ग्राम के श्री शिवराम पाण्डेय के घर बालक लक्ष्मीनारायण का जन्म हुआ जो बाल्यावस्था में ही अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं संत प्रकृति से परिवार में कुतूहल का केन्द्र बन गया। बाल्यावस्था में ही बालक लक्ष्मीनारायण के हृदय में राम नाम की जो ज्योति प्रज्वलित हुई वह शीघ्र ही माता-पिता और सम्पूर्ण परिवार को त्यागकर जंगल में जाकर ध्रुव की भाँति तपस्या करने को प्रेरित की और वह बालक एक दिन अपने घर के समीपस्थ घने जंगल 'ठकुरही' में चुपचाप चला गया। परिवार के लोग ढूंढ़कर थक गए किंतु हिंसक जन्तुओं से घिरे हुए जंगल में ढूढ़ने का साहस किसी को नहीं हुआ। सम्वत् १८४४ वि० से लगभग १८६० वि० तक लक्ष्मीनारायण ठकुरही जंगल में तपस्यारत रहे। इस अवधि में हिंसक जन्तुओं ने भी उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचाई। सम्वत् १८६० वि० में पयकौली-शाही परिवार के श्री सम्हारू शाही जंगल में शिकार खेलने गए और वहाँ एक वृक्ष के नीचे तपस्यारत महात्मा का दर्शन कर आश्चर्यचकित हो गए।

सम्हारू शाही वहाँ तबतक हाथ जोड़कर बैठे ही रहे जबतक कि महात्मा ने ध्यान भंग कर उनसे यह प्रश्न नहीं किया कि तुम यहाँ क्यों आए हो? विशेष अनुनय-विनय करके यही शाही जी महात्मा लक्ष्मीनारायण को ठकुरही जंगल से पयकौली ग्राम में लिवा आए जहाँ इनकी कुटिया बनी। वेणी-वैष्णव सम्प्रदाय

के सिद्ध महात्मा के रूप में पवहारी लक्ष्मीनारायण दास की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी।

महन्त परम्परा

श्री पवहारी वैष्णवाश्रम पयकौली के आदि संस्थापक श्री लक्ष्मीनारायण दास के बाद इस आश्रम के उत्तराधिकारी पाँच महन्त हो चुके हैं। सम्प्रति छठीं पीढ़ी में महन्त पद पर पवहारी श्री ऋषिरामदास जी १९५८ ई० से प्रतिष्ठित हैं। आप श्री उपेन्द्रदास के शिष्य और श्री मणिराम दास 'अयोध्यावासी' जी के प्रशिष्य हैं।

सम्प्रदाय परिचय

वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत वेणी वैष्णव के पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रमुख आश्रम के रूप में श्री पवहारी वैष्णवाश्रम पयकौली की मान्यता है। इस सम्प्रदाय के महात्मा राम-जानकी की उपासना अपने इष्टदेव के रूप में करते हैं और सम्पूर्ण जगत को 'सिया राम मय' देखते हैं। 'सीताराम' या 'राम' नाम का जाप इनकी उपासना का प्रधान कर्मकाण्ड है। यह अपने मस्तक पर गोल तिलक लगाते हैं।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

देवरिया शहर से ८ कि० मी० दक्षिण-पूर्व दिशा में प्राचीन राजवंशीय शाही परिवार का परम्परागत निवास पयकौली ग्राम में है। इसी परिवार के पूर्वज श्री सम्हारू शाही के प्रयास से श्री वैष्णवाश्रम पयकौली की स्थापना हुई। आश्रम पर मुख्य मन्दिर में श्रीराम लक्ष्मण-जानकी की भव्य मूर्ति स्थापित है। आदि संस्थापक प्रथम पवहारी महाराज तथा उनके बाद की पाँचों पीढ़ी के महाराज श्री के चित्रों से सुशोभित श्री पवहारी महाराज का मंदिर है। राज-राजेश्वर श्री कौशल किशोर का मंदिर, श्री हनुमान जी का मंदिर तथा शंकर जी (झारखण्डे महादेव) का मंदिर आश्रम के दर्शनीय स्थल हैं। आश्रम से संलग्न एक साठ एकड़ का विशाल बाग है जिसमें आम के पुराने वृक्ष हैं। आश्रम से सन्निकट ही सुन्दर सरोवर है। एक विशाल गो-शाला है जिसमें लगभग १०० गाएँ रह सकती हैं। आश्रम पर महात्माओं के निवास एवं भण्डार-गृह को सुन्दर व्यवस्था है।

वैकुण्ठपुर में श्रीपवहारी संस्कृत महाविद्यालय तथा आयुर्वेदिक औषधालय है।

सम्पत्ति तथा आयके स्रोत

श्री वैष्णवाश्रम पयकौली को उस ग्राम के श्री रामकोमल शाही के पूर्वजों ने ६२ बीघे का एक आम का बाग दान दिया था जो अभी भी आश्रम के अधीन

है। इस आश्रम के महात्मा कभी एक स्थान पर स्थायी न रहकर सदैव शिष्यों के यहाँ घूमते रहते हैं। पहले इनकी जमात में पालकी, हाथी, ऊँट, गाड़ी चलती थी। शिष्यों को इनका सारा प्रबन्ध करना होता था। भक्तों की श्रद्धा और दान ही आय का मुख्य स्रोत है। पूजा, चढ़ावा आदि के रूप में लगभग एक लाख अस्सी हजार रुपये वार्षिक आय है। इस आश्रम का एक प्रमुख स्थान अयोध्या में बाबा मणिराम की छावनी है। कृषि से तीस हजार तथा बाग से दस हजार रुपये वार्षिक आय है।

प्रशासन तन्त्र

वर्त्तमान महंत श्री ऋषिरामदास जी प्रशासन के सर्वोच्च पद पर आसीन हैं। महंत के बाद 'अधिकारी' श्री तुलसीदास जी प्रबन्ध और व्यवस्था की दृष्टि से सबसे अधिक उत्तरदायी हैं। जमात के साथ सहायक अधिकारी श्री रघुत्तमदास जी उनकी व्यवस्था के लिए रहते हैं। जमात वर्ष भर परिभ्रमण करती है, इसके मुख्य पड़ाव-स्थल वैकुण्ठपुर, बड़हलगंज, अयोध्या तथा पयकौली हैं। पालकी पर ही पवहारी महाराज चलते हैं। उनके इष्टदेव भी साथ ही रहते है।

आगन्तुक-विवरण

आश्रम पर ५ वैष्णव महात्मा स्थायी रूप से रहते हैं। प्रतिमास औसत १२ महात्मा आकस्मिक रूप में आते हैं। आगन्तुक गृहस्थ शिष्यों की मासिक औसत संख्या ४ है। अधिक शिष्य इसलिए नहीं आते हैं कि श्री पवहारी महाराज निरन्तर भ्रमण पर ही रहते हैं। यहाँ आने पर कुछ विशेष अवसरों पर ही दर्शन सम्भव होता है। प्रतिवर्ष चैत्र रामनवमी, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी तथा कार्तिक सुदी पूर्णिमा को कई हजार दर्शनार्थी आते हैं।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

वैष्णवाश्रम पयकौली के महात्माओं की दिनचर्या में गुरु-पूजा और कर्मकाण्ड प्रधान है। सभी महात्मा त्रिकाल सन्ध्या और गायत्री-जप करते हैं। प्रतिदिन श्री रघुनाथ जी की चार बार आरती होती है। पूजा के समय गुरु पूजा-हाथी के स्वरूप में आदि गुरु श्रीकृष्णदास की होती है। इष्टदेव श्री हनुमान जी, सालिग्राम जी, तुलसी जी, यज्ञादि तथा गोमाता की नित्य पूजा की जाती है। भगवन्नाम संकीर्तन तथा अग्निहोत्र करने के उपरान्त ही सात्विक भोजन-ग्रहण करते हैं। भोजन के समय इनकी एक परम्परा 'गफ्फा-भोज' की है। किसी एक महात्मा को आग्रह-पूर्वक सबसे पहले अधिक मात्रा में भरपूर भोजन कराया जाता है। गफ्फा भोज

कराने के बाद ही पवहारी महात्मा फलाहार करते हैं। अन्य महात्मा सात्विक भोजन करते हैं।

सत्संग के समय सामान्यतः रामायण, गीता, भागवत पुराण की कथा होती है। इस सम्प्रदाय के महात्मा विशेषतः गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरित मानस की कथा के माध्यम से धर्म प्रचार करते हैं। आश्रम पर आने वाले ब्राह्मण, विद्वान्, साधु महात्मा और विद्यार्थियों का सम्मान करते हैं। सायंकालीन आरती और सत्संग में आश्रम के सभी जन सम्मिलित होते हैं।

विवाद एवं मुकदमें

सम्प्रति आश्रम पर कोई विवाद नहीं है। आश्रम की सम्पत्ति को क्षति पहुँचाने में अभी भी स्थानीय जनता डरती है। चकबन्दी में भूमि सम्बन्धी वाद थे, जिनका निर्णय आश्रम के पक्ष में हो गया है।

राजनीतिक सहभागिता

राजनीति में विशेष रूचि नहीं है किन्तु इस बात के लिए सतर्क रहते हैं कि कोई ऐसा दल राजनीतिक सत्ता न प्राप्त करे जो धर्म-विरोधी तथा आश्रम-विरोधी हो। स्वाधीनता-संघर्ष के दिनों में इस आश्रम से आन्दोलनकारियों को कोई सहयोग इस भ्रम से नहीं मिला कि आश्रम पर सरकार की कुदृष्टि हो जायगी। १८५७ के विद्रोह के समय गोरखपुर जनपद के बागियों ने अंग्रेज कलक्टर राबर्ट का जब पीछा किया था तो वह भागकर चुपके से पवहारी आश्रम में जाकर छिप गया था, जो साधुवेश में वहाँ से भगा उसकी रक्षा में पयकोली के शाही परिवार के श्री हनुमान बख्श शाही ने बड़ी सहायता पहुँचाई थी जिसका पुरस्कार उन्हें 'रायबहादुर' की उपाधि के रूप में मिला।[१]

सामाजिक-सेवा-कार्य

राजगद्दी का मेला और प्रथम पवहारी की पुण्य तिथि को 'भण्डारा' आयोजित होता है। चैत्र रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी को लोगों को उपदेश और प्रसाद दिया जाता है। आश्रम द्वारा संस्कृति और संस्कृत के संरक्षण हेतु बैकुण्ठपुर में संस्कृत महाविद्यालय संचालित है जहाँ आचार्य स्तर तक की शिक्षा प्रदान की जाती है। कुल ५० छात्र और छः अध्यापक हैं। आश्रम की ओर से बैकुण्ठपुर में तथा देवरिया में आयुर्वेदिक औषधालय संचालित हैं। अयोध्या में भी 'आश्रम' का अपना स्थान है जहाँ सम्प्रदाय के सन्तों तथा शिष्यों के आवासादि का प्रबन्ध किया जाता है।

---

१. रामकोमल शाही, श्री पौहारी जीवन चरित (देवरिया, पयकोली हाऊस, १९५१), पृ० १५९।

भुड़कुड़ा मठ, (गाजीपुर)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पूर्वी उत्तर प्रदेश में गाजीपुर जनपद का भुड़कुड़ा ग्राम सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही सन्तों की साधना-स्थली के रूप में विख्यात है। यहाँ पर 'बावरी-पन्थ' के केन्द्र के रूप में 'रामशाला' नाम से इस समय जो मठ है उसके आदि संस्थापक बूला साहब (प्रारम्भिक नाम बुलाकी राम) इसी गाँव के एक कुर्मी परिवार में उत्पन्न हुए थे। एक बार बुलाकी राम को अपने जमींदार मालिक मर्दन सिंह के साथ किसी मुकदमें की पैरवी में दिल्ली जाना पड़ा और वहाँ कुछ दिन तक रुकना पड़ा। प्रवासकाल में अवसर मिलने पर वह कभी-कभी तत्कालीन दिल्ली के प्रसिद्ध सन्त यार मुहम्मद शाह (यारी साहब) के यहाँ जाने लगे और उनके उपदेशों से प्रभावित होकर दीक्षित हो गए। यारी साहब के गुरु सुप्रसिद्ध सन्त वीरू साहब थे जो सम्भवतः पूर्वी उत्तर-प्रदेश के ही रहने वाले थे और बावरी साहिबा के शिष्य थे जो एक साध्वी महिला थीं और परमात्म चिन्तन में सदा लीन रहती हुई बावरी (पगली) हो गयीं थीं, जिनके चिन्तन पर कबीर पन्थ का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन्होंने सुरतियोग, त्रिकुटि तथा अनहद की साधना का प्रचार किया है।[1]

बावरी साहिबा के गुरु मायानन्द का साधना स्थल दिल्ली में ही था, जिनके गुरु दयानन्द पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जनपद से थे। दयानन्द जी 'रामानन्द' के शिष्य थे। यह रामानन्द सम्भवतः प्रसिद्ध रामानन्द से भिन्न थे और गाजीपुर जनपद में ही औड़िहार जंक्शन के समीपस्थ ग्राम पटना में पैदा हुए थे। उन्होंने साधना भी वहीं की थी। इन्हीं रामानन्द के मत का प्रचार किसी प्रकार सुदूर दिल्ली तक हुआ।[2] इस मत के प्रचार और प्रसार की दृष्टि के चौथी पीढ़ी की साध्वी 'बावरी' ने संगठित प्रयास किया था जिनके शिष्यों, प्रशिष्यों ने अनेक मठों की स्थापना की है। 'बावरी पन्थ' को पूर्वी क्षेत्र वाली परम्परा अभी तक अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है जिसका केन्द्रीय स्थान भुड़कुड़ा-मठ है।

महन्त-परम्परा

भुड़कुड़ा मठ पर पूर्ववर्त्ती सभी महन्तों की समाधियाँ बनी हुई है और क्रमिक ढंग से स्थापना वर्ष से वर्त्तमान समय तक के महन्तों का कार्यकाल स्पष्टतः

१. बी० डी० त्रिपाठी, साधूज आफ इण्डिया, (बाम्बे, पापुलर प्रकाशन, १९७८), पृ० ५९।

२. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, (इलाहाबाद, लीडर प्रेस, १९७२), पृ० ५४०।

उल्लिखित है। क्रमागत दसवीं पीढ़ी में वर्त्तमान महन्त श्री रामाश्रयदास साहब कार्यरत हैं—

(१) श्री बूला साहब —(सम्वत् १६८९ से १७६६ तक)
(२) ,, गुलाल साहब —(,, १७६६ से १८१६ तक)
(३) ,, भीखा साहब —(,, १८१७ से १८४८ तक)
(४) ,, चतुर्भुज साहब —(,, १८४९ से १८७५ तक)
(५) ,, नरसिंह साहब —(,, १८७६ से १९०६ तक)
(६) ,, रामकुमार साहब —(,, १९०७ से १९३६ तक)
(७) ,, रामहित साहब —(,, १९३७ से १९४९ तक)
(८) ,, जयनारायण साहब —(,, १९५० से १९८१ तक)
(९) ,, रामबरनदास साहब —(,, १९८१ से २०२६ तक)
(१०) ,, रामाश्रयदास साहब —(,, २०२६ से —)

सम्पदा-परिचय

वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत कबीर, दादू और नानक जैसे सन्तों की ही परम्परा में बावरी पन्थ का विकास हुआ है जिसका उद्देश्य चिन्तन और अनुभूति दोनों को सुन्दर स्वरूप प्रदान करना है। इस पन्थ के महन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास करके राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने का प्रयास किया है। अपने साहित्य में दोनों के अन्धविश्वासों का उपहास करते हुए फटकार सुनाई है। हिन्दू, मुसलमान दोनों ही इस पन्थ के अनुयायी हैं। इनका जीवन सरल, साधनामय और भक्ति भावना से ओतप्रोत है। इस सम्प्रदाय के सन्तों ने आसन मार कर अकेले बैठने, शशि तथा सूर अर्थात् इड़ा और पिंगला में वायु भरने, गगन की ओर उल्टी राह से चलने; कमल को विकसित करने, अनहद को सुनने, शून्य-अशून्य के बीच संबंध जोड़ने तथा अगम, अगोचर और अविगत के खेल का अनुभव करने, अपने आपको उलटकर निहारने तथा 'अजपा-जाप' बिना माला की जाप के सहारे अन्तर्लीन होने की विधि बतलाई है।[१] निर्गुण मत या सन्तमत के अनुयायी अपने को 'अतीत' या 'अतीक', 'अवधूत' और 'फकीर' भी कहते हैं।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

पूर्वोत्तर रेलवे के जखनियाँ स्टेशन से दो कि० मी० दक्षिण-पश्चिम दिशा में गाजीपुर जनपद का भुड़कुड़ा-मठ स्थित है। मुख्य भवन प्रायः सौ वर्ष पूर्व निर्मित

---

१. गुलाल साहब की वाणी, (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९१० ई०), शब्द १३, पृ० २७।

लगभग ५० कमरों का एक विशाल मकान है जिसके मुख्य द्वार पर बड़ा सा मजबूत फाटक है। सामने लम्बा-चौड़ा सहन है। मठ के आदि संस्थापक बूला साहब के शिष्य गुलाल साहब से प्रभावित होकर तत्कालीन काशीनरेश महाराजा बलवन्त सिंह के इस क्षेत्र के चकलेदार श्री मर्दन सिंह ने एक पक्का मकान मठ के लिए बनवाया था जो 'दमदमा' के नाम से आज भी उनके स्मारक के रूप में सुरक्षित है। दमदमा के भीतर एक ऐसा स्थान है जहाँ बड़ी कठिनाई से एक व्यक्ति अपना शरीर रख सकता है। इस लघु कोष्ठ में अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र से सूर्य का प्रकाश भीतर जाता है। कहा जाता है कि यह सन्तों की यौगिक साधना का कक्ष है। मठ पर पूर्ववर्ती सभी महन्तों की समाधियाँ बनी हुई हैं। सभी समाधियाँ चहारदीवारी से घिरी हैं जिनके द्वार पर ब्रह्मलीन महन्त का नाम और कार्यकाल अंकित है। महन्त जी के बैठने का सुन्दर आसन है। विश्रामकक्ष तथा आगन्तुकों से मिलने-जुलने का कक्ष आधुनिक ढंग पर सुसज्जित है। गृहस्थी के सभी उपकरण, हल, बैल बड़े किसानों जैसे हैं। अपना नलकूप, थ्रेसर, ट्राली तथा ट्रैक्टर भी है। अनाथालय, धर्मशाला गोशाला तथा सुन्दर सरोवर, पुस्तकालय तथा हनुमान जी का मन्दिर मठ के दर्शनीय स्थान हैं।

अचल एवं चल-सम्पत्ति

सम्वत् १९०६ वि० तक भुड़कुड़ा मठ के चारों तरफ प्रायः तीन सौ एकड़ का जंगल था। मठ के महात्मा परमात्मचिन्तन और अजपा जाप में लीन रहते थे। छठीं पीढ़ी के महन्त रामकुमार साहब ने सम्वत् १९०७ के लगभग जंगल का कुछ भाग साफ कराकर कृषि की व्यवस्था प्रारम्भ की जो अभी तक चली आ रही है। मठ की अधिकांश भूमि म० रामबरनदास इण्टर कालेज, रामबरनदास डिग्री कालेज तथा सच्चिदानन्द संस्कृत पाठशाला, भुड़कुड़ा को प्रभूत के रूप में दान कर दी गई है। इस समय लगभग तीन एकड़ में मठ का बिस्तार है और लगभग १०० एकड़ कृषि योग्य भूमि है जिसमें कुछ 'महन्त' के नाम से है, कुछ जमीन हनुमान जी के नाम पर कर दी गई है और कुछ मानस-आश्रम के नाम से है। वस्तुतः सभी अचल सम्पत्ति मठ की है। ट्रेक्टर, नलकूप तथा कृषि के अन्य आधुनिक यंत्र हैं।

प्रशासन-तंत्र

मठ की प्रशासनिक व्यवस्था 'महन्त' के निर्देशों पर संचालित होती है। इस समय 'महन्त' के अतिरिक्त 'अधिकारी'—श्री युगलदास जी, कोठारी मनरूप दास (गृहस्थ) तथा बैजनाथदास के पारस्परिक सहयोग से प्रशासन चलता है। दो पुजारी—श्री उमेशमिश्र तथा श्री अनिल मिश्र भी मठ के नियमित कर्मचारी हैं। एक भण्डारी और आठ परिचारक (सेवक) नियमित कार्य करते हैं।

आगन्तुक विवरण

मठ पर नित्य आने वाले गृहस्थ शिष्यों की औसत संख्या दस है। सम्प्रदाय के सन्त-महात्मा महीने में लगभग ३० आते हैं। इस क्षेत्र में मठ के महात्माओं के सिद्धियों की अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं जिनसे प्रभावित होकर श्रद्धालु लोग मनौती करने तथा विभूति प्राप्त करने के लिए मठ पर आते हैं। सन्त साहित्य के अध्येता भी मठ पर प्राय: आते रहते हैं क्योंकि बाबरी पन्थ का यह प्रमुख स्थान है। शिक्षण संस्थाओं से सम्बन्धित शिक्षाधिकारी तथा शिक्षक मठ पर प्राय: आते रहते हैं।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

सम्प्रति मठ पर रहने वाले साधुओं की दिनचर्या किसी सात्विक वृत्ति वाले गृहस्थ जैसी ही है। मठ पर साधुओं का जीवन इसी अर्थ में विरक्त कहा जा सकता है कि उनका कोई विवाह-सम्बन्ध से बना परिवार नहीं है। अन्य बातों में अच्छी गृहस्थी की सभी चीजें दिखायी देती हैं। महन्त जी का जीवन अन्य सन्तों के जीवन से भिन्न है। उनमें एक फकीर और बादशाह का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। स्वत: पान लगाकर दूसरों को देते रहना और अपने भी मुख में रहकर सदा प्रसन्न रहना उनकी भीतरी प्रसन्नता को अभिव्यक्त करता है। प्रात: ४ बजे ही अपनी नित्यक्रिया से निवृत्त होकर स्नान-ध्यान और योगाभ्यास करते हैं। अजपा-जाप में विश्वास रखने वाले महन्त सांसारिक कार्यों को करते हुए भी परमात्म चिन्तन में सदा लीन रहते हैं।

आय के स्रोत

मठ की कृषि योग्य भूमि पर निजी संसाधनों से खेती करके प्राय: पचास हजार रुपये वार्षिक आय है। गृहस्थ शिष्यों से वार्षिक आय प्राय: दस हजार रुपये हैं जो विजयादशमी, कृष्ण जन्माष्टमी आदि अवसरों पर शिष्यों द्वारा पूजा के रूप में प्राप्त होती है। जमींदारी उन्मूलन के मुआवजा के रूप में भी मठ की वार्षिक आय चार हजार रुपये है।

विवाद एवं मुकदमें

मठ पर कोई विवाद नहीं है। स्थानीय श्रद्धालु जनता आपसी विवादों को निपटाने के लिए मठ पर आती है और महन्त जी का निर्णय मानकर अपना विवाद समाप्त कर लेती है।

राजनीतिक सहभागिता

वर्तमान राजनीति के प्रति घृणा की भावना है। महन्त जी की मान्यता है कि राजनीतिज्ञ निजी स्वार्थ के लिए धार्मिक भेदभाव को प्रोत्साहन दे रहे हैं।

सामाजिक सेवा-कार्य

भुड़कुड़ा मठ के भूमि-दान और सहयोग से संस्थापित निम्नलिखित शिक्षण संस्थाएँ पूर्वी उत्तर प्रदेश के पिछड़े हुए क्षेत्र के शिक्षा जगत में उल्लेखनीय योगदान कर रही हैं—

(१) महन्त रामाश्रयदास डिग्री कालेज, भुड़कुड़ा—यह मठ द्वारा प्रदत्त ५० एकड़ भूमि के प्राभूत पर गोरखपुर विश्वविद्यालय से कला संकाय में स्नातक स्तर तक सम्बद्ध तथा उत्तर प्रदेश शासन से मान्यता तथा अनुदान प्राप्त है। प्रायः २५० छात्रों को दस प्राध्यापकों द्वारा स्नातक स्तर की शिक्षा प्रदान की जाती है।

(२) महन्त रामबरनदास इण्टर कालेज, भुड़कुड़ा—मठ द्वारा दी गयी ३० एकड़ भूमि पर माध्यमिक शिक्षा परिषद् उत्तर प्रदेश द्वारा कृषि, विज्ञान तथा कला के विविध विषयों में इण्टरमीडिएट स्तर तक मान्यता प्राप्त है। लगभग १२०० नियमित छात्रों को ४५ शिक्षकों द्वारा शिक्षा दी जाती है।

(३) सच्चिदानन्द संस्कृत पाठशाला, भुड़कुड़ा—मठ द्वारा प्रदत्त भूमि पर वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से शास्त्री स्तर तक मान्यता प्राप्त है। कुल तीन अध्यापकों द्वारा २६ छात्रों को शिक्षा दी जाती है। इस पाठशाला में संत प्रसाद, दिनेश्वर तिवारी, रामेश्वर तिवारी और कृपाशंकर तिवारी नाम के चार अनाथ बालक भी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, जिनका भरण-पोषण मठ द्वारा ही किया जाता है।

मठ द्वारा मथुरा नगर में एक धर्मशाला महन्त रामबरनदास, भुड़कुड़ा गाजीपुर के नाम से है जिसमें इस सम्प्रदाय के संत तथा गृहस्थ शरण पाते हैं। मठ पर एक गोशाला, एक मानस-आश्रम, पुस्तकालय तथा वाचनालय के रूप में तथा एक अनाथालय भी सामाजिक सेवा-कार्य में योगदान कर रहा है। संस्कृत पाठशाला के छात्रों को भोजन, वस्त्र और पुस्तकीय सहायता भी दी जाती है। मठ पर एक औषधालय भी है, जहाँ प्रातःकाल और सायंकाल निःशुल्क आयुर्वेदिक औषधि प्रदान की जाती है।

परमहंसाश्रम, बरहज, (देवरिया)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति के विकास में राज प्रासादों की अपेक्षा तपोवनों, गुरुकुलों मठों और आश्रमों का अधिक योगदान रहा है। इन्हीं स्थलों पर योगसाधना,

ज्ञानान्वेषण, साहित्य-सृजन, दार्शनिक चिन्तन और आचार-निर्धारण जैसे अनुष्ठान हुए हैं। देवरिया जनपद की धरती प्राचीनकाल से ही देश-विदेश के साधकों, चिन्तकों और मनीषियों को आकर्षित करती रही है। महात्मा बुद्ध और स्वामी महावीर जैसे महापुरुषों को इस धरती ने आकृष्ट किया था। उसी पवित्र धरती ने आज से प्रायः एक शताब्दी पूर्व सिद्ध महात्मा, भागवतोक्त वैष्णव धर्म के प्रचारक अनंत महाप्रभु का मन मोह लिया।

लखनऊ के प्रसिद्ध कान्यकुब्ज ब्राह्मण पं० सुनंदन वाजपेयी के यहाँ सन् १९७७ ई० में (विक्रम सम्वत् १८३४) अनंत चतुर्दशी को पैदा हुआ बालक अनंत अपनी किशोरावस्था में ही विरक्त होकर काशी पहुँच गया। १५ वर्ष तक विविध शास्त्रों के अध्ययन द्वारा महान् पाण्डित्य प्राप्त कर वह भागवत की कथा के माध्यम से जन-जागरण करता हुआ देश के समस्त तीर्थों का परिभ्रमण कर अपनी वैष्णव जमात के साथ अयोध्या पहुँचता है। अयोध्या में बरहज के बाबा लालदास जी रहा करते थे जो आचार्य अनन्त की भागवत-कथा के प्रेमी थे। इन्हीं बाबा लालदास के विशेष आग्रह पर १८७६ ई० में ९९ वर्षीय आचार्य अनन्त जी नाव से चलकर सरयूमाता के ही तट पर बसे नगर बरहज पहुँच गए। कुछ दिनों तक बाबा लालदास की कुटिया पर आपकी कथा का आयोजन हुआ। तदनन्तर गौरा ग्राम निवासी बेचू साहु के विशेष आग्रह पर उन्हीं के नन्दना स्थित आम्र-बाग में आचार्य जी की कुटी बनी। यही अस्थायी कुटी, स्थायी गुफा बनी जो कालान्तर में महाप्रभु जी की साधनास्थली हो गयी। आपकी योग-साधना एवं मनोहारी कथा से आकृष्ट हो अनेक सन्त-महात्मा वहाँ एकत्र होने लगे। यौगिक सिद्धियाँ इस उत्कर्ष पर पहुँचीं कि आपके रोम-रोम से ओम् की ध्वनि निकलने लगी। आचार्य अनन्त क्षेत्रीय जनता में अनन्त महाप्रभु के रूप में चर्चित हो गए। आपकी साधनास्थली 'अनंताश्रम' ही 'परमहंसाश्रम' के रूप में राष्ट्रीय क्षितिज पर देदीप्यमान है।

महन्त-परम्परा

(१) अनन्त महाप्रभु	—१८७६ ई० से १९१६ ई० तक
(२) परमहंस बाबा राघवदास	—१९१७ ई० से १९५८ ई० तक
(३) ब्रह्मचारी सत्यव्रत जी महाराज	—१९५८ ई० से १९६१ ई० तक
(४) परमहंस राजारामशरणदास	—१९६१ ई० से १९७२ ई० तक
(५) परमहंस चन्द्रदेवशरण जी	—१९७२ ई० से — —

योगिराज अनन्त महाप्रभु के आश्रम में १९१४ ई० में सत्य का अन्वेषण करता हुआ गुरु की खोज में १८ वर्षीय महाराष्ट्रीय ब्राह्मण युवक राघवेन्द्र पाच्छापुरकर बरहज पहुँचे और सदा के लिए परमहंसाश्रम बरहज को अपनी साधना का

केन्द्र बना लिए। परमहंस बाबा राघवदास अपनी जन-सेवा के कारण पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांधी और भूदान यज्ञ के प्रमुख कार्यंजर्ता के रूप में भूदान यज्ञ के हनुमान कहे गए। राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संग्राम से लेकर स्वतंत्र भारत के रचनात्मक विकास में इस आश्रम का योगदान अप्रतिम है। दीन-दलितों और कुष्ठ रोगियों की सेवा में आश्रम अग्रगण्य है।

सम्प्रदाय-परिचय

पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रमुख वैष्णव आश्रम के रूप में परमहंसाश्रम बरहज प्रसिद्ध है। यहाँ के सभी पीठाधीश्वर परमहंस 'महाराज' की उपाधि से सम्बोधित होते हैं। भागवतोक्त वैष्णव-जीवन-पद्धति ही समस्त आश्रमवासियों का जीवन प्रतिमान है। श्वेत वस्त्र-लंगोटी-कौपीन और छोटी चादर या श्वेत अंगवस्त्र के साथ सादा सरल जीवन, मस्तक पर श्वेत चन्दन, गले में तुलसी की छोटी कण्ठी, हाथ में जपमाली, मुख पर मृदु मुस्कान, दीन-दुःखियो के प्रति समर्पित व्यक्तित्व ही इस आश्रम के साधु-सन्तों की पहचान है। 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाणे री' इस आश्रम के सन्तों पर सटीक बैठती है। प्रधान महात्मा को परमहंस की उपाधि प्राप्त होती है।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

परमहंसाश्रम, पुण्यसलिला सरयू के पावन तट पर देवरिया जनपद के दक्षिणांचल बरहज में स्थित है। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर राप्ती और सरयू का संगम है। प्रायः १०० वर्ष पहले का बेचू साहु का आम्र कुंज आज वैष्णव परमहंसों की साधना का केन्द्र बन चुका है। इस आश्रम का केन्द्र बिंदु वह 'गुफा' है जिसमें अनन्त महाप्रभु ने १२ वर्ष तक सतत योग-साधना की थी। निराहार रहकर, मात्र आधा सेर गो-दुग्ध पर शरीर रक्षा करते हुए आत्मिक उत्कर्ष को प्राप्त कर शरीर के रोम-रोम से ओ म् की ध्वनि निःसृत करते थे। उसी गुफा में बाबा राघवदास ने परमहंस होने पर तीन वर्ष योग-साधना की थी—मात्र शीशम की पत्ती और मट्ठे पर शरीर की रक्षा करके। 'गुफा' को ही केन्द्र मानकर वर्तमान 'आश्रम' बना है। इस भवन में एक सत्संग भवन, स्वाध्याय-कक्ष, और अतिथि निवास है। 'गुफा' के पीछे की तरफ अभय राघव मंदिर है जिसके साथ चहारदीवारी के भीतर एक लघु वाटिका है। कभी इसी भाग में स्वदेशी वस्तुओं का उत्पादन केन्द्र रहा है। परम-हंसाश्रम के इस आवास-स्थान के अतिरिक्त एक भव्य 'श्रीकृष्ण मन्दिर' है जिसमें मंदिर के चारो तरफ प्रशस्त बरामदा है। सामने हरी घास का सुन्दर मैदान है। एक यज्ञशाला, हनुमान मंदिर और प्रसिद्ध क्रान्तिकारी 'बिस्मिल' की समाधि भी

दर्शनीय स्थल हैं। आश्रम में एक गोशाला एवं कर्मचारी-निवास भी है। आश्रम के परिसर में ही कभी राष्ट्रभाषा विद्यालय, गीता परीक्षा केन्द्र भी संचालित रहा है जिसका भवन अभी भी शेष है। संस्कृत महाविद्यालय और उसका विशाल छात्रावास इस आश्रम में 'मठः छात्रादि निलयः' की परिभाषा चरितार्थ कर रहा है। आश्रम की चहारदीवारी से सटा हुआ श्रीकृष्ण इण्टर कालेज का मुख्य भवन है। समीप ही बाबा राघवदास भगवानदास डिग्री कालेज का भवन भी स्थित है।

अचल एवं चल सम्पत्ति

परमहंसाश्रम बरहज के पास कोई अचल सम्पत्ति नहीं है। जितनी दूर में आश्रम है वह प्रांगण ही आश्रम का है। शेष विस्तार विभिन्न संस्थाओं का है जिनका संरक्षक यह आश्रम है। श्रद्धालु भक्तों का सहयोग ही आश्रम की सम्पत्ति है।

प्रशासन-तन्त्र

परमहंसाश्रम बरहज में प्रशासन की औपचारिक व्यवस्था स्पष्ट नहीं है। व्यवहार में कार्य-विभाजन तो है किंतु परमहंस पदवी प्राप्त आश्रम प्रधान पुरुष के अतिरिक्त अन्य सदस्यों में कोई संस्तरणात्मक सम्बन्ध नहीं है। सम्प्रति निम्नलिखित पदों पर आसीन व्यक्ति प्रशासन के लिए उत्तरदायी हैं।

१-परमहंस (अध्यक्ष)—सम्प्रति परमहंस पद पर श्री चन्द्रदेवशरण जी आसीन हैं। कुछ वर्षों पूर्व तक आप उसी आश्रम के प्रधान पुजारी रह चुके हैं। सभी कर्मचारियों से आपका पुराना अनुराग है। आपके प्रति सबके हृदय में स्वाभाविक श्रद्धा है। यही कारण है कि आपकी भावना का सभी सदस्य आदर करते हैं।

२-व्यवस्थापक--सम्प्रति आश्रम के व्यवस्थापक के रूप में श्री 'दीन' जी आश्रम की व्यवस्था हेतु उत्तरदायी हैं। आप बाबा राघवदास के शिष्य और उनके सहकर्मी रह चुके हैं। आपके व्यक्तित्व पर बाबा राघवदास की स्पष्ट छाप है। यही कारण है कि आप आश्रम की व्यवस्था देखने के साथ ही आश्रम द्वारा संचालित समस्त संस्थाओं के मंत्री के रूप में उनके विकास हेतु प्रयत्नशील रहते हैं। आपका मुख्य कार्य, क्षेत्र के कुष्ठ रोगियों की सेवा है। आप द्वारा संचालित 'कुष्ठ सेवाश्रम अनुग्रह नगर, मैरवां, सीवान' इस दिशा में अग्रगण्य है।

३-पुजारी—पुजारी का मुख्य कार्य वैष्णव विधि से भगवान कृष्ण, हनुमान जी,

गुफा में महाप्रभु जी की खड़ाऊँ का पूजन करना है। पुजारी ही आगन्तुकों के स्वागत-सत्कार का प्रवन्ध करता है।

आगन्तुक-विवरण

आश्रम पर वर्ष पर्यन्त वैष्णव साधु तथा गृहस्थ शिष्य आते रहते हैं। विशेष-रूप से अनन्त चतुर्दशी के अवसर पर तीन दिन का धार्मिक-सांस्कृतिक समारोह आयोजित होता है जिसमें देश के सभी भागों के साधु, महात्मा, विद्वान, प्रवचनकर्ता, कथावाचक और उपदेशक आते हैं। अखिल भारतवर्षीय संकीर्त्तन मण्डल से संबंधित भजनानन्दी महात्मा भी समारोह में सम्मिलित होते हैं। तीन दिन में प्राय: ५० हजार स्थानीय लोग तथा १० हजार वाहरी लोग आश्रम पर आते हैं। आगंतुकों में जो दूर से आते हैं उनके तीन दिन तक आवास, भोजन एवं जलपान की व्यवस्था आश्रम पर की जाती है।

मठ के साधुओं की दिनचर्या

प्रातः ब्राह्म मुहूर्त्त में ४ बजे ही सभी साधु अपना आसन छोड़ देते हैं। दैनिक नित्य कर्म पूरा कर स्नानादि से निवृत्त होकर अनन्त महाप्रभु की गुफा में खड़ाऊँ और उनके चित्र का पूजन करते हैं। भगवान कृष्ण, हनुमान जी के मंदिर में मूर्त्ति का स्नान, चंदन. पूजन सम्पन्न कर सामूहिक रूप से हनुमानचालीसा का पाठ होना है। वैष्णव विधि से मंदिर में भोग लगाया जाता है। स्वाध्याय एवं सत्संग प्रातः ८ बजे से १० वजे तक होता है। सायंकाल प्रतिदिन ६ बजे से सत्संग भवन में भागवत कथा प्राय: १०० वर्षों से निरंतर होती आ रही है।

आय के स्रोत

आश्रम के पास कोई अचल सम्पत्ति नहीं है। आय के स्रोत स्पष्ट नहीं हैं। अनन्त चतुर्दशी के अवसर पर तथा वर्ष में विशेष पर्वों पर शिष्य लोग स्वेच्छा से अन्न, द्रव्यादि का दान करते हैं। कुछ लोग गुप्त दान भी करते हैं। आश्रम का कार्य इसी से चलता है। प्रायः दस हजार रुपये चढ़ावा से तथा तीस हजार रुपये दान से वार्षिक आय है।

विवाद एवं मुकदमें

आश्रम के पास सम्पत्ति न होने का प्रत्यक्ष लाभ यह कह रहा कि कोई मुकदमें इस समय नहीं हैं। बाबा राघवदास के समय में उन पर राजनीतिक मुकदमें और एक बार न्यायालय की मानहानि का मुकदमा भी हुआ था।

मठ की राजनीतिक सहभागिता

बाबा राघवदास ने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संग्राम में सक्रिय भाग लिया था।

१९१६ से १९१९ तक 'गुफा' में रहकर परमहंस भी योग-साधना कर रहे थे, तभी लोकमान्य तिलक को ब्रिटिश सरकार ने फांसी की सजा दे दी। इस घटना से परमहंस जी विचलित हो गए और गुफा से बाहर आ गए। श्री रघुपति सहाय 'फिराक', सिंहासन सिंह आदि कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के साथ आप आंदोलन में सम्मिलित हुए। अनेक बार जेल की यातना सहे। यह इस क्षेत्र में इतने जनप्रिय हो गए कि पूर्पाञ्चल के गांधी कहे गए। बरहज 'आश्रम' उत्तर प्रदेश में सबसे पहले 'गैर-कानूनी' घोषित हुआ। आश्रम पर क्रांतिकारियों को शरण दी जाती थी। बिस्मिल बाबा जी से अत्यन्त प्रभावित थे, उनके साथ 'आजाद' भी कई बार आश्रम पर आए। यह आश्रम अपने 'धर्म' के साधन के रूप में राजयीति में स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व सक्रिय रहा है। शहीद बिस्मिल की आश्रम में बनी समाधि इसकी राजनीतिक जागरूकता का ही प्रमाण है। बाबा राघवदास पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांधी कहे जाते थे। १७३७ की अंतरिम सरकार बनाने के लिए जो चुनाव हुआ उसमें बाबा जी ने तुलसी दल बाँटकर गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़ और बलिया में कांग्रेस का प्रचार किया था। बाबा राघवदास के बाद इस आश्रम ने राजनीति में सक्रिय भाग लेना बन्द कर दिया। किन्तु संस्कार अभी भी शेष हैं। राजनीति में रुचि है। राष्ट्रीय-भावना आश्रम के हर सदस्य में भरी हुई है।

सामाजिक सेवा-कार्य

सामाजिक सेवा के क्षेत्र में इस आश्रम का मौलिक योगदान है। परमहंसाश्रम का प्रत्येक साधु जनता-जनार्दन की सेवा तन-मन से करता है। बाबा राघवदास का प्रिय 'भजन 'माता राम राम, पिता राम-राम राम—बन्धु राम-राम.....' आज भी धर्माचार्य महेन्द्र शास्त्री द्वारा गाया जाता है तो वातावरण में शांति छा जाती है। परमहंस जी स्वच्छता के इतने प्रेमी थे कि नगर के शौचालयों की सफाई एक बार स्वयं ही करने लगे और कानपुर-कांग्रेस-अधिवेशन में अपने लिए शौचालय की सफाई का कार्य लिए थे।

सम्प्रति आश्रम की निम्न संस्थाएँ समाजसेवा-कार्य में संलग्न हैं—

आदर्श संस्कृत महाविद्यालय—आचार्य श्रेणी तक मान्य।

श्रीकृष्ण इण्टर कालेज बरहज—सभी वर्गों में मान्यता प्राप्त।

बाबा राघवदास डिग्री कालेज बरहज—कला, वाणिज्य संकाय में मान्यता प्राप्त।

मानस-सम्मेलन—प्रतिवर्ष अनन्त चतुर्दशी के अवसर पर तीन दिन का वृहद् आयोजन होता है जिसमें सैकड़ों कथावाचक और प्रवचनकर्त्ता आते हैं और क्षेत्रीय जनता का धार्मिक, सांस्कृतिक उद्बोधन करते हैं।

दीन-दुःखियों की सेवा—दैवी विपत्ति, बाढ़, सूखा आदि पड़ने पर आश्रम विपदाग्रस्त लोगों को शरण देता है।

कबीर मठ मगहर, (बस्ती)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मगहर (बस्ती) में स्थित कबीर मठ, कबीरमठ कबीरचौरा, वाराणसी की शाखा है। कबीरमठ मगहर का सम्बन्ध कबीर साहब के मृत्यु-स्थान से है। यह मठ गोरखपुर नगर से लगभग २५ किलोमीटर पश्चिम बस्ती जनपद के खलीलाबाद तहसील में स्थित है। यह मठ दो भागों में विभक्त है। इसके बीचोबीच एक दीवार बना दी गयी है। एक पर हिन्दू कबीरपंथियों तथा दूसरे पर मुस्लिम कबीरपंथियों का आधार है। दोनों की अपनी अलग-अलग व्यवस्थाएँ हैं। इसके अधिकारी को 'गनी करन कबीर' कहा जाता है। अपनी परम्परा के अनुसार 'गनी करन कबीर' अपने जीवनकाल में ही अपने उत्तराधिकारी का चयन कर लेते हैं। इसी भाग में एक 'रौजा' बना हुआ है। इसी को वे लोग कबीर साहब की समाधि बताते हैं। इसके पूरब एक और समाधि है जो सन्त कमाल की समाधि बतायी जाती है। यह एक कोठरी के भीतर पक्की बनी हुई है। कबीरमठ का यह स्वरूप मुस्लिम 'पीर' के रूप में दिखायी पड़ता है। यहाँ के मुस्लिम कबीर पंथावलम्बी कबीर साहब को भी एक 'पीर' के समान ही मानते हैं।

कबीरमठ मगहर का हिन्दू कबीरपंथियों द्वारा अधिकृत भाग अपेक्षाकृत अधिक सुव्यवस्थित है। इसका निर्माण अधिक विस्तार से कराया गया है। इसके विस्तृत प्रांगण में कबीर साहब की पक्की समाधि बनी हुई है। उसी के पास एक पक्का कुआँ है। इस मठ की स्थापना सन् १४१८ ई० में हुई थी, इसका जीर्णोद्धार सन् १८९८ ई० में कराया गया है।

कबीर मठ मगहर की स्थापना का ठीक समय ज्ञात नहीं है। इसके प्रमुख मठ कबीरमठ कबीरचौरा, वाराणसी की स्थापना का भी ठीक समय ज्ञात नहीं है। इसके मूल प्रवर्त्तक संत सुरत गोपाल माने जाते हैं। संत सुरत गोपाल का जीवनकाल १६वीं शताब्दी के अंत तक समझा जाता है।[1] फिर भी मठ की स्थापना के वर्ष का कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कबीर मठ में सुरत गोपाल से सातवें महंत सुखदास थे। मठ के समीप ही घिरे हुए दूसरे प्रांगण में 'नीरू टीला' है। नीरू

---

१. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, (इलाहाबाद, भारती भंडार प्रेस, १९७२ ई०), पृ० ३०२।

टीला वाले भाग में महंत सुखदास की समाधि है। कहा जाता है कि महन्त सुखदाय के समय में ही कबीरचौरा मठ का स्थान कबीरपंथियों के अधिकार में आया था। सन्त सुखदाय का समय सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध बताया जाता है। इस प्रकार मगहर के कबीर मठ की स्थापना भी १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई होगी।

महन्त परम्परा

कबीर मठ मगहर (बस्ती) कबीर मठ कबीरचोरा वाराणसी की शाखा है। कबीर चौरा के महंत ही मगहर के मठ की व्यवस्था भी देखते हैं। यहाँ के पुजारी की नियुक्ति भी यहीं से होती है। कबीर मठ कबीरचौरा के मूल प्रवर्त्तक महन्त सुरतगोपाल माने जाते हैं। इनके शिष्य महन्त ज्ञानदास थे। इनके बाद यहाँ की महन्त परम्परा में संत श्यामदास, संत लालदास, संत हरिदास, संत शीतल-दास तथा संत सुखदास बताये जाते हैं। संत सुखदास सातवें महंत थे, इनकी समाधि 'नीरू टीले' में वर्त्तमान है। इनके बाद क्रमशः तेरहवीं पीढ़ी में सम्प्रति श्री अमृत-साहब १९६२ में उत्तराधिकारी घोषित कर कर दिये गये थे जो सन् १९७२ से महंत की गद्दी पर प्रतिष्ठित हैं।

सम्प्रदाय-परिचय

प्रस्तुत मठ वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'कबीर पंथ' का अनुयायी है। इस मठ का सम्बन्ध कबीर मठ कबोरचौरा, वाराणसी से है जिसके आदि संस्थापक कबीर के शिष्य सुरतगोपाल जी माने जाते हैं। कबीर मठ कबीरचौरा जहाँ कबीर के जन्म से सम्बन्धित है, वहीं मगहर मठ कबीर के मृत्युस्थान के रूप में प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के लाग सफेद लुंगी, कुर्त्ता तथा तुलसी की माला धारण करते हैं, माथे पर खड़ा टीका लगाते हैं। ये सादा जीवन पसन्द करते हैं और आडम्बर से दूर भागते हैं। कबीर साहब कहा करते थे कि 'हमारा काम केवल नाम का जप करना तथा अन्न का भी जप करना है जो पानी की सहायता से उत्तम बन जाता है।' कबीरपंथी इसी आदर्श को लेकर अन्न त्याग को पाखण्ड और के दूध या फलहार से शरीर रक्षा को बुरा मानते हैं। सादगी और नाम-जप इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता है। इस मठ का उद्देश्य कबीर साहब के मत का प्रचार करना तथा उनकी सामाजिक भावनाओं एवं साम्प्रदायिक विचारों को जनता तक पहुँचाना है। मठ पर पुजारी का कार्य विरक्त ब्रह्मचारी को ही सौंपा जाता है। मुस्लिम कबीर रोजा में 'मुजावर' की नियुक्ति पैतृक आधार पर होती है।

स्थिति, भवन एवं साज-सज्जा

मगहर का कबीर मठ गोरखपुर से बस्ती जाने वाली सड़क पर २५ किमी०

की दूरी पर बायीं ओर स्थित है। यहाँ हिन्दू और मुस्लिम कबीरपंथियों के लिए मठ के प्रांगण को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। एक में हिन्दू कबीरपंथी तथा दूसरे में मुस्लिम कबीरपंथी पुजारी की व्यवस्था है। दोनों के साज-सज्जा की व्यवस्था का भार पुरातत्व विभाग ने स्वयं सम्भाल रखा है। यहाँ उद्यान की सिंचाई के लिए एक ट्यूबवेल भी है जिसके लिए एक आपरेटर, एक माली तथा एक चौकीदार की व्यवस्था की गयी है। कबीरचौरा मठ के माध्यम से यहाँ पुजारी की व्यवस्था कर दी गयी है। कबीर मठ का वातावरण बहुत ही. स्वच्छ एवं शान्तिमय है।

अचल एवं चल सम्पत्ति तथा आय

मगहर मठ से कुछ किलोमीटर की दूरी पर यहाँ की नवीं गद्दी में किसी नवाब द्वारा बलुआ मंझरिया, सहजनवा गोरखपुर में लगभग ४०० एकड़ जमीन दान दी गयी थी जिसमें से मुस्लिम कबीरपंथियों को दी गयी जमीन प्रायः उनके हाथ से निकल चुकी है। हिन्दू कबीरपंथियों ने बहुत-सी जमीन गरीबों को दान में दे दी, फिर भी ६५ एकड़ भूमि अब भी बची हुई है। यहां मठ की ओर से ट्यूबवेल, ट्रैक्टर आदि कृषि उपकरणों की व्यवस्था है। कृषि की आय का कुछ अंश आवश्यकतानुसार मगहर मठ के भण्डारे आदि में लगता है। वैसे मगहर मठ की व्यवस्था के लिए सरकार की ओर से पर्याप्त सुविधा प्रदान की गयी है। खेती से लगभग २० हजार वार्षिक की आय होती है जिसका हिसाब-किताब कबीरचौरा का कबीर मठ रखता है।

प्रशासन-तन्त्र

मठ का पूजापाठ सम्बन्धी प्रशासन-तन्त्र कबीर मठ कबीरचौरा, वाराणसी से नियन्त्रित है। उसकी देखरेख तथा साज-सज्जा की व्यवस्था शासन के पुरातत्व विभाग द्वारा स्वयं की जाती है। सम्प्रति महंत श्री अमृतदास, अधिकारी बाबा गंगा शरण शास्त्री और कोठारी मास्टर अयोध्यादास हैं। सम्पूर्ण व्यवस्था ट्रस्ट के अन्तर्गत संचालित है।

आगन्तुक-विवरण

यहाँ प्रतिदिन औसतन २५ दर्शनार्थी आते हैं। कबीर जयंती के अवसर पर विशेष समारोह भी होता है। स्थायी रूप से मठ में दो पुजारी रहते हैं।

मठ में साधुओं की दिनचर्या

यहाँ प्रातः ७ से ८ बजे तक बीजक ग्रन्थ का पाठ, सायं ढ़ाई बजे से सद्गुरु का ध्यान तथा रात्रि में घड़ी-घण्टा बजाकर गुरुपूजन का कार्य-क्रम चलाया जाता

है। साधुओं की दिनचर्या में सादगी, सरलता और आडम्बरहीनता दिखायी पड़ती है।

विवाद एवं मुकदमें

मगहर मठ के विरुद्ध कोई विवाद अथवा मुकदमा नहीं है। दोनों मठों की कार्य-प्रणाली से हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल मिलता है।

राजनीजिक-सहभागिता

मगहर मठ के साधु पूजा-पाठ में व्यस्त रहते हैं, सादगी के साथ जीवनयापन करते हैं। राजनीति से इन्हें कोई वास्ता नहीं है।

सामाजिक सेवा-कार्य

मगहर मठ का सबसे बड़ा सामाजिक कार्य हिंदू-मुस्लिम एकता के रूप में सम्पादित हो रहा है। यहाँ के पुजारी दर्शनार्थियों को कबीर के सम्बन्ध में भली प्रकार प्रेरित कर कबीर से सम्बद्ध अन्य स्थानों की भी जानकारी देते हैं। मगहर कबीर मठ जहाँ एक ही प्रांगण में (केवल एक दीवाल के अन्तर से) हिंदू कबीरपंथी एवं मुस्लिम कबीरपंथी दोनों अपने विश्वास के अनुसार एक ही महात्मा की समाधि के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं तथा परस्पर मैत्रीभाव एवं सहयोग के साथ रहते हैं, उससे सांस्कृतिक सद्‌भाव एवं राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलता है।। शैक्षिक-क्षेत्र में भी मठ का योगदान है। 'संत कबीर आचार्य रामविलास इण्टर कालेज मगहर' में एक हजार छात्र एवं ४१ अध्यापक अध्ययन अध्यापन में लगे हुए हैं।

माघ शुल्क एकादशी को कबीर-निर्वाण तिथि मनायी जाती है। इसी प्रकार १४ जनवरी को मकरसंक्रान्ति का मेला लगता है जिसमें यहाँ की जनता भाग लेती है। मुस्लिम मठ में भी २७ 'रजब' को भण्डारा होता है जिसमें दीन-दुःखियों तथा फकीरों को भोजन कराया जाता है।

तालिका संख्या–४

वैष्णव मठों का सामान्य विवरण

क्र.सं.	मठ का नाम	सम्प्रदाय का नाम	सम्बन्धित सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक	मठ के संस्थापक का नाम	समय	वर्त्तमान महंत का नाम	वर्ष	मठ के प्रशासनिक पद	विशेष विवरण
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१–	श्री रूप गौड़ीय मठ (इलाहाबाद)	गौडीय संप्रदाय	चैतन्य देव	जीव गोस्वामी तथा रूप गोस्वामी	१६वीं शताब्दी	भक्ति केवल आंडुलोमी महाराज मठरक्षक-सुबल सुखदास ब्रह्मचारी	१९४०	अध्यक्ष सचिव, सहा० सचिव, सदस्य, मठ रक्षक, पुजारी	यह रूप गौडीयमठ बाग बाजार कलकत्ता के पंजीकृत न्यास के अन्तर्गत शाखा मठ है।
२–	श्री वैष्णवाश्रम रामानुज कोट, (इलाहाबाद)	श्री संप्रदाय	रामानुजाचार्य	श्रीराम प्रपन्नाचार्य	सन् १९२५	श्री सीताराम आचार्य	१९६६	महंत, उपमहंत, सदस्य, कोठारी पुजारी, भंडारी	श्री महंतजी महाराज देव प्रयाग न्यास परिषदका मुख्यालय।
३–	कबीर कीर्ति मंदिर मठ (वाराणसी)	कबीरपंथ	संत कबीर के प्रधान शिष्य धर्मदास	श्री खेमदास	सन् १९६७	श्री रामस्वरूप दास		महंत, दीवान, कोठारी, पुजारी, भंडारी,	श्री कबीर आश्रम जामनगर, सौराष्ट्र की शाखा (न्यास परिषद् के अंतर्गत)
४–	लोटाटीला मठ (वाराणसी)	रामावत	स्वामी रामानंद	स्वामी लोटादास	सन् १७०६	श्री रामकिशोर दास	१९६४	महंत, पुजारी, कोठारी, अधिकारी।	प्रधान मठ

१	२.	३	४	५	६	७	८	९	१०
५—गोविन्द साहब मठ (आजमगढ़)		बावरीपंथी	बावरी साहिबा	गोविन्द साहब	सन् १८५०	राम निहालदास (विवादास्पद)	१९७६	महंत, पुजारी	महंत पद पर विवाद की स्थिति में संप्रति न्ययालय द्वारा रिसीवर नियुक्त है।
६—पवहारी वैष्णवाश्रम (मठ) (देवरिया)		रामावत	स्वामी रामानन्द	श्री लक्ष्मीनारायण दास	१८०३	श्री ऋषिरामदास	१९५८	महंत अधिकारी, सहा०अधिकारी, कोठारी, पुजारी	—
७—भुड़कुड़ा मठ, (गाजीपुर)		बावरी	बावरी साहिबा	श्री बूलासाहब	१६३२	श्री रामाश्रय दास	१९६९	महंत, अधिकारी कोठारी, पुजारी भंडारी	बावरी पंथ की आचार्य गद्दी।
८—परमहंस आश्रम (देवरिया)		श्रीवैष्णव	रामानुजाचार्य	अनंत महाप्रभु	१८७६	परमहंस चन्द्रदेव शरण	१९७२	महंत (व्यवस्थापक) पुजारी	बाबा राघवदास पूर्वी उ०प्र० के गांधी के रूप में विख्यात थे।
९—कबीरमठ, मगहर, (बस्ती)		कबीरपंथ	कबीरदास के प्रधान शिष्य संत सुरत गोपाल	श्री सुखदास	१७वीं शताब्दी	श्री अमृत साहब	१९७२	महंत,अधिकारी, कोठारी	यह मठ कबीरचौरा वाराणसी की शाखा मठ है। इसके अधिकारी को गनीकरन कहते हैं। यहां मुसलमानी रोजा भी न्यास के अन्तर्गत है।

6

तथ्य विश्लेषण

(क) मठ : सामाजिक संरचना

अध्ययन में लिए गए मठों की सामाजिक संरचना के विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रायः सभी मठ अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समान विचार वाले ऐसे विरक्त व्यक्तियों के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों पर आधारित हैं जो उस सम्प्रदाय में दीक्षित हो चुके हैं तथा स्थायी रूप से पारिवारिक जीवन को त्यागकर मठीय जीवन स्वीकार कर लिए हैं। मठों पर रहने वाले इन विरक्त साधुओं की निश्चित आचार-संहिता है। इनमें श्रम-विभाजन के सिद्धान्तानुसार कार्य-निर्धारण है और भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले साधुओं के निश्चित नाम और 'पद' हैं – श्रीमहन्त, महन्त, अधिकारी, कोठारी, कोतवाल, पुजारी और भण्डारी के रूप में साधुओं का पद और कार्य निश्चित है। कुछ मठों पर पुजारी और भण्डारी का कार्य साधु-वृत्ति वाले गृहस्थों को सौंपा गया है, जो मठ के नियमित वेतनभोगी कर्मचारी हैं। इसी प्रकार सेवा और श्रम सम्बन्धी कुछ विशेष कार्यों के लिए भी कुछ मठों पर नियमित परिचारक हैं और कुछ मठों पर इन कार्यों के लिए भी मठ पर रहने वाले स्थायी साधु ही नियुक्त हैं।

मठों की सामाजिक संरचना के अध्ययन से उनके संगठन में स्तरीकरण के प्रचलित व्यवस्था की भी जानकारी हुई है। एक मठ से सम्बन्धित साधु अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों तथा सम्प्रदायगत संस्कारों के आधार पर विभिन्न स्तरों में विभक्त हैं। यथा—दशनाम शैव संन्यासी—दण्डी और त्यक्त दण्डी इन मुख्य स्तरों में विभक्त हैं। त्यक्त दण्डी में भी दो स्तर हैं—नागा और परमहंस। नागा साधु प्रायः भ्रमणशील रहकर धर्म प्रचार तथा मठ की सम्पत्ति का संरक्षण और सम्बर्द्धन करते हैं जबकि परमहंस मुख्यतः मठों पर, तीर्थस्थानों पर साधनारत रहते हैं। दण्डी संन्यासी धर्मोपदेशक तथा आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

वैष्णव मठों तथा अखाड़ों के साधु भी विभिन्न स्तरों से होकर नागा और अतीत के उच्चस्तर पर पहुँचते हैं। वैष्णव नागा जमात में प्रवेश चाहने वाले साधु को— यात्री', 'छोरा', 'वन्दगीदार', 'हुड़दंग' और 'मुदाठिया' के स्तर पर अपने निश्चित कार्य को एक निश्चित अवधि तक सम्पन्न करने के अनन्तर ही 'नागा' स्तर

में प्रवेश मिलता है जिसमें से सदर 'नागा' का चुनाव होता है। नागा साधु ही अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों के अनन्तर 'अतीत' हो जाता है, जिसे साधना की सर्वोच्च स्थिति में पहुँचा हुआ माना जाता है।

वैष्णव तथा शैव मठों पर रहने वाले साधु अपने एक ही इष्टदेव तथा साधक-गुरु से सम्बन्धित होने के आधार पर भ्रातृभाव से परस्पर घनिष्ट रूप में सम्बन्धित होते हैं। इनका जीवन प्रतिमान, दैनन्दिन कार्यक्रम तथा धार्मिक अनुष्ठान एवं कर्मकाण्ड प्रायः समान होता है। मनुष्य का कार्य एवं व्यवहार उसके विचारों द्वारा निर्देशित होता है, यही कारण है कि मठ पर रहने वाले साधुओं के कार्य-व्यवहार उनके दार्शनिक विश्वासों पर आधारित होते हैं। अध्ययन किए गए मठों से सम्बन्धित तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि केवल 'महन्त' अथवा मठ का मठाधीश अपने दार्शनिक विश्वास के अनुसार क्षेत्रीय जनता तथा अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को धार्मिक अथवा नैतिक उद्बोधन करता है जबकि अन्य साधु मठ की सम्पत्ति के संरक्षण-सम्बर्द्धन में व्यस्त रहते हैं। समाज के अन्य वर्गों से इनका सम्बन्ध सदैव बना रहता है।

आन्तरिक व्यवस्था एवं प्रशासन

मठ की आन्तरिक व्यवस्था उसके सदस्यों द्वारा अपनी निर्धारित भूमिका के अनुपालन पर निर्भर है। जिन मठों के साधु अपनी निश्चित भूमिका का पालन तत्परता से कर रहे हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्ध सुदृढ़ हैं और व्यवस्था में सन्तुलन है। इसके विपरीत जिन मठों के साधु दिन भर बैठे रहकर आलस्यपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जीविका के लिए केवल दान पर निर्भर हैं, वहाँ आन्तरिक व्यवस्था में असन्तुलन है और अन्तःसम्बन्धों में कटुता एवं अविश्वास के चिह्न स्पष्ट हैं। वैष्णव मठों की अपेक्षा शैव मठों के पास अचल सम्पत्ति अधिक है।

मठों की आन्तरिक व्यवस्था बहुत कुछ मठाधीश के व्यक्तित्व पर निर्भर परिलक्षित हुई। जिन मठों के महन्त प्रभावशाली हैं, शिक्षित हैं और जिन्हें राजनीतिक समर्थन प्राप्त हैं, वहां साधुओं में परस्पर विवाद नहीं हैं, इसके विपरीत जिन मठों के महन्त प्रभावहीन हैं, अशिक्षित हैं, साधनहीन और साधनारहित हैं वहां के साधुओं के पारस्परिक सम्बन्ध तनावपूर्ण हैं। अघोरपंथ से सम्बन्धित कीनाराम मठ, हरिहरपुर के अध्ययन से यह तथ्य प्रकट हुआ है कि नशीले पदार्थों का सेवन करने वाले साधुओं के मठ असामाजिक तत्वों के विश्रामगृह बनते जा रहे हैं। मांस, मदिरा, गांजा, भांग के आदान-प्रदान में मठ के साधु मठ की सम्पत्ति नष्ट कर रहे हैं।

परम्परागत ढंग पर महंत ही मठ के प्रशासन के लिए उत्तरदायी माना जाता है। किन्तु अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि मठों का प्रशासन शनैः-शनैः औपचारिक स्वरूप ग्रहण करता जा रहा है।

नीचे दी गयी सारणी सं० १ से स्पष्ट है कि अध्ययन के अन्तर्गत लिए गए मठों में ५० प्रतिशत ने न्यास का गठन कर लिया है तथा उसका पंजीकरण सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अन्तर्गत करा लिया है। यह स्थिति शैव तथा वैष्णव मठों में प्रायः एक जैसी ही है फिर भी शैव मठ 'न्यास गठन' की प्रक्रिया में अधिक सक्रिय हैं। न्यास युक्त शैव मठों का प्रतिशत ३० है जबकि न्यास युक्त वैष्णव मठों का प्रतिशत २० ही है। न्यास युक्त मठों पर पूर्णतया प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली से कार्य किया जाता है जैसा कि परिशिष्ट सं० १ में संलग्न महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा की नियमावली से स्पष्ट है कि वहाँ सभी निर्णय सर्वसम्मति से लिए जाते हैं तथा सभी सदस्यों को मताधिकार का समान अधिकार प्राप्त है, किसी को भी विशेषाधिकार (वीटो) नहीं दिया गया है।

सारणी संख्या—१
पंजीकृत न्यास (ट्रस्ट) के अन्तर्गत मठों का विवरण
(वर्ष १९७९—८०)

मठ के प्रकार	मठ जहाँ न्यास हैं		मठ जहाँ न्यास नहीं हैं		कुल मठ
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	
शैव मठ	६	३०·०	५	२५·०	११
वैष्णव मठ	४	२०·०	५	२५·०	९
योग	१०	५०·०	१०	५०·०	२०

पचास प्रतिशत मठों पर न्यास न बन पाने का कारण महंतों की अधिनायकवादी प्रवृत्ति है। ऐसी प्रवृत्ति वाले महंत मठ पर अपना एकाधिपत्य बनाये रखना चाहते हैं, वे न्यास का गठन करके उसके सदस्यों के हाथ की कठपुतली नहीं बनना चाहते हैं। जिन मठों के महंत शिक्षित, प्रबुद्ध तथा वैयक्तिक स्वार्थों से परे हैं वे सभी किसी न किसी प्रकार का न्यास बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। मठों की सम्पत्ति की सुरक्षा न्यास गठन से ही सम्भव है।

दशनाम नागा संन्यासी श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी की परिनियमावली में श्रीमन्हत, महन्त, कारबारी सेक्रेटरी, कोठारी, थानापति, रमता पंच आदि

की स्पष्ट परिभाषा दी हुई है और श्रीपंच तथा कार्यकारिणी के गठन की प्रजातांत्रिक प्रणाली, पदाधिकारियों के अधिकार और कर्त्तव्य का स्पष्ट उल्लेख है। पदाधिकारियों के लिए सरकारी अधिकारियों जैसी 'मुहर' बनी हुई है।

जिन मठों ने अभी 'न्यास' के रूप में अपना पंजीकरण नहीं कराया है; उनके महंत भी इस दिशा में सोच रहे हैं। वह किसी न किसी प्रकार की विधि सम्मत व्यवस्था के पक्ष में हैं किन्तु सरकारी नियंत्रण से बचना चाहते हैं। परंपरागत ढंग से मठों का प्रशासन जहाँ 'महंत केन्द्रित' है वहाँ मठ व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। सिद्धान्ततः किसी महंत को मठ की सम्पत्ति का व्यक्तिगत हित में उपभोग वर्जित है। उसे केवल धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति में मठ की सम्पत्ति का विनियोजन करना चाहिए, किन्तु अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि कोई भी महंत इस सैद्धांतिक उत्कर्ष को नहीं प्राप्त कर सका है। महंत स्वविवेक से मठ की संपत्ति का उपयोग सार्वजनिक हित में, व्यक्तिगत हित में अथवा धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति में कर रहे हैं। इसे प्रतिबन्धित करने की कोई व्यवस्था उन मठों पर नहीं है जहाँ कोई 'न्यास' पंजीकृत नहीं हुआ है।

सामाजिक अन्तर्क्रिया

मठों पर रहने वाले साधु वाह्य समाज से मुख्यतः दो रूपों में अन्तर्क्रिया करते हैं, व्यक्तिगत रूप में और संगठन के रूप में। व्यक्तिगत रूप में किसी मठ के साधु अपने विद्यार्थी जीवन के सहपाठियों तथा अपनी किसी विशिष्ट रुचि—यथा लेखन, संगीत, चित्रकारी, राजनीतिक क्रियाकलाप से सम्बन्धित मित्रों से अंतःक्रिया करते हैं। विचारों एवं भावनाओं का परस्पर आदान प्रदान करते हैं। व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे के सुख-दुःख में भी सम्मिलित होते हैं। संगठन के रूप में एक मठ का साधु दूसरे मठ से तथा अपने शिष्य वर्ग से अन्तर्क्रिया करता है।

संगठन के रूप में मठ मुख्यतः तीन अवसरों पर सामाजिक अन्तर्क्रिया करता है। (१) 'भण्डारा'—या मठ द्वारा अवसर विशेष पर आयोजित 'सामूहिक भोज' के अवसर पर। (२) धार्मिक कार्यों के सम्पादन के समय। (३) दैवी संकट या सार्वजनिक समस्याओं की स्थिति में। मठों पर दो तरह का भण्डारा आयोजित होता है- -'व्यष्टि' भण्डारा में अन्य मठों से एक या दो साधु प्रतिनिधि के रूप में आमंत्रित किए जाते हैं जबकि 'समष्टि' भण्डारा में आतिथेय मठ द्वारा अन्य मठों के सभी साधु भोजन के लिए निमंत्रित किए जाते हैं। साधुओं के अतिरिक्त संस्कृत पाठशालाओं के ब्रह्मचारी बटु तथा आचार्य भी समष्टि भण्डारा के समय आमन्त्रित किए जाते हैं। इस अवसर पर विभिन्न सम्प्रयाय के साधु एक ही भण्डारे का भोजन पाते हैं, उनमें कोई भेदभाव नहीं किया जाता है। इतना अवश्य ध्यान

रखा जाता है कि विभिन्न सम्प्रदाय के साधुओं की अलग-अलग 'पंगति' (पंक्ति) बनायी जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मचारियों तथा ब्राह्मण आचार्यों की पंक्ति अलग होती है।

आतिथेय मठ की ओर से भण्डारा के समय आमंत्रित साधु, ब्राह्मण तथा आचार्य को तिलक लगाकर दक्षिणा, उपहारादि-अंचला, लंगोटी देकर सम्मानित किया जाता हैं। दक्षिणा देते समय साधुओं की 'प्रस्थिति' को ध्यान में रखा जाता है अर्थात् जो जितने बड़े मठ का महन्त या अधिकारी होगा, जिसकी जितनी अधिक प्रतिष्ठा होगी उसको उसी अनुपात में दक्षिणा अधिक दी जाती है। सामान्य साधुओं, छात्रों को लगभग समान दक्षिणा ही दी जाती है। धार्मिक उत्सवों पर विशेषतः कुम्भ मेला के समय महामण्डलेश्वरों या अन्य प्रतिष्ठित मठों के महन्तों के शिष्यों द्वारा भी अपने 'गुरु' की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए भण्डारा आयोजित किया जाता है और सभी आमंत्रित साधुओं को सुन्दर मिष्ठान्न तथा पक्वान खिलाया जाता है। इस अवसर पर प्रचुर धन दक्षिणा के रूप में दिया जाता है। वर्ष १९७७ ई० में प्रयाग में कुम्भ के अवसर पर अखाड़े के मण्डलेश्वर गीता भारती द्वारा आयोजित 'भण्डारा' में कुल प्रायः पाँच हजार साधुओं, महन्तों तथा उनसे सम्बन्धित विशिष्ट विद्वानों, आचार्यों को आमंत्रित किया गया था, जिसमें शोधकर्ता भी सम्मिलित था। इस अवसर पर देखा गया कि भण्डारे में भोजनोपरान्त समस्त अतिथियों को पूजा स्वरूप ग्यारह रुपये से एक सौ एक रुपये तक की भेंट स्तर के अनुरूप प्रदान की गयी। बड़े महन्तों, अखाड़े के सचिवों तथा आमंत्रित मण्डलेश्वरों को स्टेनलेस स्टील की थाली, कटोरी, गिलास और लोटा तथा रेशमी चादर भेंट की गयी। इस समष्टि भण्डारा के आयोजन में लगभग एक लाख रुपये का व्यय अनुमानित किया गया। शोधकर्त्ता को विश्वसनीय ढंग से यह जानकारी हुई है कि ऐसे अवसरों पर व्यय का अधिकांश भार महंत के सम्पन्न शिष्यों द्वारा वहन किया जाता है।

'भण्डारा' समारोह एक मठ को साधु-समाज में सम्मान प्रदान करता है। किसी मठ के नए उत्तराधिकारी के अभिषेक अथवा पुराने महंत के ब्रह्मलीन होने पर भण्डारा का आयोजन अनिवार्य है। यह एक प्रकार से सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करने का साधन है। मठों पर भण्डारे के माध्यम से साधुओं में भ्रातृभाव तथा घनिष्टता में वृद्धि होती है। एक संगठन के रूप में मठ की सामाजिक अन्तर्क्रिया का यह प्रधान स्वरूप है।

धार्मिक अवसरों पर मुख्यतः मठ के आराध्य देवता की जयन्ती अथवा साम्प्रदायिक विश्वासों के प्रचार-प्रसार हेतु आयोजित प्रवचन के समय सभी मठों के साधु एक ही मंच पर एकत्र होते हैं और सामाजिक अन्तर्क्रिया करते हैं। यथा—

शैव मठ के साधु किसी वैष्णव मठ द्वारा आयोजित 'रामनवमी' अथवा 'कृष्ण जन्माष्टमी' के समारोह में निःसंकोच सम्मिलित होते हैं। अनेक शैव मठों पर भी विजयादशमी और जन्माष्टमी का पर्व धूमधाम से मनाया जाता है। शैव तथा वैष्णव मठों में पारस्परिक सद्भाव और समन्वय की भावना परिलक्षित हो रही है। पहले जैसा तनाव नहीं है।

धार्मिक प्रवचन का आयोजन जब कभी शैव या वैष्णव मठ द्वारा किया जाता है तो बिना किसी भेद-भाव के प्रायः सभी मठों के प्रतिनिधि एक ही मंच से धर्म सम्बन्धी चर्चा करते हैं। अध्ययनार्थ लिए गए मठों की विवेचना से स्पष्ट हुआ है कि सुधारवादी संतों के नाम पर स्थापित मठों (कबीरपंथी या बावरीपंथी अथवा गुलालपंथी) पर आयोजित धार्मिक प्रवचनों में परम्परावादी रामानुजी श्री वैष्णव अथवा दशनामी दण्डी, परमहंस सम्मिलित नहीं होते हैं। परम्परावादी वैष्णव मठ सुधारवादी वैष्णव मठों से अपनी भिन्नता बनाए हुए हैं। दशनामी शैव मठ, गोरखपंथी तथा वीर शैव मठों के अधिक सन्निकट हैं जबकि अघोरपंथी मठों से पर्याप्त दूर हैं। हिन्दू समाज में आज भी दशहरा, दीपावली और होली जैसे सामान्य पर्व मान्य हैं जिनमें बिना किसी भेद-भाव के सभी विश्वासों के लोग सम्मिलित होते हैं और पारस्परिक अन्तर्क्रिया करते हैं। किसी मठ द्वारा आयोजित धार्मिक यज्ञ में भी अन्य मठों के साधु सम्मिलित होते हैं।

दैवी-संकट या सार्वजनिक समस्याओं के समाधान के लिए भी विभिन्न सम्प्रदायों के मठ सामाजिक अन्तर्क्रिया में भाग लेते हैं। बाढ़, सूखा अथवा अकाल के समय मठ, अखाड़े और आश्रम के साधु अपनी क्षमता के अनुरूप संकटग्रस्त लोगों की सहायता करते हैं। अपने धार्मिक हितों की रक्षा के लिए भी सभी मठ संयुक्त प्रयत्न करते हैं। यदि मठों की व्यवस्था के लिए सरकार कोई अध्यादेश लाना चाहती है अथवा कोई बिल प्रस्तुत करती है तो सभी सम्प्रदायों के मठाधीश संयुक्त रूप से उसका विरोध करते हैं। गोहत्या निषेध जैसे सार्वजनिक प्रश्न पर हिंदू समाज के सभी मठ संयुक्त विरोध प्रकट करते हैं।

उपर्युक्त सहयोगी क्रियाओं के अतिरिक्त कुछ अवसरों पर विभिन्न सम्प्रदाय के मठों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एवं द्वेष-भाव का भी प्रदर्शन होता है। यथा—कुम्भ के अवसर पर विभिन्न मठों और अखाड़ों की शोभा-यात्रा में एक दूसरे से आगे चलने तथा अधिक रंग-विरंगा प्रदर्शन करने की होड़ लग जाती थी—अतीत में पहले कौन स्नान करेगा? इस प्रश्न पर नागा संन्यासियों और वैरागी वैष्णवों में अनेक बार सशस्त्र संघर्ष हो चुके हैं। अध्ययन क्षेत्र में लिए गए मठों में सम्प्रति कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है, किन्तु अपने को एक दूसरे से अधिक योग्य तथा सम्पत्तिशाली

प्रदर्शित करने की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। आधुनिक चिन्तन के प्रभाव-स्वरूप विभिन्न सम्प्रदाय के महंतों में सामंजस्य की भावना का विकास दिखाई पड़ रहा है। सर्वधर्म सम-भाव का विचार तेजी से फैल रहा है। मानव मात्र की सेवा--भूखे को भोजन और रोगी को दवा देना सभी श्रेयस्कर मानने लगे हैं।

बाह्य समाज से मठ की अन्तर्क्रिया

एक सामाजिक संगठन अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही सम्पूर्ण समाज से अन्तर्क्रिया करता है। मठों की स्थापना के मूल उद्देश्य के रूप में अपने धार्मिक विश्वास का प्रचार करना, अन्य धार्मिक विश्वासों का खण्डन करना प्रारम्भ से ही स्वीकृत है। मठ पर रहने वाले साधुओं की जीविका तथा आवास का प्रबन्ध करना और उन्हें धर्म-प्रचार के साधन के रूप में प्रयोग करने के लिए अर्थ की व्यवस्था करना मठों का गौण उद्देश्य रहा है।

आदिशंकराचार्य ने अपने अनुयायी साधुओं के लिए 'महानुशासनम्' में स्पष्ट उल्लेख किया है कि धर्म की रक्षा करना तथा धर्म का पालन करने के लिए प्रेरित करना साधुओं का प्रधान दायित्व है। इस कार्य के लिए साधुओं का दायित्व ठीक वैसा ही है जैसा कि कानून और व्यवस्था का अनुपालन कराने के लिए राजा का दायित्व है।[1] मठों के आचार्यों को धर्म-प्रचार के लिए अपने क्षेत्र में परिभ्रमण करना चाहिए और यह पता लगाना चाहिए कि कितने लोग धर्म का पालन नहीं कर रहे हैं, उन्हें अपने धर्म का पालन करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। इस बात के लिए प्रयत्न होना चाहिए कि सभी लोग वर्णाश्रम-धर्म का पालन स्वेच्छा से करें।

उपरिलिखित धार्मिक कर्त्तव्य के अनुपालनार्थ शंकराचार्य ने संन्यासियों को अपने क्षेत्र की जनता से धन-संग्रह का अधिकार प्रदान किया है और इसका औचित्य सिद्ध करते हुए लिखा है--जिस प्रकार राजा को अपनी प्रजा से 'कर' लेने का अधिकार है क्योंकि वह प्रजा की तथा पूरे देश की रक्षा करता है, उसी प्रकार

1. "The ascetics have special responsibility, of protecting and enforcing the Dharma in the same manner as a ruler is responsible for the maintenance of law and order."

—Surjit Sinha & Baidya Nath Saraswati.
Ascetics of Kashi. (op. cit.), p. 168.

महन्त या पीठाधीश्वर को अपने भक्तों से भी दान या पूजा के रूप में धन लेने का अधिकार है क्योंकि वह उनके धर्म की रक्षा करता है।

अतीत में मठाधीशों ने न केवल सामान्य जनता से ही धर्म की रक्षा के लिए धन लिया है अपितु राजाओं, नवाबों, तालुकेदारों से भी धर्म-रक्षार्थ वार्षिक भेंट (नजराना) प्राप्त किया है। कच्छ, ग्वालियर, जोधपुर, बीकानेर, इन्दौर, भोपाल जैसी रियासतों से मठों और अखाड़ों को वार्षिक भेंट दी जाती रही है। रियासतों से इन मठों को माफी के रूप में पर्याप्त भूमि भी दी गयी था, जिसकी लगान नहीं ली जाती थी। कुछ मठों की उल्लेखनीय जमींदारी भी थी, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर समाप्त हो गयी।

वर्त्तमान समय में मठों को राजाओं, नवाबों और पुराने जमींदारों से आर्थिक सहायता नहीं मिल पा रही है जिसकी आंशिक पूर्त्ति पूँजीपति, सेठ, साहूकार कर रहे हैं किन्तु वह मठों की व्यवस्था के लिए अपर्याप्त है। यही कारण है कि प्रायः सभी मठ विविध स्रोतों से अर्थ-संग्रह का प्रयास कर रहे हैं जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। इस अर्थ-संग्रह की प्रक्रिया में मठों की बाह्य समाज से होने वाली अन्तर्क्रिया ने महन्तों की प्रतिष्ठा को बहुत क्षति पहुँचाई है।

एक महन्त जब रुपया देने वाले महाजन के रूप में, व्यापारी के रूप में; बड़े काश्तकार के रूप में मकान मालिक के रूप में अथवा किसी सामाजिक संस्था के प्रबन्धक या प्रशासक के रूप में बाह्य समाज से अन्तर्क्रिया करता है तो जिससे उसकी अन्तर्क्रिया होती है, वह स्वार्थवश महंत की धार्मिक-छवि, उसके विशिष्ट व्यक्तित्व की बिना कोई परवाह किए अपना अधिक से अधिक लाभ लेना चाहता है जिसे महंत नहीं होने देता है। परिणामतः महंत और उस गृहस्थ के बीच सम्बन्धों में कटुता आने लगती है।

मठीय व्यवस्था जहाँ तक और जितने अंश में गृहस्थों से आर्थिक आधार पर अन्तर्क्रिया कर रही है उतने ही अंश में उसकी प्रतिष्ठा कम हो रही है। सामान्य जनता धर्म के प्रतीक अपने 'महन्त' को व्यापारी, किसान, मकान-मालिक और प्रशासक प्रबन्धक के रूप में उतना सम्मान नहीं प्रदान करती है जितना कि एक त्यागी, निष्काम, समाजसेवी सिद्ध साधु को प्रदान करती है। आर्थिक लाभ कमाने वाले कार्यों में लीन महन्तों को साधारण जनता शोषक के रूप में देखती है। दूसरों की अनभिज्ञता, सरलता, श्रद्धा-भक्ति का लाभ उठाकर धन एकत्र करने वाले अधिकांश महन्त धन का उपभोग आधुनिक सभ्यता के प्रतीकों—मोटरकार, फ्रीज, टेलीफोन, कूलर आदि को जुटाने में कर रहे हैं, जो उन्हें अपने मुख्य कार्य से विचलित कर सांसारिकता में निमग्न करने में सहायक है। ऐसे महन्तों के लिए सामान्य जनता में अनेक मुहावरे प्रचलित है। यथा—

'जब ले निर्धन तब ले सधुआई।
धन भइले सधुओ बउराई॥'

धार्मिक उद्देश्य से अन्तर्क्रिया

मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध साधु धार्मिक उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए बाह्य समाज से तीन रूपों में अन्तर्क्रिया करता है :—

(१) **अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करके**—शैव तथा वैष्णव मठों पर अपने सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत में विश्वास रखने वाले गृहस्थ शिष्यों को दीक्षित करने या 'गुरुमुख' करने की परम्परा प्रचलित है। कन्नौजिया तथा सारस्वत ब्राह्मणों एवं अन्य द्विजों में ऐसी मान्यता है कि गुरुमुख हुए बिना कोई धार्मिक कार्य करने पर भी उसका पूर्ण 'फल' नहीं प्राप्त होता है अतः गुरुमुख होना अनिवार्य मानते हैं। यही कारण है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश के मठों से बहुत बड़ी संख्या में हिन्दुओं का गुरु-शिष्य का सम्बन्ध कई पीढ़ी पूर्व से चला आ रहा है। मठ के महन्त इन शिष्यों के यहाँ आयोजित धार्मिक उत्सवों—यज्ञ, कीर्त्तन, कथा-प्रवचन के समय जाते हैं और गुरुपूर्णिमा अथवा मठ के संस्थापक की जयन्ती या भण्डारा के समय शिष्य अपने गुरु पीठ पर आकर पूजा चढ़ाते हैं। मठीय व्यवस्था को समाज से जोड़नेवाली शृंखला के रूप में गुरु-शिष्य परंपरा का महत्व सर्वाधिक है।

(२) **कथा-प्रवचन के माध्यम से**—अपने सामाजिक परिवेश से अन्तर्क्रिया करने का दूसरा महत्वपूर्ण माध्यम मठ पर नियमित कथा-प्रवचन का आयोजन है। अधिकांश मठों पर प्रतिदिन सायंकाल 'आरती' के उपरान्त धार्मिक प्रवचन का आयोजन होता है जिसमें मठ के पुजारी, महन्त अथवा किसी आमंत्रित साधु द्वारा भागवत कथा, गीता-प्रवचन अथवा रामचरित मानस की कथा आयोजित होती है। इस अवसर पर मठ के समीपस्थ गाँव या नगर के श्रद्धालु प्रेमी, भक्त और सत्संगी आते हैं और प्रवचन से लाभान्वित होते हैं। जब किसी मठ के महात्मा की ख्याति दूर दूर तक फैल जाती है तो इस तरह के प्रवचन के समय बहुत बड़ी संख्या में लोग आते हैं। परमहंसाश्रम बरहज, गीता स्वामी मठ, मीरजापुर तथा गोरखनाथ मठ, गोरखपुर, रूपगौड़ीय मठ, इलाहाबाद में नित्य सायंकाल आयोजित प्रवचन सुनने के लिए बड़ी संख्या में लोग पहुँचते हैं।

(३) **आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करके**—मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध साधु भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों की प्राप्ति के लिए आदर्श प्रतिष्ठापन, दुःख निवारण और धर्म-रक्षा सम्बन्धी कार्यों से समाज के अन्य समूहों के साथ अन्तर्क्रिया करते हैं।

हिन्दू समाज के समक्ष आदर्श जीवन का प्रतिमान प्रस्तुत करना मठों की स्थापना का प्रधान उद्देश्य रहा है। यही कारण है कि मठों पर रहने वाले साधु स्वयं कष्ट सहन करके अपमानित होकर भी ऐसा कोई कार्य नहीं करते जो समाज के समक्ष गलत उदाहरण प्रस्तुत करे। त्याग-तपस्यापूर्ण आस्थामय सात्विक जीवन प्रतिमान प्रस्तुत करके मठ के साधु अपने सम्पर्क में आने वाले गृहस्थों को भी आदर्श जीवन की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

समाज में व्याप्त निर्धनता, अज्ञान एवं व्याधिजन्य दुःखों के निवारणार्थ मठीय व्यवस्था लोगों को कर्मठता का जीवन बिताने की प्रेरणा देने के अतिरिक्त व्यायामशाला, पाठशाला, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाले विद्यालयों तथा चिकित्सालयों की स्थापना करके सामाजिक अन्तर्क्रिया को महत्त्व प्रदान करती है।

धर्म-रक्षा की दृष्टि से मठीय व्यवस्था की सामाजिक अन्तर्क्रिया सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रायः सभी मठों का प्रधान कार्य बाह्य समाज अथवा विधर्मियों से हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज पर होने वाले आक्रमणों से रक्षा करना है। धर्म-रक्षा के कार्य में मठों पर रहने वाले साधु-महात्माओं, महन्त, नागा और वैरागी संन्यासियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का परिचय मुस्लिम शासनकाल में ही प्राप्त हो चुका है। अनेक हिन्दू-मन्दिरों की रक्षा में नागा संन्यासियों ने अपसे प्राणों की बाजी लगा दी और विधर्मी आक्रामकों को परास्त किया। शस्त्र और शास्त्र दोनों की सहायता से धर्म-रक्षा का कार्य मठों द्वारा किया जाता रहा है।

कुम्भ-मेला के अवसर पर मठों और अखाड़ों के साधु महात्मा और महन्त, मण्डलेश्वर अपने शास्त्रीय ज्ञान और शस्त्र-शक्ति का परिचय धर्म-रक्षा कार्य में अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन करके देते हैं। कुम्भ के अवसर पर 'यज्ञ', 'भण्डारा' और धार्मिक प्रवचन के आयोजन में इन मठों और अखाड़ों का बहुत अधिक धन व्यय होता है। अखाड़ों के लिए यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि 'अखाड़ा जितना तीन वर्ष में कमाता है, उसे तीन दिन में कुम्भ के अवसर पर खर्च कर देता है।[१]'

इस प्रकार स्पष्ट है कि मठीय व्यवस्था अपने बाह्य परिवेश से सतत अन्तर्क्रिया में रत है। समाज के किसी अन्य सक्रिय संगठन की भाँति इसके कार्यों का सामाजिक-धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व है।

---

1. "What the Akhara earns in three years it spends in the days during the Kumbha Mela".

—Surjit Sinha and Baidya Nath Saraspati,
Ascetics of Kashi, (opp. cit.), p. 174.

मठीय व्यवस्था : वर्णाश्रम व्यवस्था का पोषक

सामान्यतया जब कोई व्यक्ति मठीय व्यवस्था में प्रवेश करता है तो वह अपने पूर्वाश्रम को पूर्णतः त्यागकर संन्याश्रम की विधिवत् दीक्षा ग्रहण करता है। सैद्धांतिक रूप से वह अपने पूर्व आश्रम की सारी बातें भूल जाता है, यथा—नाम, जाति, गोत्र, माता-पिता, रिश्तेदार सबको त्याग देता है। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। मठीय व्यवस्था में वर्णगत भेद-भाव प्रचलित है। अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में मठ का साधु इस बात का सदैव ध्यान रखता है कि उसका सम्बन्ध अपने ही वर्ण के साधु से हो और विशेषतः शूद्र वर्ण के साधु या अस्पृश्य साधु से न हो। शैव मठों पर देखा गया है कि 'दण्डी' साधु ब्राह्मण वर्ण से ही लिए जाते हैं। इसी प्रकार नागा और परमहंस साधु भी क्षत्रिय और वैश्य वर्ग से ही स्वीकार्य हैं। शूद्र वर्ण से किसी को प्रवेश नहीं दिया जाता है।

वैष्णव मठों में विशेषतः रामानुजाचार्य के अनुयायी केवल ब्राह्मण वर्ण वालों को ही स्वीकार करते हैं। रामानन्द जो स्वयं सुधारवादी थे, जातिगत भेदभाव के विरोधी थे—इस समय उनके अनुयायियों में जातिगत उच्चता के प्रति आस्था बढ़ रही है। कबीरपंथी, दादू पंथी और बावरीपंथी तथा गुलाल पंथी मठों में शूद्र जाति को भी प्रवेश मिल जाता है, किन्तु वहाँ भी खान पान में वर्णगत उच्चता और निम्नता के आधार पर अलग-अलग पंक्ति में बैठने की परम्परा है।

प्रायः सभी मठों पर पूजा-अर्चना का कार्य ब्राह्मण साधु या ब्राह्मण गृहस्थ ही करते हैं। इसी प्रकार भण्डारी का कार्य भी ब्राह्मण से लिया जाता है।

सामाजिक भूमिका

किसी भी सामाजिक संगठन का मूल्यांकन समाजसेवा के क्षेत्र में उसके द्वारा सम्पादित कार्यों के आधार पर किया जाता है। जो संगठन अपनी सामाजिक भूमिका का महत्त्व नहीं सिद्ध कर पाते, समाज उन्हें अस्वीकार कर देता है। धार्मिक सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित मठ सैकड़ों वर्षों से समाजसेवा के निम्नलिखित क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में

नीचे दी गयी सारणी संख्या-२ से स्पष्ट है कि २० में से १६ मठ किसी न किसी रूप में औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था में सहायक हो रहे हैं। संस्कृत साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष एवं भारतीय दर्शन की शिक्षा प्रायः सभी मठों द्वारा संचालित संस्कृत महाविद्यालयों में दी जा रही है। वैष्णव मठों को अपेक्षा शैव मठों द्वारा

आधुनिक विषयों—विज्ञान, वाणिज्य, समाज विज्ञान तथा आयुर्वेदिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। शैव मठों द्वारा संचालित कुल विद्यालयों में ५ पूर्व माध्यमिक, ४ उच्चतर माध्यमिक (कक्षा १० तथा १२ तक), ५ महाविद्यालय (स्नातक, स्नातकोत्तर एवं प्रशिक्षण) तथा १० संस्कृत विद्यालय हैं। वैष्णव मठों द्वारा संचालित कुल विद्यालयों में १ पूर्वमाध्यमिक विद्यालय, ४ उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, २ महाविद्यालय तथा ५ संस्कृत विद्यालय हैं। परिशिष्ट में दिए गए विद्यालय संख्या के विवरण से स्पष्ट है कि विद्यालय चलाने वाले कुल ९ शैव मठों में से ५ मठों द्वारा ५ संस्कृत विद्यालय चलाये जा रहे हैं। इसी प्रकार ७ वैष्णव मठों में से ५ मठों द्वारा ५ संस्कृत विद्यालय चलाये जा रहे हैं। स्पष्ट है कि संस्कृत शिक्षा के प्रचार-प्रसार के प्रति इनमें अधिक रुचि है। यही कारण है कि कतिपय मठ एक से अधिक संस्कृत विद्यालय चला रहे हैं।

शैव मठों द्वारा संचालित विद्यालयों की संख्या वैष्णव मठों से अधिक है। शैव मठों द्वारा प्रति मठ दो से अधिक विविध विद्यालय संचालित हो रहे हैं जबकि वैष्णव मठों द्वारा संचालित विद्यालयों की संख्या अपेक्षाकृत कम है अर्थात् वैष्णव मठों द्वारा प्रतिमठ एक से अधिक विद्यालय संचालित हैं।

सारणी संख्या—२

मठों द्वारा संचालित विद्यालयों का विवरण (वर्ष १९७९-८०)

मठ के प्रकार	मठ जो कोई न कोई विद्यालय चला रहे हैं।	विद्यालय		महाविद्यालय		संस्कृत विद्यालय	विद्यालयों का कुल योग	कुल मठ
		पूर्व माध्यमिक	उ० मा० हा० स्कूल + इंटर	डिग्री कालेज	आयुर्वेदिक महाविद्यालय			
शैव मठ	९	५	४	५	१	१०	२५	११
वैष्णव मठ	७	१	४	२	—	५	१२	९
योग	१६	६	८	७	१	१५	३७	२०

सारणी संख्या ३ से मठों द्वारा संचालित विद्यालयों के संस्थागत छात्रों का विवरण स्पष्ट किया गया है। विद्यालय के अनुसार छात्रसंख्या के विवरण परिशिष्ट में अंकित हैं। मठों द्वारा संचालित विद्यालयों में कुल १५१६५ छात्र-छात्राएँ अध्ययन कर रहे हैं। शैव मठों द्वारा संचालित विद्यालयों में कुल ९५५१ छात्र तथा वैष्णव मठों द्वारा संचालित विद्यालयों में कुल ५६१४ छात्र-छात्राएँ हैं। दोनों प्रकार

के मठों में शैव मठों द्वारा आधुनिक विषयों एवं स्नातकोत्तर शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

सारणी संख्या—३

मठों द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों की संख्या (वर्ष १९७९-८०)

मठ के प्रकार	पू० मा० विद्यालय	उ० मा० विद्यालय	डिग्री कालेज	आयुर्वेद महा-विद्यालय	संस्कृत महा-विद्यालय	कुल विद्या-लयों की छा० सं०
	छात्र सं०	छात्र सं०	छात्र संख्या	छात्र सं०	छात्र सं०	
शैव मठ	१५५०	३९००	३०३०	२००	८७१	९५५१
वैष्णव मठ	३००	४२००	८५०	—	२६४	५६१४
योग	१८५०	८१००	३८८०	२००	११३५	१५१६५

स्पष्ट है कि वैष्णव मठों की अपेक्षा शैव मठ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से सांसारिक अभ्युदय के प्रति अधिक सजग हैं। वैष्णव मठ आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय हैं, परिणामतः उनके द्वारा संचालित आधुनिक विषयों की शिक्षा देने वाले विद्यालयों की संख्या कम है।

छात्रावासीय-सुविधा

मठों द्वारा संचालित प्रायः सभी विद्यालयों में कुछ न कुछ छात्रावासीय सुविधा प्रदान की जाती है। अधिकांश मठों द्वारा संचालित संस्कृत महाविद्यालय प्रायः मठ के मुख्य भवन के समीप ही हैं। इन संस्कृत विद्यालयों के छात्रों को मठ से सम्बन्धित भवन में ही छात्रावास की सुविधा प्राप्त है। अध्ययन किए गए शैव मठों में कुल आठ शैव मठों द्वारा १० संस्कृत महाविद्यालय चलाये जा रहे हैं। इन ८ मठों पर संस्कृत के छात्रों को आवासीय सुविधा प्राप्त है। इसी प्रकार वैष्णव मठों में ५ मठों द्वारा एक एक संस्कृत महाविद्यालय संचालित हैं। इनमें से १ वैष्णव मठ (लोटा टीला मठ) को छोड़कर अन्य ४ मठों में संस्कृत के छात्रों को आवासीय सुविधा प्रदान की जाती है (परिशिष्ट संख्या ३)।

नीचे दी गयी सारणी संख्या ४ से स्पष्ट है कि इन मठों पर कुल ४४६ छात्र आवासीय सुविधा प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार आवासीय सुविधा प्रदान करने वाले मठों में प्रति मठ छात्रों की औसत संख्या ३४·३ है। यदि इसका विभाजन सभी ३० मठों पर किया जाय तो प्रति मठ छात्रों की औसत संख्या

२२·३ होती है। इन मठों पर केवल संस्कृत विद्यालयों के छात्रों को ही आवासीय सुविधा प्रदान करने का कारण संस्कृत छात्रों का अपेक्षाकृत अधिक धर्मपरायण तथा मठीय अनुशासन के प्रति निष्ठावान होना है। इन छात्रों का रहम-सहन भी साधारण होता है। इनके लिए मठों द्वारा निःशुल्क भोजनादि का प्रवन्ध किया जाता है।

सारणी संख्या—४

मठों द्वारा प्रदत्त छात्रावासीय सुविधा (वर्ष १९७९-८०)

मठ के प्रकार	मठ को छात्रावासीय सुविधा देते हैं।	मठ जहाँ आवासीय सुविधा प्राप्त नहीं है।	मठीय छात्रावासों की छात्र संख्या	प्रति मठीय छात्रावास औसत संख्या	कुल मठ
शैव मठ	८	३	२९६	३७	११
वैष्णव मठ	५	४	१५०	३०	९
योग	१३	७	४४६	३३·३	२०

मठों द्वारा संचालित विद्यालयों की अध्यापक एवं अध्यापकेतर कर्मचारी संख्या

मठों द्वारा संचालित विद्यालयों में अनेक अध्यापक एवं अध्यापकेतर कर्मचारी कार्यरत हैं तथा उनके माध्यम से अपनी जीविका उपार्जित करते हैं। सारणी संख्या—५ से स्पष्ट है कि शैव मठों द्वारा संचालित विभिन्न स्तरीय कुल २५ विद्यालयों में ४४८ अध्यापक और वैष्णव मठों द्वारा संचालित कुल १२ विद्यालयों में २३१ अध्यापक कार्यरत हैं। इन मठों द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्यापकों के अतिरिक्त कुल ३९५ अन्य कर्मचारी भी सेवारत हैं, इन कर्मचारियों में लिपिक एवं चतुर्थ वर्गीय कर्मचारी हैं। स्पष्ट है कि अपने द्वारा संचालित विद्यालयों के माध्यम से ये मठ न केवल समाज के लोगों को शिक्षा-सुविधा प्रदान करने में सहायक हैं वरन् समाज के बहुत से लोगों को जीविकोपार्जन की सुविधा भी प्रदान कर रहे हैं। इन अध्यापकों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकी प्रोन्नति आदि शिक्षा विभागीय, नियमों के अन्तर्गत होती है।

सारिणी संख्या—५

मठों द्वारा संचालित विद्यालयों में कार्यरत कर्मचारी विवरण

वर्ष १९७९—८०

मठ के प्रकार	विद्यालय संख्या	कर्मचारी संख्या			कुल योग
		अध्यापक	अध्यापकेतर कर्मचारी	योग	
शैव मठ	२५	४४८	२०८	६५६	११
वैष्णव मठ	१२	२३१	११७	३४८	९
योग	३७	६७९	३२५	१००४	२०

चिकित्सा सम्बन्धी समाजसेवा

पीड़ित मानवता के सेवा की दृष्टि से मठों द्वारा संचालित चिकित्सालयों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। सारणी संख्या ६ से स्पष्ट है कि शैव मठों द्वारा कुल ७ चिकित्सा केन्द्र संचालित हैं जिसमें से २ राजकीय सहायता प्राप्त होम्योपैथिक चिकित्सालय तथा सात स्व-संचालित चिकित्सा सेवा केन्द्र खोले गये हैं। स्पष्ट है कि कुल मठों की संख्या तथा उनके द्वारा संचालित चिकित्सालयों के बीच ४:३ का अनुपात है।

सारणी संख्या—६

मठों द्वारा संचालित चिकित्सा सेवा केन्द्र का विवरण

वर्ष १९७९—८०

मठ के प्रकार	मठो द्वारा सचालित चिकित्सा सेवा केंद्र				कुल मठ
	राजकीय सहायता प्राप्त चि० के०		मठ द्वारा संचालित	कुल योग	
	आयुर्वेदक	होम्यापैथिक			
शैव मठ	२	—	५	७	११
वैष्णव मठ	—	१	७	८	९
योग	२	१	१२	१५	२०

मठों द्वारा सचालित चिकित्सा सेवा केन्द्र च हे राजकीय अनुदान प्राप्त हों चाहें मठों द्वारा स्वयं चलाये जा रहे हों, ये सभी आयुर्वेदिक अथवा होम्योपैथिक ही हैं। होम्योपैथिक चिकित्सालय केवल एक है जबकि आयुर्वेदिक चिकित्सालय

कुल (२+१२) १४ हैं। स्पष्ट है कि इन मठों की भारतीय चिकित्सा पद्धति में विशेष आस्था है। कुष्ठ रोगियों की सेवा के क्षेत्र में कतिपय मठ एक उल्लेखनीय भूमिका निभा रहे हैं। परमहंसाश्रम, बरहज का इस क्षेत्र में विशेष महत्व है। इसी प्रकार हथियाराम मठ में मिरगी तथा पक्षाघात के असाध्य रोगों की चिकित्सा होती है। परिशिष्ट संख्या ३ से स्पष्ट है कि कतिपय मठ यौगिक चिकित्सा (गोरखनाथ मठ, गोरखपुर) तथा पशु चिकित्सा (गीता स्वामी मठ, मीरजापुर) सम्बन्धी सेवा भी करते हैं।

निर्धनों की सहायता सम्बन्धी सामाजिक सेवा

भूखे को भोजन और वस्त्रहीनों को वस्त्र देना सभी धर्मों में पुण्यकार्य माना जाता है। धार्मिक उत्सवों एवं मठ के ब्रह्मलीन महन्तों की पुण्य तिथियों पर प्रायः सभी मठों पर भण्डारा या अन्न-क्षेत्र का आयोजन किया जाता है। अन्न क्षेत्र प्रायः कुम्भ मेला या माघ मेला के अवसर पर चलाये जाते हैं जिसमें दीन-हीनों को निःशुल्क भोजन तथा अन्न प्रदान किया जाता है। भण्डारे के अवसर पर वस्त्र-दान भी किया जाता है। भण्डारे का आयोजन प्रायः सभी मठ करते हैं किन्तु अन्न क्षेत्र कुल मठों में केवल चार मठ अर्थात् २० प्रतिशत द्वारा ही संचालित होते हैं। भंडारा प्रायः सभी मठों का वार्षिक या षट्मासिक नियमित कार्य है। अन्न क्षेत्र केवल अधिक सम्पन्न मठों द्वारा ही संचालित हैं।

आगे दी गयी सारणी संख्या ७ से स्पष्ट है कि कुल मठों का २० प्रतिशत मठ भण्डारा तथा अन्न क्षेत्र दोनों संचालित करते हैं और ८० प्रतिशत मठ केवल भण्डारा आयोजित करते हैं। भण्डारे का आयोजन करना एक तरह से मठों के लिए अनिवार्य है जबकि अन्न क्षेत्र चलाना उनकी सुविधा और इच्छा पर निर्भर है।

सारणी संख्या—७

मठों द्वारा आयोजित भण्डारा तथा अन्न क्षेत्र का विवरण

मठ के प्रकार	मात्र भण्डारा		भण्डारा तथा अन्नक्षेत्र		योग
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	
शैव मठ	८	४०.०	३	१५.०	११
वैष्णव मठ	८	४०.०	१	५.०	९
योग	१६	८०.०	४	२०.०	२०

साधु-महात्माओं तथा गृहस्थों से अन्तर्क्रिया

प्रायः सभी मठों पर स्थायी रूप से रहने वाले साधुओं के अतिरिक्त प्रति

माह पर्याप्त संख्या में सम्बन्धित सम्प्रदाय तथा अन्य सम्प्रदाय के साधुओं का भी आगमन मठों पर होता है। विभिन्न अवसरों पर गृहस्थ शिष्य तथा जिज्ञासु सत्संगी भक्तजन भी मठों पर आते रहते हैं। किसी भी मठ पर आगन्तुकों की संख्या का विवरण किसी पन्जी पर अंकित करने की परम्परा नहीं है। आगन्तुकों की संख्या का विवरण सम्बन्धित मठ के महन्तों द्वारा वर्ष १९७९–८० के आगन्तुकों की अनुमानित संख्या के आधार पर दिया गया है। मठों पर निर्मित सत्संग भवनों के आकार एवं आवासीय सुविधा को देखते हुए आगन्तुकों के संख्या की सत्यता पर विश्वास किया गया है। इन आगन्तुकों के माध्यम से ही मठ अपने धार्मिक एवं सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। मठों पर आयोजित धार्मिक कार्यों—प्रवचन, कथा-वार्त्ता, सत्संग तथा यज्ञादि से आगन्तुकों में धर्म के प्रति आस्था दृढ़ होती है।

सारणी संख्या—८

मठों पर रहने वाले स्थायी साधु एवं आगन्तुकों का वार्षिक विवरण (वर्ष १९७९--८०)

मठ के प्रकार	स्थायी साधु		आगन्तुकों का विवरण				कुल मठ
	संख्या	प्रतिमठ औसत	साधु संख्या	प्रति मठ औसत	गृहस्थ संख्या	प्रति मठ औसत	
शैव मठ	१७०	१५·४५	६३५	५७·७३	१३९१०	१२६४·५५	११
वैष्णव मठ	८५	९·४४	७४०	८२·२२	८१५०	९०५·५६	९
योग	२५५	१२·७५	१३७५	६८·७५	२२०६०	११०३·०	२०

ऊपर दी गयी सारणी संख्या ८ से स्पष्ट है कि प्रति मठ स्थायी रूप से रहने वाले साधुओं की औसत संख्या १२·७५ है। शैव मठों में औसत साधु संख्या १५·४५ है जबकि वैष्णव मठों पर औसत केवल ९·४४ है। इसका कारण यह है कि वैष्णव मठों के साधु अपने शिष्यों के यहाँ अधिक जाते हैं जबकि शैव मठों के साधु अपेक्षाकृत अपने मठ पर ही रहना पसन्द करते हैं। प्रति वर्ष प्रति मठ औसत आगन्तुक साधु संख्या ६८·७५ तथा गृहस्थ आगन्तुक संख्या ११०३ है। आगन्तुक गृहस्थ अधिकांश तो प्रवचनादि का आनन्द लेकर अपने घरों को लौट जाते हैं, कुछ थोड़े से मठ पर भी रुकते हैं जिनके आवास एवं भोजनादि का प्रबन्ध मठ द्वारा किया जाता है।

अन्य सार्वजनिक सेवाएं

कतिपय मठों द्वारा धर्मशाला, गोशाला, पुस्तकालय तथा धार्मिक अध्ययन केन्द्र आदि की व्यवस्था की गयी है। कतिपय मठ अपने सम्प्रदाय या सम्प्रदाय

प्रवर्त्तक महात्मा के उपदेशों के प्रचार-प्रसार के लिए नियमित रूप से मासिक या त्रैमासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन कर सामान्य मूल्य पर लोगों में वितरित करते हैं। इसी प्रकार इन मठों में से कुछ मठों ने बड़े उत्तम कोटि के पुस्तकालय की व्यवस्था कर रखी है। जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी तथा गोरखनाथ मठ, गोरखपुर के पुस्तकालय इस दृष्टि से बड़े ही महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। जंगमबाड़ी मठ के पुस्तकालय में लगभग ५ हजार पुस्तकें हैं जिसमें संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी एवं दक्षिण भारतीय भाषाओं की पुस्तकें हैं। यहाँ कुछ बड़े दुर्लभ ग्रंथ तथा हस्तलिखित पुरानी पुस्तकें भी हैं। कबीर कीर्त्ति मठ, वाराणसी द्वारा 'श्री कबीर शांति संदेश' तथा गोरखनाथ मठ, गोरखपुर द्वारा 'योगवाणी' मासिक पत्रिका का प्रकाशन एवं वितरण किया जाता है। ज्ञात हुआ है कि इन पत्रिकाओं के प्रकाशन एवं वितरण में प्रायः उन्हें कुछ न कुछ घाटा ही उठाना पड़ता है, पर जिज्ञासु पाठकों की आध्यात्मिक संतुष्टि एवं उनके मानसिक विकास के लिए घाटा उठाते हुए भी पत्रिका का प्रकाशन करना ही पड़ता है।

कतिपय मठों द्वारा धर्मशाला एवं गोशाला की व्यवस्था भी की गयी है।

धर्मशाला—शैव मठों में जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी द्वारा एक वृहद् धर्मशाला की व्यवस्था की गई है। इसमें दक्षिण से आने वाले यात्रियों को आवास की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसी प्रकार २ वैष्णव मठों द्वारा भी एक-एक अर्थात् दो धर्मशालाएँ चलायी जाती हैं। किन्तु इन धर्मशालाओं में केवल सम्प्रदाय विशेष के तीर्थयात्रियों को ही आवास की सुविधाएँ दी जाती हैं।

गोशाला—मठों द्वारा गोशालाएँ भी चलाई जा रही हैं, किन्तु इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। कुल २० मठों में से ५ मठ गोशाला की व्यवस्था कर रहे हैं। गोशाला का व्यय-भार ये मठ ही उठाते हैं। सारणी संख्या ९ से धर्मशाला तथा गोशाला का विवरण स्पष्ट है।

सारणी संख्या—९

धर्मशाला तथा गोशाला चलाने वाले मठों का विवरण

मठ-सम्प्रदाय	मठ जो केवल धर्मशाला चलाते हैं।		मठ जो केवल गोशाला चलाते हैं।		मठ जो गोशाला, धर्मशाला दोनों चलाते हैं।		योग	प्रतिशत
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत		
शैव मठ	१	५·०	३	१५·०	—	—	४	२०·०
वैष्णव मठ	—	—	—	—	२	१०·०	२	१०·०
योग	१	५·०	३	१५·०	२	१०·०	६	३०.०

ऊपर दी गयी सारणी से यह स्पष्ट है कि जिन २० शैव एवं वैष्णव मठों का अध्ययन किया गया हैं, उनमें मात्र ६ मठ धर्मशाला तथा गोशाला चलाते हैं। अधिकांश मठ (७० प्रतिशत) इस कार्य में रुचि नहीं ले रहे हैं। धर्मशालाएँ तीर्थस्थानों पर कुछ पूँजीपतियों अथवा जातीय संगठनों द्वारा संचालित हो रही हैं। मठ पर अपने सम्प्रदाय के साधुओं तथा अपने गृहस्थ शिष्यों के आवास का प्रबन्ध रहता ही है इसीलिए अलग से धर्मशाला बनवाना आवश्यक नहीं समझते हैं।

मठों द्वारा इस समय गोशाला चलाने में भी विशेष रुचि न दिखाने का कारण इस कार्य का अधिक व्ययसाध्य तथा आर्थिक दृष्टि से घाटे का होना है। चरागाहों को जोतकर कृषि योग्य बना देने तथा जंगलों को काटकर खेती किए जाने की प्रवृत्ति से भी गोशाला चलाना कठिन हो गया है। इस समय मठों पर कठोर श्रम करने वाले साधुओं की भी कमी होती जा रही है। अधिकांश साधु आराम का जीवन व्यतीत करने लगे हैं फलतः गोशालाओं की सँख्या न्यून होती जा रही है।

राजनीतिक सहभागिता

वर्तमान समय में राजनीति का प्रभाव हर घर में दिखायी पड़ता है। साधु-संगठन और मठ भी इस राजनीति से परे नहीं है। अध्ययन के अन्तर्गत लिए गए ११ शैव मठों में से ३ मठों का राजनीति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इनमें गोरखनाथ मठ, गोरखपुर के पूर्व महन्त श्री दिग्विजयनाथ जी कई वर्षों तक अनवरत हिन्दू महासभा की ओर से लोक सभा के सदस्य रह चुके हैं। उनके बाद वर्तमान महन्त श्री अवैद्यनाथ जी भी कई वर्षों तक विधान सभा के सदस्य रहे हैं। आप हिन्दू महासभा के राष्ट्रीय स्तर के नेता हैं। इसी प्रकार मठ-लार के महन्त की आस्था आरम्भ से ही राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति रही है जो अब कांग्रेस (आई) की ओर झुकी हुई है। यद्यपि वे राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लेते फिर भी दल विशेष के लोगों का उनके प्रति विशेष लगाव है। उनके उपदेशों में आर० एस० एस० के कतिपय साम्प्रदायिक कार्यों के प्रति स्पष्टतः असन्तोष व्यक्त हो जाता है। महा-निर्वाणी पंचायती अखाड़ा दारागंज के महन्त तथा सेक्रेटरी की भी अभिरुचि वर्तमान शासक दल में अपेक्षाकृत अधिक है। इसी प्रकार वैष्णव मठों के कतिपय महन्त स्थानीय राजनीति में भी भाग लेते हैं। वस्तुतः ये महन्त यदि अपने को राजनीति से बिलकुल मुक्त करने का प्रयास करें तो भी उससे मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि नेतृवर्ग अपने वैयक्तिक स्वार्थ के लिए सदैव उनको प्रभावित करता रहता है। इन महन्तों को राजनीतिक सहभागिता के लिए कभी-कभी बाध्य भी होना पड़ता है। यह स्थिति तब आती है जब उनके द्वारा सञ्चालित विद्यालयों की

प्रबन्ध समिति में कोई विवाद छिड़ जाता है। फिर भी लगभग ४० प्रतिशत मठ-राजनीति से बिलकुल अलग रहकर अपना धार्मिक एवं सामाजिक कार्य सम्पादित कर रहे हैं।

धर्म तथा नैतिक मूल्यों का प्रचार-प्रसार

मठों ने प्रारम्भ से समाज सेवा की दृष्टि से धर्म तथा नैतिक मूल्यों के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मठ के महन्त या महात्मा को धर्ममय जीवन यापन कर समाज के समक्ष आदर्श की प्रतिष्ठा करनी होती है। जो स्वयं आचारवान नहीं होता उसके उपदेशों का दूसरों पर भी प्रभाव नहीं पड़ता है। अपने साम्प्रदायिक विश्वासों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए मठ के महन्त अपने शिष्य वर्ग के साथ देशाटन करते हैं और समय-समय पर आचार्यों तथा ब्रह्मचारियों की टोली इस उद्देश्य से देश के दूरस्थ भागों में भी भेजते हैं।

कुम्भ मेला तथा प्रति वर्ष माघ मेला के अवसर पर मठों द्वारा धर्म प्रचार के लिए मंच स्थापित किये जाते हैं, जहाँ से विद्वान् महात्मा उपस्थित जनसमुदाय को धार्मिक जीवन की प्रेरणा प्रदान करते हैं। कुम्भ के अवसर पर शैव तथा वैष्णव मठों एवं अखाड़ों के महन्तों की आकर्षक शोभा-यात्रा श्रद्धालु तीर्थयात्रियों का मन मोह लेती है।

१९७७ के कुम्भ के अवसर पर तीर्थराज प्रयाग के संगम क्षेत्र में महन्तों की शोभा-यात्रा का रोचक वर्णन करते हुए एक साहित्यकार ने लिखा है—'आदमी, आदमी पर विमान, विमान पर सिंहासन, सिंहासन पर धर्माध्यक्ष और धर्माध्यक्ष पर छत्र-चंवर ! बगल में पुलिस के घोड़े, घोड़े पर जीन, जीन पर सवार, सवार पर साफा, साफे पर कलंगी और पीछे झहरती हुई घोड़े की पूँछ। मुझे यह शोभा यात्रा भुलाये नहीं भूल रही थी।'[1]

स्पष्ट है कि मठों द्वारा धार्मिक उत्सवों पर धर्म-प्रचार के लिए पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। औद्योगीकरण के विकास का प्रभाव मठीय व्यवस्था के आधुनिकीकरण पर भी पड़ा है। अब ये परम्परागत ढंग पर धर्म-प्रचार के अतिरिक्त धार्मिक प्रदर्शनी भी आयोजित करते हैं। ध्वनिविस्तारक यंत्रों से 'रिकार्ड' किये गये धर्माचार्यों के प्रवचन भक्तों को सुनाते हैं। मठों के महन्तों के सुख-सुविधापूर्वक जीवन

---

१. विश्वनाथ प्रसाद, 'चारों पीठों के शंकराचार्य', 'धर्मयुग, २२ मई, १९७७, (बम्बई: टाइम्स आफ इण्डिया प्रेस), पृ० ३५।

का उतना प्रभाव भक्तों पर नहीं पड़ रहा है जितना कि साधना और तपस्यापूर्ण जीवन बिताने वाले साधुओं का पड़ता है।

उपर्युक्त तथ्य विश्लेषण से यह प्रावकल्पना सत्य सिद्ध होती है कि मठीय व्यवस्था प्राचीन भारतीय मूल्यों के रक्षण एवं सम्बर्द्धन हेतु प्रयत्नशील है। मठीय सम्पत्ति एवं संसाधनों का उपयोग समाज-सेवा सम्बन्धी कार्यों पर किए जाने से सम्बन्धित प्राक्कल्पना अंशतः सत्य सिद्ध हुई है। दीन-हीन अनाथों के भरण-पोषण के लिए अन्न-क्षेत्र, भण्डारा एवं चिकित्सालय संचालित कर मठीय व्यवस्था समाज सेवा के क्षेत्र में कुछ कार्य कर रही है किन्तु इस दिशा में बहुत कुछ किया जाना अभी शेष है। केवल २० प्रतिशत मठ अन्न-क्षेत्र चलाकर सार्वजनिक स्थानों पर दीन-हीन पीड़ितों को भोजन दे रहे हैं, जबकि ८० प्रतिशत मठ केवल भण्डारा आयोजित कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठे हैं। इन मठों को भी शुद्ध सेवभावना से निर्धनों के लिए चिकित्सालय, अनाथालय, तथा अन्नक्षेत्र-संचालन में अपनी सम्पत्ति का विनियोजन करना चाहिए। अतः गवेषक की यह प्राक्कल्पना कि मठ निर्धनों, असहायों एवं दीन-हीन, रुग्ण, अनाथों के आश्रयदाता हैं–असत्य सिद्ध हुई है।

तथ्यों के विश्लेषण से यह प्राक्कल्पना सत्य सिद्ध होती है कि मठ धार्मिक विश्वासों एवं पारलौकिक लक्ष्यों की सम्प्राप्ति के साधन हैं। मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध साधु आदर्श-प्रतिष्ठापन, धर्म-प्रचार एवं कथा वार्ता द्वारा समाज के अन्य सदस्यों को पारलौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रेरित करते हैं। मठों द्वारा संचालित विद्यालयों में बड़ी संख्या में छात्र-छात्राएँ प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, दर्शन, अध्यात्म के अतिरिक्त आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भी शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। इससे यह प्राक्कल्पना सत्य सिद्ध होती है कि मठ प्राचीन संस्कृति, संस्कृत साहित्य तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार के महत्वपूर्ण केन्द्र हैं।

शोधकर्त्ता की इस प्राक्कल्पना के पक्ष में ठोस आधार नहीं प्राप्त हुए हैं कि मठ भावनात्मक एकता और राष्ट्रीय अखण्डता की रक्षा में सहायक हैं, यद्यपि ऐतिहासिक तथ्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित देश के चारों भागों के चार प्रमुख मठों को राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाए रखने की महत्वपूर्ण भूमिका का समर्थन करते हैं, किन्तु संकीर्ण विचारों पर आधारित भेद-भाव को बढ़ावा देने वाले तथा साम्प्रदायिक भावना को प्रेरित करने वाले, यदा-कदा भावनात्मक एकता को चोट पहुँचाने तथा राष्ट्रीय एकता को नष्ट करने में सहायक बन जाते हैं। यह सत्य है कि व्यक्तिगत स्तर पर अनेक मठों के महन्त राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संघर्ष तथा राष्ट्रीय एकता की रक्षा में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

मठीय व्यवस्था में आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति तथा औद्योगिक सभ्यता के

उपादानों के प्रयोग को देखते हुए, यह प्राक्कल्पना भी सत्य सिद्ध हुई है कि मठीय व्यवस्था के साधुओं का जीवन प्राचीनता और आधुनिकता का अद्‌भुत समन्वय प्रस्तुत करता है।

(ख) मठ : आर्थिक संरचना

किसी भी व्यक्ति अथवा समाज के लिए 'अर्थ' का एक विशेष महत्व है। "अर्थ' एक ऐसा 'तन्त्र' है जिससे समाज का कोई भी व्यक्ति अथवा सङ्गठन स्वतन्त्र नहीं रह सकता। महाभारत में कहा गया है—'अर्थस्य पुरुषः दासः।' प्रायः समझा जाता है कि समाज से दूर रहकर वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले साधु-संन्यासी आर्थिक व्यामोह से मुक्त रहते हैं किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत ही है। 'अर्थ' को 'पुरुषार्थ' के अन्तर्गत भी एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पुरुषार्थ के अन्तर्गत 'अर्थ' का तात्पर्य केवल धन या रुपये-पैसों से नहीं वरन् उन समस्त प्रकार के भौतिक साधनों तथा वस्तुओं से है जिनके द्वारा सांसारिक जीवन सुखमय बनाया जा सकता है। पी० एच० प्रभु के अनुसार—'अर्थ का तात्पर्य उन सभी उपकरणों अथवा भौतिक साधनों से है जो सांसारिक समृद्धि प्राप्त करने के लिए आवश्यक हैं।'[1] ऋग्वेद के आधार पर अर्थ का विवेचन करते हुए श्री गोखले ने भी लिखा है कि पुरुषार्थ के रूप में अर्थ का तात्पर्य उन सभी भौतिक वस्तुओं से है जिनकी आवश्यकता गृहस्थी चलाने, परिवार बसाने तथा धार्मिक कार्यों को पूरा करने के लिए पड़ती है।

'अर्थ' का चाहे संकुचित अर्थ लिया जाय या विस्तृत, व्यक्ति या समाज के लिए उसकी उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। उसका महत्व किसी भी साधु या साधु संगठन या मठ के लिए उतना ही है जितना किसी व्यक्ति या सामाजिक संगठन के लिए है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कौटिल्य ने भी 'अर्थ' के महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि धर्म, और काम का मूल धन ही है। धन से ही सब कार्य होते हैं, धन हो तो थोड़े से प्रयत्न से ही कार्य हो जाता है। प्रयत्नपूर्वक कार्य करने से दुष्कर कुछ भी नहीं है।[2] यही नहीं उनका कहना है

---

१. पी० एच० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, (बाम्बेः पापुलर प्रकाशन, १९६३), पृ० ८०।

२. 'अर्थ मूलौ धर्म कामौ ।। ९१ ।। अर्थ मूलकार्यम् । ९२ । यदल्प प्रयत्नाद् कार्यं सिद्धिर्भवति ।। ९३ ।। उपाय पूर्वं न दुष्करं स्यात । ९४ ।
—कौटिल्य अर्थशास्त्र—अनु० श्री भारतीय योगी (बरेली: वेदनगर, ख्वाजा कुतुब, संस्कृति संस्थान, १९७३), पृ० ७८६ ।

कि धन से बुद्धि का भी विकास होता है—'धनहीन पुरुष बुद्धि से भी हीन होता है। धनहीन व्यक्ति के हितकारी उपदेश को भी लोग ग्रहण नहीं करते। धनहीन व्यक्ति की अवमानना उसकी भार्या भी कर देती है। मंजरीविहीन सहकार के पास भ्रमर भी नहीं जाते।'[१]

अर्थ की महत्ता का प्रतिपादन वेदों में भी हुआ है। वहाँ अर्थ को लोक और परलोक दोनों में सुखी बनाने का साधन माना गया है। वेद हमें लोक में रहते हुए खूब धन कमाकर ऐश्वर्य एकत्र करने तथा अधिक से अधिक दान देकर परलोक सुधारने की प्रेरणा देता है। यही कारण है कि यजुर्वेद में अनेक मंत्रों में परमात्मा से धन प्राप्ति की कामना की गयी है—('स नो वसुन्या भर'—'उभाहि हस्ता वसुना पृणस्व'—'श्रीः श्रयताम् मयि'—'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' अर्थात् हमें धन से परिपूर्ण करो, हमारे दोनों हाथों को अच्छी तरह धन से भर दो—मुझमें श्रीः स्थिर हों—हम धनों के स्वामी बनें)।[२]

'अर्थ' का सम्बन्ध उद्योग तथा प्रयत्न से है क्योंकि प्रयत्न के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य को सक्रिय बनाए रखने के लिए ही 'अर्थ' को पुरुषार्थ के अन्तर्गत लिया गया था और जीवन के चार आश्रमों से इन चार पुरुषार्थों को भी सम्बद्ध कर दिया गया था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के क्रम में ही धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष की संकल्पना की गई थी। अर्थ के उपार्जन या अर्थ की प्राप्ति के लिए केवल गृहस्थ आश्रम में ही छूट दी गई थी, वह भी धर्म के ही आधार पर। कहा गया था कि शेष तीन आश्रमों में धन प्राप्ति हेतु प्रयास नहीं करना चाहिए। वस्तुतः इस प्रकार का निषेध इसलिए किया गया था कि मनुष्य में जीवन के सभी सोपानों में धन के पीछे आतुर होकर दौड़ने की प्रवृत्ति न आये किन्तु हुआ उसका उलटा ही। गृहस्थ आश्रम में धन का महत्व इसलिए स्वीकार किया गया था कि बिना 'अर्थ' के गृहस्थाश्रम धर्म का पालन ही नहीं किया जा सकता। इसके बिना न तो पारिवारिक दायित्व ही पूरे हो सकते हैं न धार्मिक कर्त्तव्य ही। आर्थिक महत्व के आधार पर ही समस्त आश्रमों का मूल गृहस्थ आश्रम को बताया

१. 'अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते। २९०। हितमप्यधनस्य वाक्यं न गृह्यते। २९१। अधनः स्वभार्ययाप्यवमन्यते। पुष्पहीन सहकारमपि नोपासते भ्रमराः।'
—वही, पृ० ७९७।

२. वीरसेन वेदश्रमी, वैदिक सम्पदा, (आर्य समाज स्थापना शताब्दी संस्करण), (दिल्लीः गोविन्दराम, हासानन्द)।

गया था। मनुस्मृति में सभी आश्रमों के लिए गृहस्थाश्रम को वैसा ही महत्वपूर्ण बताया गया है जैसे जीवन के लिए हवा का महत्व होता है।[1]

सभ्यता के आरम्भिक दिनों में ऋषि-मुनि प्रायः जंगलों में रहा करते थे। जंगलों में उपलब्ध कन्दमूल तथा फल-फूल ही उनके जीवनयापन के लिए पर्याप्त थे। उस समय उनकी भौतिक समस्याएँ भी बहुत कम थीं। राजा के पास भी उस समय कोई विशेष सम्पत्ति नहीं हुआ करती थी। ब्राह्मण और संन्यासियों के लिए तो सम्पत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं था। किन्तु विकास के क्रम में स्मृतिकाल में पहुँचकर सम्पत्ति तथा द्रव्य का स्वरूप भी स्पष्टतः उभरने लगा। उस समय तक लोगों में धन के प्रति विशेष आकर्षण उत्पन्न हो चुका था। लगता है उस समय तक लोग हर प्रकार से धन के पीछे दौड़ने लगे थे। साधु-संन्यासी भी इस दौड़ में पीछे नहीं थे। वे भी अपनी आवश्यकतानुसार धन-संग्रह करने लगे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि धन लोलुप व्यक्तियों की दृष्टि साधुओं के धन की ओर भी जाने लगी थी। संभवतः इसीलिए पराशरस्मृति में लिखा है कि यदि संन्यासी के द्रव्य को जानते हुए कोई उसके उपभोग की इच्छा करेगा तो उसका वंशज इक्कीस पीढ़ी तक नरक में जायगा।[2] जहाँ तक द्रव्य का सम्बन्ध है साधारण गृहस्थ और संन्यासी में कोई भेद नहीं है। अपने भरण-पोषण के लिए दोनों को द्रव्य की आवश्यकता होती है किन्तु दोनों के बीच मात्रा-भेद अवश्य है। क्योंकि दोनों की आवश्यकताएँ अलग-अलग हैं। एक संन्यासी के लिए गृहस्थ की अपेक्षा द्रव्य की कम आवश्यकता पड़ती है। जहाँ तक धन-संग्रह की बात है, उसका निषेध न केवल संन्यासी वरन् गृहस्थ के लिए भी किया गया था। श्रीमद्भागवत में व्यक्ति को पेटभर भोजन का हकदार बताया गया है, उसके अतिरिक्त अन्य साधनों का संग्रह या उपयोग की इच्छा करने वाले को 'चोर' और दण्ड का भागी बताया गया है।[3] महात्मा गांधी जी ने भी आवश्यकता से अधिक वस्तु का उपभोग करने वाले

---

१. 'यथा वायु समाश्रित्य जीवन्ति सर्वं जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य जीवन्ति सर्वाश्रमाः॥'
—मनुस्मृति, अध्याय ४।

२. 'यति हस्तगतं द्रव्यं, गृहणीयात ज्ञानतो यदि।
गत्यधो नयते मूढ़ः कुलनामेक विंशतिः॥'
—पराशर स्मृति, अध्याय—२।

३. 'यावद्भ्रियेत जठरं तावत स्वत्वं हि देहीनाम्।
अधिकम् योभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥'
—श्रीमद्भागवत।

अथवा उन वस्तुओं को निजी अधिकार में रखने वाले को 'चोर' की संज्ञा दी है क्योंकि वह दूसरे के अधिकार में से उस धन की चोरी करता है। उनका कहना था कि जिसके पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति है उसको चाहिए कि वह उस संपत्ति का स्वामी न बनकर 'ट्रस्टी' अथवा संरक्षक बन जाय और उस सम्पत्ति की रक्षा या वृद्धि यह समझकर करे कि सम्पत्ति उसकी व्यक्तिगत नहीं, सम्पूर्ण समाज की है। उनका विचार था कि ऐसा करने से लोगों में लोभ-लालच की भूख के स्थान पर सेवाभाव उत्पन्न होगा। ऊँच-नीच और धनिक-निर्धन का अन्तर समाप्त होगा तथा एक नैतिक समाज की सृष्टि होगी। सर्वोदय व्यवस्था में आर्थिक पक्ष को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"सर्वोदय समाज के अन्दर बेकारी मिटाने के माने होंगे, लोग खुद अपना-अपना काम करेंगे।" (महात्मा गांधी. सर्वोदय संयोजन. पृष्ठ ४८)।[1] वे चाहते थे कि समाज में रहने वाला व्यक्ति समाज का बोझ बनकर न रहे। वह समाज के अन्न पर यदि पलता है तो समाज के लिए कुछ करे भी, वह समाज को उसके बदले में कुछ दे भी।

विदेशी चिन्तकों ने भी सामाजिक विकास में धन के महत्व पर विशेष बल दिया है। कार्लमार्क्स ने तो 'अर्थ' को ही समस्त सामाजिक वर्ग वैषम्य का आधार बताया है। उसका कहना है कि सामान्यतः भौतिक जीवन की उत्पादन विधि ही मनुष्य की सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं को निर्धारित करती है। मनुष्य की चेतना से उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं होता, वरन् उसके सामाजिक अस्तित्व से ही उसकी चेतना का निर्धारण होता है।[2] इस प्रकार अर्थ का सम्बन्ध उसने हमारे सामाजिक अस्तित्व और सामाजिक अस्तित्व का सम्बन्ध हमारी चेतना से स्थापित किया है। उसका कहना है कि समाज के आर्थिक ढांचे में परिवर्तन होते ही उसकी बाहरी संरचना भी बदलती है।

---

१. द्वारकादास गोयल, सामाजिक विचारों का इतिहास, (आगरा : श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, १९७७), पृ० ४६२ पर उद्धृत।

2. "The mode of production in material life, determines the social, political and intellectual life, process in general. It is not conciousness of men that determines their being but on the contrary their social being that determines their conciousness.

—K. Marx and F. Engels, Literature and Art; (Bombay : Current Book House, 1956). p.l.

इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि धन की महत्ता और उपयोगिता न केवल एक सामाजिक वरन् विरक्त संन्यासी या उनके मठ संगठनों के लिए भी है। उसके प्रभाव से कोई भी अछूता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि कोई भी व्यक्ति दूसरों के उपार्जन पर अपने को आश्रित न बनाये।

इस समय सारा संसार धन के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण लेकर चल रहा है। साधु-संन्यासियों के प्रति कुछ लोगों की बड़ी तीखी आलोचना यह है कि वे समाज के धन पर आश्रित रहते हैं। वे समाज के धन का उपभोग तो करते हैं किन्तु उसके बदले में समाज को कुछ मूल्य नहीं प्रदान करते। कुछ लोगों ने तो साधुओं को समाज का परोपजीवी (पैरासाइट) कह डाला है। यही नहीं, साधुओं के विरुद्ध अनेक लोकोक्तियाँ भी प्रचलित हो गयी हैं। लोग बड़ी आसानी से कह देते हैं—'आन क आटा आन क घी, जेवैं बैठे बाबा जी।' 'जब लैं निर्धन तब लैं सधुआई, धन भइले सधुओ बउराई।' 'जनम के दुखिया करम के हीन, ताके राम महंथी दीन।' साधु-संगठन के आलोचकों की धारणा है कि साधु केवल मूल्यों के उपभोक्ता हैं, वे मूल्यों का उत्पादन नहीं करते। वे दूसरों के श्रम का उपभोग करते हैं और स्वयं कुछ अर्जित नहीं करते। किन्तु संन्यासियों और मठ-संगठनों के प्रति इस प्रकार की धारणा बनाना उचित नहीं है। डा० बंशीधर त्रिपाठी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'साधूज आफ इण्डिया' में इन आलोचनाओं से अपनी असहमति प्रकट की है। उनका कहना है कि प्रकृति निश्चय ही 'पैरासाइट्स' को जन्म देती है, किन्तु वे अधिक दिन तक इस रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ नहीं होते। समाज के अन्दर परजीव्रिकोपभोगी मनुष्यों की भी वही स्थिति होती है। पर जब वे किसी संस्था का रूप ग्रहण कर लेते हैं तब सभी ओर से होने वाली आलोचनाओं के बावजूद भी वे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।[1] उनका कहना है कि इसमें सन्देह नहीं कि कुछ साधु ऐसे अवश्य हैं जो समाज के लिए कुछ भी नहीं करते किन्तु बहुत से ऐसे भी साधु हैं जो समाज से जितना ग्रहण करते हैं

---

1. 'Nature may create parasites but does not sustain them for long. Almost similar is the case of human parasites within its social framework. Human parasites are born indifinite socio-cultural climates but as the institutionalise themselves they seek to maintain themselves inspite of all sorts of criticism from the other quarters'.

—Dr. B. D. Tripathi, Sadhus of India, (Bombay : Popular Prakashan, 1978), p. 98.

उससे कई गुना अधिक मूल्य समाज को चुका देते हैं।[1] साधुओं की भाँति मठों और मठाधिपतियों की भी प्रायः आलोचनाएँ होती रहती हैं। किन्तु ऐसी आलोचनाओं को पूर्णतया सत्य नहीं कहा जा सकता।

मठ-संगठनों के सतत विकास के लिए उनके आर्थिक आधार को सुदृढ़ता प्रदान करने की आवश्यकता का अनुभव आरम्भ से ही किया जाने लगा था क्योंकि आर्थिक सुदृढ़ता के अभाव में वे अपने उद्देश्य की सम्यक् पूर्ति नहीं कर सकते थे। समाज में रहने वाले लोगों के चारित्रिक विकास में भी मठों की अत्यन्त सराहनीय भूमिका रही है। यही कारण है कि प्राचीनकाल से ही मठों को भू-सम्पत्ति तथा रुपया-पैसा, धन या अन्य उपकरण आदि दान में देने की प्रथा चली आ रही है। अनेक राजा-महाराजाओं द्वारा इन मठों के नाम से बड़ी-बड़ी जागीरें भी दान में दे दी गयी थीं। अध्ययन के अन्तर्गत लिये गये कई मठों को (जंगमबाड़ी मठ को औरंगजेब की ओर से कई गांव दिये गये थे तथा देवाश्रम मठ, लार को अजीत मल्ल से जमीन प्राप्त हुई थी)[2] कई गांव तथा भवन दान में प्राप्त हुए हैं। कई मठों को अब भी अपनी जमींदारी का सालाना 'मुवावजा' प्राप्त होता है। अनेक मठों के महन्तों की आर्थिक स्थिति बड़ी सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित है। आज जिन मठों की स्थिति खराब हो चली है उनमें से अनेक मठ ऐसे हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में अर्थ की दृष्टि से बड़े सम्पन्न तथा प्रतिष्ठित थे। शोधकर्त्ता ने अनुभव किया है कि इन मठों की स्थापना के आरम्भ में जो भी उद्देश्य रहे हों पर उनमें से अनेक मठ उन्नीसवीं शती के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक एक सम्पन्न निगम बन चुके थे। उनमें से कई व्यापार तथा रुपयों का लेन-देन भी करते थे और अपने पास बहुत बड़ी जमीन-जायदाद भी रखते थे। बिहारीपुरी मठ, वाराणसी के महन्त बिहारीपुरी जी (सन् १८५६ ई०) के पास बहुत-सी अचल सम्पत्ति थी और उनका लेन-देन का भी कारबार चलता था। उनका मठ उस समय ऋद्धिपुरी-इच्छापुरी 'कोठी' के रूप में विख्यात था। यहाँ महाजनी (बैंकिंग व्यापार) का कारबार होता था जो आगे चलकर

---

1. 'Thero are Sadhus who return more value to the society in the form of their teachings and insights. It is such teachings and insights that discover new grounds of reorganisation and restructuring. Hindu society in particular has a glorious tradition of Saints and Ascetics.'

—Dr. B. D. Tripathi, Sadhus of India, (op. cit.), p. 99.

२. दान सनद की प्रतिलिपि।

दीवालिया हो गया था। इसी प्रकार जंगमबाड़ी मठ पर भी उन दिनों बैंकिंग का बहुत बड़ा कारबार होता था। इस मठ ने भी अपने को दीवालिया घोषित कर दिया था फिर भी डेढ़-दो लाख रुपये की अदायगी उसे अपने खातेदारों को करनी पड़ी थी।

मठों की आर्थिक स्थिति के अध्ययन में शोधकर्त्ता को अनेक नये तथ्य प्राप्त हुए हैं। यहाँ सम्पत्ति सम्बन्धी ऐसे अनेक मुकदमें देखने को मिले हैं जिनमें इस ढंग के झूठ आरोपित किये गये थे जिनकी मठ के एक महन्त के लिए कल्पना तक नहीं की जा सकती। वस्तुतः देखने में आया है कि जिस प्रकार गाँवों में पट्टीदार अथवा पड़ोसी के बीच स्वामित्व सम्बन्धी मनगढ़न्त मुकदमें तैयार कर दिये जाते हैं उसी प्रकार एक मठ के महन्त भी दूसरे मठ के स्वामित्व के लिए लड़ते रहते हैं। ये महन्त कभी-कभी दूसरे मठों को प्राप्त भवनों को खाली देखकर उन पर अधिकार भी कर लेते हैं। कभी-कभी ये अपने मठ की कुछ भू-सम्पत्ति भी बेंच देते हैं। यद्यपि मठ की सम्पत्ति बेचने का अधिकार महन्त को प्राप्त नहीं है फिर भी एक परम्परा के अनुसार महन्त को मठ के हित के लिए जिसे कानूनी आवश्यकता भी कहते हैं, मठ की कुछ सम्पत्ति हस्तान्तरित करने का अधिकार है। उदाहरण के लिए महन्त अपने मठ की सम्पत्ति को नष्ट होने से बचाने के लिए, ऋण की अदायगी के लिए या अन्य किसी प्रकार के मठ को किसी आंशिक क्षति से बचाने के लिए उसकी सुरक्षा की दृष्टि से मठ की सम्पत्ति को हस्तान्तरित कर सकता है। इसके सम्बन्ध में जो कानून बना है वह बहुत व्यापक है और उसमें कानूनी चतुरता की काफी गुंजाइश है। महन्त को अपने जीवनकाल में सम्पत्ति के उपयोग के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार प्राप्त है। यदि वह सम्पत्ति को बिना किसी न्यायोचित कारण के हस्तान्तरित कर देता है तो भी वह उसे उस व्यक्ति से जिसे वह सम्पत्ति दी गई है, पुनः प्राप्त करने के लिए खुद नालिश नहीं कर सकता है। उस समय महन्त प्रायः एक उपाय से काम लेते हैं—वह यह कि मठ के किसी शिष्य से हस्तान्तरण को रद्द कर देने और मठ के हितार्थ सम्पत्ति पुनः प्राप्त कर लेने के लिए दरखास्त दिला दी जाती है। यदि नालिश सफल हो जाती है तो डिगरी में आदेश दिया जाता है कि मठ के लाभार्थ उसकी सम्पत्ति लौटा दी जाय। इस प्रकार महन्त द्वारा हस्तान्तरित सम्पत्ति सम्बन्धित महन्त के जीवनकाल में ही फिर अपने ठिकाने पर आ जाती है। इस सम्बन्ध में एक उपाय का और सहारा लिया जाता है—यदि महन्त बूढ़ा हो गया है और उसके अधिक जीवित रहने की आशा नहीं है तो अपने जीवनकाल में ही वह अन्य व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी बना देता है। ऐसी स्थिति में गद्दी त्यागकर वह सम्मानित रूप में उस मठ में बना रहता है। उत्तरा-

धिकारी अपने पूर्व महन्त द्वारा किये गये अवैध हस्तान्तरण को मानने के लिए बाध्य नहीं होता। वह गैरकानूनी ढंग से हस्तान्तरित सम्पत्ति को पुनः वापस लेने के लिए मामला दायर कर कर देता है। कभी-कभी जब महन्त के ऊपर किसी बड़ी रकम की किसी मामले में डिगरी हो जाती है और मठ की सम्पत्ति को वेंचकर उसे चुकाने या मठ की सम्पत्ति को नीलाम करने की बात खड़ी होती है तो उस समय भी यदि मठ के दो-एक शिष्य दरखास्त देकर यह सिद्ध कर दें कि महन्त ने उक्त सम्पत्ति से मठ का कोई हित नहीं किया है और उन्होंने उसे अपने व्यक्तिगत हित में लगाया है जो मठ की दृष्टि से वैध नहीं है तो भी मठ की सम्पत्ति नीलाम होने से बच जाती है। जंगमबाड़ी मठ (वाराणसी) तथा विहारीपुरी मठ (वाराणसी) में यह दोनों प्रकार की स्थितियाँ आ चुकी हैं। इसी प्रकार १९०९ में महन्त शान्तानन्द ने इलाहाबाद के निर्वाणी अखाड़े पर चार लाख रुपये की नालिश की थी। उनका कहना था कि ये रुपये निर्वाणी अखाड़े के महन्त को दिये गये थे। निर्वाणी अखाड़े के महन्त की अनुपस्थिति में उन्होंने अपने पक्ष में डिगरी भी करा ली थी। परन्तु बाद में मालूम होने पर महन्त बालकपुरी जी ने डिगरी को रद्द करवाया और फिर से सुनवाई करने की मंजूरी प्राप्त की।

इस प्रकार मठों से सम्बन्धित धन-सम्पत्ति सम्बन्धी अनेक मामलों को देखकर श्री कैलाशनाथ काटजू ने अपनी पुस्तक 'कुछ स्मरणीय मुकदमें' में लिखा है—'कहा जाता है कि पवित्र संन्यासियों ने संसार का परित्याग कर दिया है पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इन्हें अदालत में झूठ बोलते समय जरा भी हिचक नहीं होती, विशेषकर जब उन्हें ऐसा करने में मठ का लाभ दिखाई देता है या जब महन्त की गद्दी के लिए झगड़ा उठ खड़ा होता है। यह माना जाता है कि उनके पास कोई सम्पत्ति या जायदाद नहीं होती किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनमें से बहुतों के पास चरित्र या शील नाम को भी नहीं होता। हर तरह की जायदाद इनमें से बहुतों के पास है जिसे इन्हें अपनी इच्छानुसार खर्च करने का अधिकार होता है किन्तु इन सबका उस पर बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है। फिर भी यह सम्पत्ति चाहे व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक ट्रस्ट की हो, दान की हो या धार्मिक संस्था की हो, संसार से विरक्त हो जाने वाले साधु तथा संन्यासी जबतक सम्पत्ति के सम्पर्क में नहीं आते, प्रायः सम्माननीय व्यक्ति होते हैं।'[१]

धन भले ही वैराग्य साधन में बाधक हो किन्तु उसके अभाव में कोई भी संगठन बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता। हमारे समाज के लिए ऐसे संगठनों की आवश्यकता है जो एकान्तिक साधना और अनुत्पादक जीवन के दलदल से

१. कैलाशनाथ काटजू, कुछ स्मरणीय मुकदमें; (पूर्वोक्त), पृ० २८३।

मुक्त होकर उत्पादनशील जीवन को ग्रहण करें तथा देश के सामाजिक-आर्थिक विकास में सहायक हों।[1] वस्तुतः संन्यास-जीवन और मठीय-जीवन में अन्तर है। संन्यासी को व्यक्तिगत रूप से सर्वस्वत्यागी होते हुए भी मठीय जीवन ग्रहण करने के बाद धन संग्रह के चक्र में आना ही पड़ता है। उसके अभाव में न तो वह मठ की व्यवस्था को ही चला सकता है और न समाज के लिए उपयोगी ही बना सकता है। इतना अवश्य है कि यह धन-संग्रह मठ पर रहने वाले साधु या महन्त को मठ और समाज के हित में ही करना चाहिए। यदि धन-संग्रह कर वह सामान्य सांसारिक व्यक्तियों की भाँति ऐहिक सुखों में ही लिप्त हो जायगा तो न केवल अपने उद्देश्य से ही च्युत होगा वरन् समाज के लिए भर्त्सना का पात्र भी बन जायगा और अपने लोक तथा परलोक दोनों से हाथ धो बैठेगा।

मठों की स्थापना के कई उद्देश्य रहे हैं :—

(१) साधुओं को आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कराते हुए सम्बन्धित सम्प्रदाय का प्रचार तथा प्रसार करना।

(२) मठ से सम्बन्धित साधुओं को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाना।

(३) नये साधुओं को प्रवेश देकर उन्हें दीक्षित करना।

(४) भारतीय धर्म और संस्कृति का न केवल प्रचार तथा प्रसार करना वरन् संकट की घड़ी में उस पर आघात पहुँचाने वाले अत्याचारियों के विरुद्ध यदि आवश्यकता पड़े तो शस्त्र भी उठाना। मठीय जीवन व्यतीत करने वाले संन्यासियों (विशेषकर नागा संन्यासियों) के उद्देश्य के सम्बन्ध में मुनि विश्वामित्र का यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है—

'अग्रतः चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।
द्वाभ्यामपि समर्थोऽस्मि शापेन च शरेण च ॥'[2]

---

१. 'Our sociaty needs such organizations that can come out of their self imposed isolation and morass of unproductive life. What is needed is that they should pluge in productive activity and thus contribute their own share to the socio-economic reconstruction of the Indian Society'.
—J. K. Mishra, The Socio-Economic Condition of Sadhu Organization in piligrimage Centre in U. P. (op· cit.) p. 355.

२. देवाश्रम मठ, लार के स्वामी चन्द्रशेखर गिरि के प्रवचन से उद्धृत।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मठ के चार प्रमुख उद्देश्यों में से एक उद्देश्य मठ के साधुओं को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाना रहा है। साथ ही भारतीय धर्म और संस्कृति पर आघात पहुँचाने वाले अत्याचारियों के विरुद्ध शस्त्र उठाने के गहन दायित्व को देखते हुए भी उन्हें आर्थिक दृष्टि से अपने को सुदृढ़ रखने की आवश्यकता थी। मठों के उद्देश्य को देखते हुए स्पष्टतः कहा जा सकता है कि एकाकी जीवन व्यतीत करने वाले तथा केवल भिक्षावृत्ति पर पलने वाले साधुओं के प्रति जो 'अनुत्पादक उपभोक्ता' का आरोप लगाया जाता है वह मठ जैसे सुदृढ़ साधु-संगठनों के प्रति लागू नहीं होता। मठ आरम्भ से ही किसी न किसी रूप में उत्पादक-उपभोक्ता की श्रेणी में आते हैं।

मठ की आय के स्रोत

आगे दी गयी सारणी संख्या १० में शैव मठों तथा सारणी संख्या ११ में वैष्णव मठों की आय का पृथक-पृथक विवरण दिया गया है। सारणी संख्या १० के अनुसार शैव मठों की वार्षिक आय का कुल योग रु० १०६००००—०० है जिसका प्रति शैव मठ औसत निकाला जाय तो ९६३६३—६३ रु० होगा। इसी प्रकार सारणी संख्या ११ के अनुसार वैष्णव मठों की कुल आय वार्षिक रु० ७७७०००—०० है। इसका प्रति मठ औसत निकाला जाय तो रु० ८६३३३—३३ होगा। इन दोनों सारणियों से यह भी स्पष्ट है कि मठों की आय के विविध स्रोत हैं। जिसमें कृषि, चढ़ावा, चन्दा एवं प्रवचनादि द्वारा ही इन्हें अधिक आय होती है। बागवानी, मकान किराया तथा जमींदारी बाण्ड द्वारा कतिपय मठों को ही थोड़ी सी आय होती है। इसी प्रकार व्यापार या मेले के आयोजन द्वारा भी केवल दो (एक शैव तथा एक वैष्णव) मठों को ही आय होती है।

वस्तुतः अर्थ के तीन मूल आधार माने गये हैं—भूमि, पशु और मनुष्य। इन तीनों आधारों से ही आय के विविध स्रोत प्रस्फुटित होते हैं। मठों के पास ये तीनों आधार आरम्भ से ही रहे हैं। देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास के साथ इन मठों की आय के स्रोतों में भी पर्याप्त विकास हुआ है। परिणामतः मठों की आर्थिक स्थिति आरम्भ से ही पर्याप्त सुदृढ़ रही है।

सारणी संख्या—१०

शैव मठों की वार्षिक आय का विवरण (वर्ष १९७९—८०)

आय के स्रोत	मठों के नाम तथा उनकी आय (हज़ार रुपयों में)											
	श्री पंचायती अखाड़ा महा-निर्वाणी प्रयाग	ज्योतिर्मठ इलाहाबाद	जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी	गोविन्द मठ वाराणसी	त्रिहारी-पुरी मठ वाराणसी	रामशाला (कीना-राम मठ) जौनपुर	श्रीनाथ बाबा मठ बलिया	गीता स्वामी मठ मीरजापुर	हथिया राम मठ गाजीपुर	देवाश्रम मठ, लार देवरिया	गोरख-नाथ मठ गोरखपुर	योग (हज़ार में)
	१	२	२	४	५	६	७	८	९	११	११	
कृषि	२०	—	—	—	—	५	१०	१५	५०	—	१००	२००
बागवानी	—	—	—	—	—	—	—	—	१०	२	—	१२
मकान किराया	१८०	२५	१०	—	१२	—	—	—	—	—	१·५	३५२
जमींदारी बांड	३६	—	१०	...	—	—	—	—	—	—	—	४६
संचित निधि का ब्याज	६०	२०	—	४५	—	—	—	—	४०	४	२५	१९०
चढ़ावा	१०	१०	३०	३६	४	१	२	५	१२	२	४५	१५७
चन्दा-प्रवचन	२	१८	—	१०	—	४	१	१२	१८	१	३०	९६
व्यापार तथा मेला	—	—	—	—	—	✓	...	...	...	...	३	३
योग	३०८	७३	५०	९१	१६	१०	१३	३२	१३०	९	३२८	१०६०

सारिणी संख्या-११

वैष्णव मठों की वार्षिक आय का विवरण (वर्ष १९७९ – ८०)

आय के स्रोत	मठों के नाम तथा उनकी आय (हजार रुपये में)									
	श्रीरूपगौड़ीय मठ इलाहाबाद	रामानुज कोट इलाहाबाद	कबीरकीर्ति मंदिर मठ वाराणसी	लोटाटीला मठ वाराणसी	गोविन्द साहब मठ आजमगढ़	पौहारी मठ पैकौली, देवरिया	भुड़कुड़ा मठ गाजीपुर	परमहंस आश्रम मठ देवरिया	कबीर मठ मगहर बस्ती	योग (हजार में)
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	
कृषि	—	२५	—	६०	१०	३०	५०	—	२०	१९५
बागबानी	—	—	—	—	—	१०	—	—	—	१०
मकान किराया	—	—	—	२४	—	—	—	—	—	२४
जमींदारी बांड	—	—	—	—	—	—	४	—	—	४
संचित निधि										
ब्याज	—	—	१२०	—	—	—	—	—	—	१२०
चढ़ावा	१०	१०	—	२०	—	३०	१०	१०	१	९१
चन्दा-प्रवचन	१५	१५	—	८०	—	१५०	—	३०	—	२९०
व्यापार-मेला	—	—	—	—	४३	—	—	—	—	४३
योग	२५	५०	१२०	१८४	५३	२२०	६४	४०	२१	७७७

सारणी संख्या—१२

वार्षिक आय के विविध स्रोतों का तुलनात्मक विवरण

वर्ष १९७९—८०

आय के स्रोत	आय की धनराशि (हजार में)	कुल आय का प्रतिशत
१—कृषि	३९५	२१·५०
२—चन्दा तथा प्रवचन	३८६	२१·०१
३—मकान किराया	३७६	२०·४७
४—संचित निधि का व्याज	३१४	१७·०९
५—चढ़ावा	२४८	१३·५०
६—जमींदारी बाण्ड	५०	२ ७२
७—व्यापार तथा मेला	४६	२·५१
८—बागवानी	२२	१·२०
योग	१८३७	१००·००

ऊपर दी गयी सारणी संख्या १२ से मठों की वार्षिक आय के विविध स्रोतों का तुलनात्मक विवरण देखने से स्पष्ट है कि मठों को अपनी कुल वार्षिक आय का २१·५० प्रतिशत खेती से प्राप्त होता है। इसी प्रकार उन्हें कुल आय का २१·१ प्रतिशत चन्दा तथा प्रवचन से एवं २०·४७ प्रतिशत मकान एवं दुकान आदि के किराये से प्राप्त होता है। व्यापार एवं मेला के आयोजन द्वारा उन्हें सबसे कम अर्थात् केवल २·५१ प्रतिशत की आय होती है। संचित निधि के व्याज से भी उन्हें अच्छी आय अर्थात् १७·९ प्रतिशत होती है। प्रायः इन मठों को कृषि, मकान या दुकान के किराये, संचित निधि के व्याज तथा चन्दा एवं चढ़ावे पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अध्ययन में लिये गये मठों को कृषि द्वारा अपेक्षाकृत सर्वाधिक आय होती है। यद्यपि यह आय चन्दा और प्रवचनादि से प्राप्त होने वाली आय से कुछ ही अधिक है फिर भी कृषि का उन्हें स्थायी भरोसा होता है जबकि चन्दा और प्रवचनादि द्वारा होने वाली आय का कोई निश्चित रूप नहीं रहता। वह प्रायः घटती-बढ़ती रहती है।

सारणी संख्या—१३

वार्षिक आय के विविध स्रोतों के शैव एवं वैष्णव मठों का तुलनात्मक विवरण (वर्ष १९७९—८०)

आय के स्रोत	शैव मठ		वैष्णव मठ	
	आय (हजार में)	कुल आय का प्रतिशत	आय (हजार में)	कुल आय का प्रतिशत
कृषि	२००	१८·८७	१९५	२५·१०
चन्दा तथा प्रवचन	९६	९·०६	२९०	३७·३२
मकान किराया	३५२	३३·२१	२४	३·०९
संचित निधि का ब्याज	१९४	१८·३०	१२०	१५·४५
चढ़ावा	१५७	१४·८१	९१	११·७१
जमींदारी बाण्ड	४६	४·३४	४	०·५१
व्यापार तथा मेला	३	०·२८	४३	५·५३
बागवानी	१२	१·१३	१०	१·२९
योग	१०६०	१००·००	७७७	१००·००

सारणी संख्या १३ से शैव तथा वैष्णव मठों की आय का तुलनात्मक विवरण भी स्पष्ट हो जाता है। शैव मठों को अपनी आय का सर्वाधिक अंश ३३·२१ प्रतिशत मकान के किराये द्वारा उपलब्ध होता है। जबकि वैष्णव मठों को अपनी आय का सर्वाधिक ३७·७२ प्रतिशत अंश चन्दा एवं प्रवचनादि द्वारा प्राप्त होता है। वैष्णव मठों को चन्दा एवं प्रवचनादि द्वारा शैवों की अपेक्षा अधिक आय होती है। इसका कारण यह है कि वैष्णव संन्यासी प्रवचनादि के सम्बन्ध में भ्रमण कार्य में अधिक रुचि रखते हैं। वे न केवल देश वरन् विदेशों में भी इस कार्य के लिए भ्रमण करते हैं जबकि शैव साधु प्रायः अपने दीक्षित भक्तों तक ही सीमित रह जाते हैं। यद्यपि देश-विदेश का भ्रमण शैव साधु भी करते हैं किन्तु वैष्णवों की अपेक्षा प्रायः कम ही करते हैं। इसी प्रकार कृषि द्वारा भी शैवों की अपेक्षा वैष्णवों को अपनी कुल आय का अधिक अंश प्राप्त होता है। वस्तुतः शैव मठों को प्राचीनकाल से ही जो अधिकाधिक जमीन उपलब्ध थी उसमें से अधिकांश जमींदारी उन्मूलन के साथ दूसरों के हाथ लग गयी, इनके पास थोड़ी सामान्य उपजाऊ भूमि ही रह गई। कतिपय शैव मठों ने अपनी कृषि योग्य भूमि को अपने द्वारा सञ्चालित संस्थाओं के नाम रजिस्ट्री कर दी (देवाश्रम मठ लार ने अपनी सारी भूमि संस्थाओं के नाम पर कर दिया है)। परिणामतः उन्हें कृषि के

माध्यम से कुछ भी आय नहीं होती। गोविन्द मठ, वाराणसी ने अपनी अधिकांश दूरस्थ भूमि विनोबा जी के भूमिदान-यज्ञ में भूमि दान कर दिया। जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी की दान में प्राप्त सारी जमीन उनके हाथ से छिन गई। वे अपने बैंकिंग व्यापार के बीच उठे विवाद में इतने व्यस्त हो गये कि दान में प्राप्त भूमि की चिन्ता ही छोड़ बैठे। शहर में प्राप्त जमीन जिसका उन्हें कर प्राप्त होता था वह भी धीरे धीरे वन्द हो गया। नगरों में स्थित शैव मठों में से अधिकांश खेती-बारी के काम से अपने को मुक्त रखना चाहते हैं। यद्यपि यह स्थिति वैष्णव मठों के साथ भी है किन्तु अपेक्षाकृत कम है। शैव मठों को मकान एवं दुकान के किराये से अपेक्षाकृत अधिक आय होती है। शैव मठ इस स्रोत से अपनी कुल आय का ३३·२१ प्रतिशत अंश प्राप्त करते हैं जबकि वैष्णव मठ केवल ३·०९ प्रतिशत अंश। इसका कारण यह है कि शैव मठों के पास मकान एवं दुकान अधिक हैं। दूसरे इनमें अध्ययन के क्षेत्र में लिए गए दो मठ (श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी प्रयाग एवं गोरखनाथ मठ गोरखपुर) अपने सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र हैं। एक नागा संन्यासियों के आठ अखाड़ों में प्रमुख स्थान रखता है तो दूसरा नाथ पन्थियों का प्रमुख केन्द्र है। इनके पास मकानों एवं दुकानों की सर्वाधिक सम्पत्ति है। मकान एवं दुकान से किराये का लाभ ५ शैव मठ उठा रहे हैं जबकि वैष्णव मठों में से केवल एक उसका सामान्य लाभ प्राप्त कर रहा है। इस प्रकार दोनों के बीच यह अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

सारणी संख्या १० तथा ११ से क्रमशः शैव एवं वैष्णव मठों के विविध स्रोत तथा उनसे होने वाली वार्षिक आय का विवरण स्पष्ट है। यहाँ आय के विविध स्रोतों पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

कृषि द्वारा आय

सारणी संख्या १० तथा ११ से स्पष्ट है कि कुल शैव तथा वैष्णव मठों में से क्रमशः ५ तथा ३, आठ मठों पर कृषि द्वारा आय नहीं होती, शेष १२ मठों पर विविध कृषि कार्य होता है। इस प्रकार ६० प्रतिशत मठ कृषि द्वारा अपनी कुल आय का २१·५० प्रतिशत (सारणी संख्या १२) अंश प्राप्त करते हैं। कृषि द्वारा होने वाली आय अन्य स्रोतों से होने वाली आय की अपेक्षा अधिक है। यद्यपि मठों की अधिकांश जमीन उनके अधिकार से छूट चुकी है फिर भी जो कृषि योग्य भूमि उपलब्ध है उस पर ये मठ विधिवत खेती करते हैं। खेती के कार्य में वे आधुनिक यन्त्रों, ट्यूबवेल, ट्रैक्टर आदि का पूर्णतया उपयोग करते हैं। जैसा कि देखा जा चुका है—कतिपय संस्थाओं ने अपनी कृषि योग्य भूमि को अपनी संस्थाओं

के नाम से निबन्धित कर दिया है अन्यथा कृषि द्वारा उन्हें अपनी आय का और अधिक अंश प्राप्त होता।

मकान एवं दुकान के किराये द्वारा आय

शहरों में स्थित मठों के पास मकान एवं दुकान सम्बन्धी बहुत बड़ी सम्पत्ति है। इस प्रकार की सम्पत्ति रखने वाला वैष्णव मठ केवल एक है जो कुल २० मठों का केवल ५ प्रतिशत होता है किन्तु ऐसे शैव मठ कुल चार अर्थात् २० प्रतिशत हैं। मकान एवं दुकान द्वारा शैव मठों को अपनी कुल आय का ३३·२१ प्रतिशत अंश प्राप्त होता है जबकि वैष्णव मठों को इस स्रोत से केवल ३·०९ प्रतिशत आय होती है। इस प्रकार शैव मठों को ३ लाख ५२ हजार की वार्षिक आय होती है तो वैष्णव मठों को इस स्रोत से केवल २४ हजार की आय होती है। दोनों प्रकार के मठों के बीच इस स्रोत से होने वाली आय के अन्तर का कारण स्पष्ट है कि शैवों की अपेक्षा वैष्णवों के पास मकान एवं दुकान अपेक्षाकृत कम हैं। शैवों के अधिकांश मठ (अध्ययन में लिए गए) शहरों में स्थित तथा अपने संप्रदाय के प्रमुख मठ हैं।

बागवानी द्वारा आय

सामान्यतया मठों के निरीक्षण के समय देखा गया है कि बागवानी योग्य भूमि अधिकांश मठों के पास है किन्तु उनमें से अधिकांश मठ उसमें फूलपत्ती लगाकर उनका छोटी वाटिका जैसा उपयोग करते हैं। शहरों में स्थिति कतिपय पुराने मठों के पास इस प्रकार की नाममात्र की भूमि है। जहाँ बागवानी योग्य भूमि उपलब्ध है वहाँ भी अधिकांश मठाधीशों को बागवानी में विशेष रूचि नहीं है। यह स्थिति शैव एवं वैष्णव मठों में प्रायः एक समान ही है। यही कारण है कि बागवानी द्वारा शैव एवं वैष्णव मठ अपनी आय का केवल (क्रमशः) ९·१३ प्रतिशत तथा १·२९ प्रतिशत अंश ही प्राप्त करते हैं। सम्पूर्ण मठों को बागवानी के स्रोत से केवल १·२० प्रतिशत आय होती है। इस स्रोत का उपयोग केवल २० मठों में से तीन मठ अर्थात् १०·५ प्रतिशत मठ ही करते हैं। बागवानी के प्रति उपेक्षा के दो कारण समझ पड़ते हैं—एक तो इनमें कृषि की अपेक्षा लागत अधिक बैठती है, दूसरे यह कार्य महन्तों की अपनी वैयक्तिक रुचि पर भी निर्भर है।

जमींदारी बाण्ड द्वारा आय

शैव मठों में से केवल दो को जमींदारी बाण्ड से वार्षिक मुआवजा मिलता है और वैष्णव मठों में से केवल एक को। शैव मठों को इस स्रोत से अपनी कुल

आय का ४·३४ प्रतिशत तो वैष्णव मठों को अपनी आय का केवल ०·५१ प्रतिशत अंश प्राप्त होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण मठों को इस स्रोत से केवल २·७२ प्रतिशत आय होती है। वस्तुतः मठों के पास पहले बहुत बड़ी जमींदारी थी किन्तु जमींदारी की अधिकांश भूमि इन्हें दान-पत्रों द्वारा उपलब्ध थी। बहुत सी जमीन इन्हें राजा-महाराजाओं द्वारा उपहार में भी प्राप्त थी। जिन मठों के महन्तों ने सम्बन्धित जमीन को विधिवत अपने मठ के नाम से दर्ज करा लिया तथा जिन पर उन्होंने अपना अधिकार बनाये रखा वे तो सुरक्षित रहीं किन्तु अन्य भूमि से वे धीरे-धीरे बेदखल होते गये। परिणामतः जमींदारी उन्मूलन के समय जिनके पास कुछ बची-खुची जमींदारी थी उसका मुवायजा उन्हें प्राप्त हुआ जो केवल नाम मात्र का है।

संचित निधि के व्याज द्वारा आय

संचित निधि के व्याज द्वारा आय की सुविधा कुल ५ शैव मठों तथा एक वैष्णव मठ को प्राप्त है। इस प्रकार कुल मठों का केवल ३५ प्रतिशत मठ इस स्रोत से आय कर रहा है। सम्पूर्ण मठ इस स्रोत से अपनी कुल आय का १७·०९ प्रतिशत अंश प्राप्त करते हैं। बैंकों और डाकघरों में सावधि बचत योजना के अन्तर्गत रुपया जमा करके व्याज द्वारा आमदनी करने की प्रवृत्ति इधर मठों तथा अन्य संस्थानों में तेजी से बढ़ रही है। इससे एक ओर संचित निधि का विनियोजन राष्ट्रीय कार्यों में हो रहा है साथ ही उसके व्याज से जमाकर्त्ता को आय भी हो रही है दूसरे इन संगठनों का कार्य भी सुचारु ढंग से चलता रहता है। किन्तु केवल ३५ प्रतिशत मठ ही इस दिशा में प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं। साक्षात्कार के समय ज्ञात हुआ कि अधिकांश मठों के महन्त अपनी छोटी-मोटी पूँजी बैंकों में रखना उचित नहीं समझते। उनकी धारणा है कि ऐसा करने से लोगों की दृष्टि उस संचित धन पर ही लगी रहती है। कुछ लोगों की धारणा है कि थोड़ी रकम संचित करने से विशेष लाभ नहीं है। फिर भी प्रबुद्ध महन्त जिनके यहाँ कोई विवाद नहीं है तथा जो मठ को आर्थिक दृष्टि से सदैव के लिए आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास कर रहे हैं, संचित निधि में अधिक विश्वास रखते हैं।

चढ़ावा तथा पूजा द्वारा आय

समस्त मठों में किसी न किसी आराध्य देव की मूर्ति स्थापित है। वैष्णव मठों में जहाँ राम-जानकी, राधा-कृष्ण अथवा विष्णु और लक्ष्मी की मूर्तियाँ स्थापित हैं, वहाँ सुधारवादी वैष्णव मठों में उनके सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तकों की मूर्तियाँ स्थापित हैं। शैव मठों में प्रायः शिवलिंग, शिव मूर्ति, दुर्गा तथा कहीं-कहीं आदि शंकराचार्य या मठ के महन्तों की मूर्तियाँ या समाधियाँ स्थापित हैं। इन

मन्दिरों में विभिन्न अवसरों पर पर्याप्त पूजा-चढ़ावा आता है। इस चढ़ावा द्वारा कतिपय मठों को पर्व विशेष पर उल्लेखनीय आय होती है। चढ़ावा द्वारा शैव मठों को कुल एक लाख सत्तावन हजार की वार्षिक आय होती है तो वैष्णव मठों को केवल इक्यानवे हजार की। इस प्रकार शैव मठ इस स्रोत से अपनी कुल आय का १४·८१ प्रतिशत अंश प्राप्त करते हैं तो वैष्णव मठों को केवल ११·७१ प्रतिशत आय होती है। सम्पूर्ण मठों को इस स्रोत से कुल आय का १३·५० प्रतिशत प्राप्त होता है। शैवों और वैष्णवों के बीच आय के इस अन्तर का एक मात्र कारण यह है कि कतिपय वैष्णव सुधारवादी मठों (कबीर कीर्ति मठ, वाराणसी, गोविन्द साहब मठ, आजमगढ़) में चढ़ावा द्वारा आय विलकुल नहीं होती। ये संस्थापकों की मूर्तियों पर द्रव्य नहीं चढ़वाते, आवश्यकता पड़ने पर चन्दा भले ही ग्रहण कर लें। इसके विपरीत शैव मठों में शैवालयों तथा मन्दिरों में नियमित चढ़ावा आता है। शैव मठों में अधिकांशतः लोग देव-दर्शन एवं आराधन की दृष्टि से जाते हैं जबकि सुधारवादी मठों में केवल उपदेश-लाभ उठाने के लिए। अन्य वैष्णव मठों में गुरुपूर्णिमा, संक्रान्ति, दशहरा, दीपावली, होली के अवसर पर पर्याप्त चढ़ावा आता है।

चन्दा एवं प्रवचनादि द्वारा आय

कभी-कभी नव-निर्माण तथा मठों के जीर्णोद्धार के लिए महन्तों को अपने भक्तों पर चन्दा भी लगाना पड़ता है। यह चन्दा कभी रसीद द्वारा कभी अपने भक्तों के बीच प्रवचन द्वारा एकत्र किया जाता है। प्रवचन द्वारा एकत्र चन्दा चढ़ावे का रूप ग्रहण कर लेता है। इसमें भक्तों को छूट होती है कि वे यथाशक्ति अपनी श्रद्धा एवं भक्ति के अनुसार प्रवचन के समय कुछ धनराशि महन्त के चरणों पर अर्पित करें। इसके लिए कोई निर्धारित राशि नहीं होती। सीधे चन्दा लगाने की अपेक्षा प्रवचन द्वारा धन संग्रह करना अधिक सम्मानजनक माना जाता है। क्योंकि चन्दे के बीच बाध्यता होती है जबकि प्रवचन के अवसर पर दान देने में भक्त की श्रद्धा-भक्ति ही प्रधान होती है। इस स्रोत के कुल ९ शैव मठ तथा ५ वैष्णव मठ लाभान्वित होते हैं। किन्तु शैव मठ इस स्रोत से कुल ९·०६ प्रतिशत लाभ उठाते हैं जबकि वैष्णव मठ अपनी कुल आय का ३७·३२ प्रतिशत लाभ उठाते हैं (सारणी संख्या १३)। स्पष्ट है कि वैष्णव मठों को इस स्रोत से शैव मठों की अपेक्षा चौगुनी आय होती है। इस स्रोत से शैवों को कम आय का कारण यह है कि इन मठों के महन्तों द्वारा नियमित उपदेश, प्रवचनादि की व्यवस्था नहीं की जाती। ये कुम्भ मेला के अवसर पर ही इस प्रकार के उपदेश क विधिवत् व्यवस्था करते हैं। वैष्णव मठों के अधिकांश महन्त स्थान स्थान पर धर्मोपदेश करते फिरते

हैं तथा न केवल अपने सम्प्रदाय के दर्शन का प्रचार करते हैं वरन् सिद्ध पुरुषों की वाणियों का भी प्रचार करते हैं।

व्यापार एवं मेला द्वारा आय

अनेक मठों ने कुछ व्यापार भी चला रखा है। इसमें आटा-चक्की, राशन की दुकान, ईंट के भट्ठे एवं चिमनी, चूना-भट्ठी आदि प्रमुख हैं। बहुत से मठों पर ये व्यापार अब बन्द भी हो चुके हैं फिर भी अध्ययन में लिए गए मठों से दो मठ इस स्रोत से आय करते हैं। इस स्रोत से होने वाली आय कुल आय का मात्र २·५१ प्रतिशत है। आरम्भ में व्यापार एवं मेला के आयोजनों में ये मठ पर्याप्त रुचि रखते थे। कतिपय मठ (जंगमबाड़ी तथा बिहारीपुरी मठ) बैंकिंग का कारबार भी करते थे। इसी प्रकार चिमनी एवं भट्ठे के कारबार भी इनके द्वारा किये जाते थे। किन्तु इनकी व्यवस्था में अधिक व्यय एवं घाटे के कारण इन्हें छोड़ना पड़ा।

मठों का आय-प्रतिमान

मठों की आर्थिक स्थिति के विश्लेषण से स्पष्ट है कि अधिकांश मठ अपनी व्यवस्था के लिए अपने ही विविध स्रोतों से धनोपार्जन का प्रयत्न कर रहे हैं। उनकी सम्पूर्ण आय का विश्लेषण करने से सारणी संख्या १२ के अनुसार स्पष्ट है कि वे अपनी आय का कुल ६२·९२ प्रतिशत अंश अचल स्रोत अर्थात् कृषि बागवानी, मकान-दुकान का किराया, जमींदारी बाण्ड की भुगतान तथा संचित निधि के व्याज से प्राप्त करते हैं। शेष ३७·०२ प्रतिशत आय उन्हें चढ़ावा, चन्दा, प्रवचन, व्यापार आदि से होती है। स्पष्ट है कि मठ अपने वैयक्तिक व्यय के लिए परमुखापेक्षी नहीं हैं, वे आत्मनिर्भर हैं तथा दूसरों के कार्यों में भी यथाअवसर कुछ न कुछ सहायक होते हैं। चढ़ावा, चन्दा, मेला आदि से होने वाली आय को कोई भी महन्त अपनी निश्चित आय के रूप में स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार की आय को वे 'आकाश वृत्ति' कहते हैं जो कभी हो सकती है और कभी नहीं भी हो सकती। जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी, लाटाटीला मठ, वाराणसी तथा गोरखनाथ मठ, गोरखपुर को इस स्रोत से अधिक आय होती है। इनके महन्तों का कथन है कि जिस वर्ष उनके शिष्यों के यहाँ फसल अच्छी होती है उसी वर्ष इन साधनों से उल्लेख्य आय होती है। इस सन्दर्भ में जंगमबाड़ी के महन्त ने बताया कि सूखा-बाढ़ आदि के दिनों में दक्षिण के यात्रियों की संख्या मठ पर बहुत कम हो जाती है।

सारणी संख्या १४ से स्पष्ट है कि सबसे कम आय-प्रतिमान वाले मठ केवल १० प्रतिशत हैं जिनकी वार्षिक आय ५ हजार से १० हजार रुपये तक है। सबसे उच्च आय-प्रतिमान वाले मठ २० प्रतिशत हैं। इनकी वार्षिक आय तीन लाख से पाँच लाख के बीच है। इसी प्रकार दो लाख से तीन लाख की आय-प्रतिमान में

केवल एक मठ आता है। सामान्य रूप में दस हजार से दो लाख वार्षिक आय सीमा के अन्तर्गत ७ शैव मठ तथा ८ वैष्णव मठ आते हैं। इस प्रकार कुल मठों में से ७५ प्रतिशत मठों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है। १५ प्रतिशत मठ आय की दृष्टि से अति उच्च आय-सीमा के भीतर आते हैं। केवल दस प्रतिशत मठ ही किसी प्रकार अपना व्यय चला रहे हैं। इन मठों को अपना व्यय चलाना अवश्य ही अपेक्षाकृत कठिन हो रहा है फिर भी पूजा, चढ़ावा आदि से इनका भी कार्य किसी प्रकार चल रहा है। अन्तर इतना ही है कि ये अन्य मठों की भाँति सामाजिक एवं धार्मिक सेवा-कार्य नहीं कर पा रहे हैं। जहाँ तक उनके वैयक्तिक व्यय की बात है उसके लिए वे सक्षम हैं।

सारणी संख्या–१४

शैव एवं वैष्णव मठों की आय सीमा का तुलनात्मक विवरण

वर्ष १९७९-८०

आय सीमा (हजार में)	शैव मठ		वैष्णव मठ		कुल मठ	कुल प्रतिशत
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत		
५—१०	२	१८·१	—	—	२	१०·०
११ - २५	२	१८·२	२	२२·२	४	२०·०
२६—५०	२	१८·२	२	२२·२	४	२०·०
५१—१००	२	१८·२	२	२२·२	४	२०·०
१०१—२००	१	९·०	२	२२·२	३	१५·०
२०१—३००	—	—	१	११·२	१	५·०
३०१—५००	२	१८·२	—	—	२	१०·०
योग	११	१००·०	९	१००·०	२०	१००·०

मठों की आय-सीमा सम्बन्धी उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि सबसे कम आय-सीमा के अन्तर्गत आने वाले मठ केवल १० प्रतिशत हैं। सारणी संख्या १० से स्पष्ट है कि इनकी यह आय भी किसी अचल स्रोत से नहीं वरन् अधिकांशतः पूजा, चढ़ावा आदि से है। ऐसे मठों के महन्त वृहत्तर समाज में बढ़ रही भौतिक-वादी प्रवृत्ति और जीवन के हर क्षेत्र में हो रहे आधुनिकीकरण के कारण विशेष चिन्तित हैं। उनकी धारणा है कि आने वाली पीढ़ी में सम्भवतः प्राचीन कर्मकाण्डों के प्रति रुचि का अभाव हो जायगा, परिणामतः समाज में कोई भी संस्था केवल दान पर निर्भर नहीं रह सकेगी। यही कारण है कि कतिपय महन्त अपने उत्तरा-धिकारी के चयन के प्रति भी उदासीन हैं। वे नहीं चाहते कि उनके अनुयायी समाज के भार बनें।

व्यय का स्वरूप

मठीय व्यवस्था में होने वाले व्यय के विश्लेषण से स्पष्ट है कि मठों पर स्थायीरूप से रहने वाले साधुओं के भोजन, वस्त्र, आगन्तुक साधुओं तथा गृहस्थों के सत्कार, विभिन्न उत्सवों पर साज-सज्जा एवं वार्षिक (या षटमासिक) भण्डारों पर अधिक व्यय होता है। आय का अधिकांश भाग मठ के प्रबन्ध, पारम्परिक रूप में मान्य नैत्यिक कार्यों—राम-भोग, आरती, मन्दिर की मूर्ति के श्रृंगार तथा मठ के भवन के निर्माण एवं जीर्णोद्धार पर व्यय होता है। कुम्भ मेला के अवसर पर विभिन्न मठ और अखाड़ों द्वारा सञ्चालित शिविरों, अन्न क्षेत्रों (जहाँ निःशुल्क भोजन निर्धन तीर्थयात्रियों को दिया जाता है) तथा चिकित्सा केन्द्रों पर भी उल्लेखनीय व्यय होता है। प्रायः सभी मठ नैतिक मूल्यों, साम्प्रदायिक विश्वासों तथा अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए कुम्भ मेला तथा प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले माघ मेले के अवसर पर धार्मिक प्रवचन की व्यवस्था करते हैं।

शैव तथा वैष्णव मठों के आय और व्यय का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि मठों का व्यय-पक्ष अनियोजित है। अधिकांश व्यय अनुत्पादक है, मात्र प्रदर्शन के लिए तथा दूसरे मठों से अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए मठों पर आधुनिक शैली के भवन बनवाये जा रहे हैं। इसी प्रकार महंगी मोटर गाड़ियाँ खरीदी जा रही हैं और आधुनिक साधन तथा टेलीफोन, कूलर, सीलिंग फैन, टेबुल फैन, ट्रांजिस्टर आदि का खुलकर प्रयोग हो रहा है। कुछ मठों पर यह भी परम्परा बनती जा रही है कि जिस प्रकार महन्त की गद्दी (आसन) पर अन्य साधु नहीं बैठ सकता उसी प्रकार महन्त के प्रयोग में आने वाली मोटर गाडी का प्रयोग उनकी अनुपस्थिति में कोई अन्य साधु नहीं कर सकता, यथा ज्योतिर्मठ इलाहाबाद।

कतिपय मठों पर आधुनिकता का प्रभाव इस सीमा तक पहुँच चुका है कि वे अपार धन के अपव्यय की चिन्ता न करते हुए हर क्षेत्र में 'आर्थिक सुन्दरता के सिद्धान्त' (पेक्यूनियरी ब्यूटी) के मोह में पड़ गये हैं। बाजार में उपलब्ध प्रसाधन सम्बन्धी हर महंगी वस्तु उनके यहाँ दैनिक प्रयोग में आ रही है। अप्रैल १९८० में उज्जैन में आयोजित कुम्भ मेले में अनेक मठों ने अपनी शोभा-यात्रा की तैयार की गयी फिल्म की प्रतियों को व्यक्तिगत रूप से क्रय करके प्रदर्शनार्थं अपने पास रखा है।

मठों द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति में किये जाने वाले व्यय के विवेचन से स्पष्ट है कि यह समाज में धार्मिक जागृति पैदा करने तथा अपने शिष्यों में

नैतिक मूल्यों की स्थापना की दृष्टि से भी अनेक महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। ऐसे कार्यों में आध्यात्मिक ज्ञान तथा अपने सम्प्रदाय विशेष संबंधी सन्देश के प्रचार-प्रसार हेतु पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन, धार्मिक पुस्तकों तथा मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन कराने के अतिरिक्त आध्यात्मिक अध्ययन केन्द्रों एवं वाचनालयों की स्थापना के कार्य प्रमुख हैं। अनेक मठों पर व्यायामशाला, ब्रह्मचर्याश्रम, योग प्रशिक्षण केन्द्र तथा ध्यान-केन्द्र भी संचालित हो रहे हैं। धार्मिक साहित्य के प्रकाशन तथा मासिक पत्रिका के प्रकाशन की दृष्टि से गोरखनाथ मठ, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'योगवाणी' कबीरकीर्ति मठ, वाराणसी द्वारा 'कबीरशान्ति सन्देश' मासिक पत्रिकायें उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ऐसे प्रकाशनों पर मठ द्वारा किया जाने वाला व्यय इससे होने वाली आय से अधिक है फिर भी धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु मठों द्वारा इस कार्य पर किये जाने वाले व्यय सराहनीय हैं।

मठों द्वारा धार्मिक यात्राओं का भी आयोजन किया जाता है। ऐसी यात्राओं में मठ के महन्त या अन्य महात्माओं के साथ उनके शिष्य वर्ग भी सम्मिलित होते हैं। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से इन धार्मिक यात्राओं का विशेष महत्व है। मठों द्वारा इस कार्य पर भी उल्लेखनीय व्यय किया जाता है। इसी प्रकार विभिन्न मठों द्वारा धार्मिक-सांस्कृतिक परिचर्या गोष्ठियों के आयोजन पर भी प्रतिवर्ष पर्याप्त धन व्यय किया जाता है जिसमें भाग लेने वाले बाहरी विद्वानों तथा महात्माओं की यात्रा-व्यय के अतिरिक्त सम्मानसूचक दक्षिणा भी प्रदान की जाती है। उदाहरण के लिए देवाश्रम मठ, लार में प्रतिवर्ष नवरात्रि में योगिराज समारोह के अवसर पर लगातार नौ दिन इस प्रकार के कार्यक्रम चलते हैं। विभिन्न मठ अपने प्रांगण में संस्कृत दिवस समारोह आयोजित करते हैं। इस अवसर पर वहाँ संस्कृत के विद्वानों तथा छात्रों को सम्मानित करते हैं।

इसी प्रकार इन मठों द्वारा संस्कृत भाषा एवं साहित्य के प्रचार हेतु संस्कृत महाविद्यालयों तथा लोगों को चिकित्सा सुविधा प्रदान करने के लिए आयुर्वेदिक औषधालयों का भी संचालन किया जा रहा है। इन कार्यों पर भी इनके द्वारा पर्याप्त व्यय किया जा रहा है। मठों द्वारा सञ्चालित होने वाले हायर सेकेण्डरी, इण्टरमीडिएट तथा डिग्री कालेजों पर समय-समय पर पर्याप्त व्यय किया जाता है।

दैवी आपदा—बाढ़, सूखा, महामारी आदि के समय पीड़ितों की सहायता में भी इन्हें कुछ न कुछ व्यय करना पड़ता है। कुछ मठों पर असाध्य रोगों यथा कुष्ठ, मानसिक विकृति, लकवा, अपस्मारी आदि पर भी व्यय किया जाता है। उदाहरण के लिए परमहंस आश्रम बरहज द्वारा कुष्ठ चिकित्सा केन्द्र

सञ्चालित किया जाता है। हथियाराम मठ पर लकवा तथा अपस्मारी की चिकित्सा की जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कतिपय प्राचीन मठों को छोड़कर प्रायः सभी मठों द्वारा आर्थिक दृष्टि से अपने को आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास किया जा रहा है। सामाजिक कार्यों तथा मानवता की सेवा में भी इनके द्वारा पर्याप्त व्यय किये जा रहे हैं।

मठों में सम्पत्ति विषयक विवाद

मठों में सम्पत्ति विषयक अनेक प्रकार के विवाद देखने को मिले हैं। इन विवादों में साधारण तथा असाधारण सत्य-असत्य दोनों प्रकार के आरोपों से युक्त मुकदमें चल चुके हैं या चल रहे हैं। ये विवाद अनेक प्रकार से उठ खड़े होते हैं, यथा—

(१) दो मठों के बीच किसी भवन या भूमि पर अधिकार सम्बन्धी विवाद—हथियाराम मठ तथा गोविन्द मठ, वाराणसी के बीच टेकरामठ के भवन के विषय में दोनों महन्तों के बीच मुकदमा चल रहा है। कहा जाता है कि टेकरामठ पर पहले गोविन्द मठ का अधिकार था किन्तु सम्प्रति उस पर हथियाराम मठ के महन्त का अधिकार है।

(२) एक मठ के महन्त द्वारा दूसरे मठ के महन्त के ऊपर रुपये के लेन-देन की झूठी नालिश—१९०९ में महन्त शान्तानन्द ने इलाहाबाद के महानिर्वाणी पंचायती अखाड़ा के विरुद्ध चार लाख रुपये की नालिश की थी जिसकी डिगरी भी हो गयी थी किन्तु बाद में महानिर्वाणी के महन्त श्री बालक पुरी जी ने उसका प्रतिवाद करके किसी प्रकार से कोर्ट द्वारा उस डिगरी को रद्द करवाया था।

(१) रुपयों एवं आभूषणों के लेन-देन सम्बन्धी विवाद—इस प्रकार के विवाद पहले भी उठ चुके हैं और अब भी कभी-कभी उठ खड़े होते हैं। जङ्गमबाड़ी मठ तथा विहारीपुरी मठ, वाराणसी पहले बैंकिंग का व्यापार करते थे, लेन-देन में घाटा के कारण दिवालिया घोषित हुए फिर भी मुकदमों द्वारा बहुत से खातेदारों ने इनसे अपने धन वसूल किये। बिहारीपुरी मठ के विरुद्ध घसीटी बीबी का मुकदमा भी ७ लाख के विषय में अपने ढङ्ग का अनूठा मुकदमा रहा है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

(४) मठ के भवन तथा भूमि के कुछ हिस्सों पर नागरिकों द्वारा अवैध अधिकार—इस प्रकार के विवाद मठ पर रहने वाले साधुओं की उदारता

का लाभ उठाकर प्रायः कुछ स्वार्थी तत्व आरम्भ कर देते हैं। काशीदेवी मठ, वाराणसी में इस प्रकार का उदाहरण है।

(५) मठों द्वारा अनेक संस्थाएँ चल रही हैं। उन संस्थाओं की प्रबन्ध समिति में भी कभी-कभी सर्वाधिकार विषयक विवाद खड़े हो जाते हैं। प्रायः महन्त अपने मन के अनुसार काम करना चाहते हैं उस समय ऐसा विवाद उठता है या फिर उस समय जब समाज का कोई व्यक्ति उस पर अपना अधिकार जमाना चाहता है।

(६) महन्त के उत्तराधिकार सम्बन्धी विवाद—गोविन्द साहब मठ, आजमगढ़ में इस प्रकार का मुकदमा चल रहा है।

इस प्रकार सांसारिक झंझटों से अपने को मुक्त करने की कामना से संन्यास ग्रहण करके मठों में रहने वाले ये संन्यासी अनेक प्रकार की झंझटों में डाल दिये जाते हैं अथवा सम्पत्ति के डोभ में स्वयं उलझ जाते हैं।

निष्कर्षतः आर्थिक दृष्टि से मठों की निर्भरता विषयक प्राक्कल्पना पूर्णतः सत्य सिद्ध होती है। वे आत्मनिर्भर हैं तथापि उन पर सम्पत्ति विषयक कतिपय विवाद हैं। संस्थाओं के संचालन में उनके समक्ष अनेक समस्याएँ हैं किन्तु उनका आर्थिक पक्ष सुदृढ़ है। अध्ययन में लिये गये मठों में से जिन मठों की वार्षिक आय केवल ९–१० हजार है, वे भी किसी दूसरे पर आश्रित नहीं हैं। अपना व्यय वे स्वयं चलाते हैं। कोई भी मठाधीश समाज के समक्ष अपने लिए हाथ फैलाने नहीं जाता। अनेक ऐसे मठाधीशों का उदाहरण सामने है, जिन्होंने अपनी शैक्षिक संस्थाओं के लिए भी समाज के ऊपर किसी प्रकार का चन्दा नहीं लगाया है। अपने पौरुष के बल पर उन्होंने पैसा दूर-दूर के बड़े-बड़े साहूकारों तथा पूँजीपतियों से एकत्र किया है। ऐसे महन्तों की धारणा है कि स्थानीय समाज इतना 'निहंगा' हो गया है कि वह मठ की संस्था के लिए यदि आज एक रुपया देगा तो कल सौ रुपये का लाभ उस संस्था से पाने का दावेदार बन जायगा। जिन मठों पर कृषि योग्य भूमि है वे दान पर निर्भर रहने वाले मठों की अपेक्षा अधिक आत्मनिर्भर हैं। ऐसे मठ ५५ प्रतिशत हैं। यदि मकान के किराये को भी उसमें सम्मिलित कर लिया जाय तो ऐसे मठों की संख्या ७५ प्रतिशत हो जायगी। इसलिए ये मठ भविष्य में भी परमुखापेक्षी बनने की स्थिति में नहीं हैं।

7

मठीय व्यवस्था : भावी स्वरूप

मठों की संगठनात्मक संरचना तथा प्रकार्यात्मक भूमिका सम्बन्धी तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट हो चुका है कि ये मठ एक सुदृढ़ वैश्वासिक, संस्थात्मक एवं कर्मकाण्डीय आधार पर सुसंगठित हैं तथा आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से समाज में इनकी एक महत्वपूर्ण भूमिका है। अर्थ-व्यवस्था के मूल आधार 'भूमि', 'पशु' तथा 'मनुष्य' न्यूनाधिक सभी मठों पर हैं। मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध साधु अनुत्पादक कार्यों में रत रहने वाले कोई पराश्रयी मानव समूह नहीं हैं। इन मठीय साधुओं का व्यवस्थित अर्थ तन्त्र है। उनके पास चल, अचल सम्पत्ति है। कुछ मठों की बैंक में स्थायी निधि है। अतीत में कई मठ बैंकिंग-व्यापार तथा रुपये का लेन देन करते रहे हैं। आधुनिक युग में भी मठों पर कृषि-कार्य, भवन-निर्माण तथा मेले के आयोजनों द्वारा अर्थ-संग्रह किया जा रहा है।

मठीय व्यवस्था अपने साधुओं की जीविका का प्रबन्ध करने के साथ ही समाज के कुछ अन्य लोगों को भी अपनी संस्थाओं में नियुक्त कर जीविका प्रदान करने में सक्षम हैं। सभी मठों पर कुछ न कुछ गृहस्थ कर्मचारी हैं जिन्हें नियमित वेतन दिया जा रहा है। मठों पर भण्डारी, पुजारी, ड्राइवर, प्रायः वेतनभोगी गृहस्थ हैं। इसी प्रकार मठों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं में सहस्त्रों व्यक्ति शिक्षक, कर्णिक और परिचारक के पदों पर कार्य करके नियमित वेतन प्राप्त कर रहे हैं। यद्यपि यह वेतन संस्थाओं की आय तथा राजकीय अनुदान से दिया जा रहा है फिर भी संस्थाओं की स्थापना और व्यवस्था का श्रेय इन मठों को ही निर्विवाद रूप से दिया जाना चाहिए।

किसी भी सामाजिक संगठन को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कुछ न कुछ सामाजिक सेवा-कार्य सम्पादित करना होता है। जो संगठन समाजसेवा-कार्य में अपनी क्षमता प्रमाणित नहीं कर पाता है उसे समाज का ऐच्छिक समर्थन मिलना बन्द हो जाता है। परिणामतः उस संगठन की निरन्तरता भंग होने लगती है तथा उसका अस्तित्व समाप्त होने लगता है।[१] अनुत्पादक एवं निरर्थक क्रियाओं में संलग्न व्यक्तियों के संगठन को समाज का ऐच्छिक समर्थन नहीं मिल पाता है। मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध साधु हिन्दू समाज की वैश्वासिक सेवा के अतिरिक्त प्रत्यक्षतः समाजसेवा के अनेक कार्य सम्पादित कर रहे हैं।

नैतिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र में मठों की महत्वपूर्ण भूमिका है। प्राचीनकाल से ही धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, अपरिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य,

---

१. बी० डी० त्रिपाठी, साधूज आफ इण्डिया, (पूर्वोक्त) पृ० २१६।

अक्रोध आदि नैतिक गुणों को साधु-महात्माओं द्वारा धर्म के नाम से प्रचारित किया गया है। इन वैयक्तिक तथा सामाजिक सद्गुणों को धारण करके कोई भी व्यक्ति समाज का श्रेष्ठ सदस्य बन सकता है। भारतीय समाज में हजारों वर्षों से चले आ रहे मठ, अखाड़े और आश्रम उक्त नैतिक गुणों के प्रशिक्षण केन्द्र बने रहे हैं। वर्तमान औद्योगिक समाज ने निश्चय ही मठों को भी प्रभावित किया है, फिर भी उनकी सनातनी प्रकृति उन्हें नैतिक मूल्यों के संरक्षण हेतु प्रेरित करती है।

मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध कुछ साधु अपनी साधना के उच्च शिखर पर पहुँचे हुए हैं। उनके आचार और विचार में समानता है जबकि कुछ दूसरे अति आधुनिक हैं। उनके जीवन में कृत्रिमता है, बाह्य कलेवर साधना-प्रदर्शित करने वाला है, त्याग का आडम्बर करते हैं किन्तु भीतर धन के प्रति अपार आकर्षण है। कहने के लिए वैराग्य साधना में रत हैं किन्तु वस्तुतः राग-द्वेष संयुक्त हैं। अध्ययन-क्षेत्र में लिए गए प्राचीन मठों के साधुओं की दिनचर्या 'दिव्यता' केन्द्रित है। दिव्यता का अर्थ है—शुभ, सुन्दर और सत। शरीर को स्नान द्वारा शुद्ध किया जाता है, व्यायाम और योगासन से अंग-अंग को सुन्दर बनाने का विधान है और सात्विक आहार द्वारा उसे पुष्ट किया जाता है। इस प्रकार शरीर शुद्ध होकर दिव्य रूप धारण करता है। इसी प्रकार चिन्तन-मनन द्वारा मन को तथा ध्यान-धारण द्वारा बुद्धि को दिव्यता प्रदान करने की प्रक्रिया वहाँ बराबर चलती रहती है—

ॐ अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति, मनः सत्येन शुद्धयति।
'विद्या तपोभ्याम् भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ॥'

उपर्युक्त दिनचर्या के विपरीत अघोरी मठों के साधुओं की दिनचर्या में वाह्य शुद्धता की चिन्ता नहीं है, सात्विकता उनके लिए अनावश्यक है। वह तो सर्वत्र समानता का दर्शन करते हैं। किसी भी वस्तु के सेवन में उन्हें आपत्ति नहीं है। जिन वस्तुओं को सामान्यतया अपवित्र समझा जाता है, उन्हें भी धारण करने में इन्हें कोई आपत्ति नहीं है। मांस, मदिरा और नशे का सेवन स्वच्छन्द रूप से करते हैं। कुछ मठों पर तो इस कार्य में समाज के अवांछित तत्व भी सम्मिलित हो रहे हैं।

वृहत्तर समाज के आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक स्वरूपों में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव विभिन्न युगों में मठीय व्यवस्था पर भी कुछ न कुछ पड़ता रहा है। अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय समाज में औद्योगीकरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई वह आज तक निरन्तर अग्रसर है। परिणामतः जीवन के समस्त आयामों पर आधुनिकीकरण का कुछ न कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा है। आधुनिकीकरण

शब्द का प्रयोग प्रायः पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप पाश्चात्येतर समाजों में होने वाले परिवर्त्तनों के लिए किया जाता है।

वास्तव में आधुनिकीरण आधुनिकता की ओर बढ़ने की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से औद्योगीकरण की प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में बदलते हुए मूल्यों के प्रति जागरुकता, उदारवादी दृष्टिकोण, तार्किकता, ग्रहणशीलता, नवीनता को बौद्धिकता के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है।[1] यह कहा जा सकता है कि आधुनिकीकरण वह माध्यम है जिससे परम्परागत समाज आधुनिक समाज में परिवर्तित होता है। यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि आधुनिकता न तो पूर्णरूपेण पश्चिमीपन को कहते हैं और न तो परम्पराओं के पूर्णतः विरोध को ही—अपितु आधुनिकीकरण में नवीन प्रौद्योगिकी के प्रयोग के फलस्वरूप कुछ सीमा तक पुरानी रूढ़ियाँ छूटती हैं और व्यक्ति विरासत ही लीक से हटकर एक नवीन जीवन-पद्धति का निर्माण करता है जिसमें पुराने मूल्यों और नवीन प्रविधि का समन्वय होता है। इस नवीनता के निर्माण के प्रति खुला, विवेकपूर्ण दृष्टिकोण, उदारतावादी रुख, तर्कपूर्ण विश्लेषण की क्षमता जिस व्यक्ति, समाज या संस्था में हो वही आधुनिक है।

मठीय व्यवस्था कुछ विश्वासों, कर्मकाण्डों और रूढ़ियों पर आधारित है। परम्परावादी विरक्त साधु, संन्यासी अपनी रूढ़ियों से चिपके हुए हैं किन्तु जीवन को सरल एवं सुविधा-सम्पन्न बनाने की लालसा से प्रायः सभी मठों ने औद्योगिक सभ्यता के आधुनिक उपकरणों को जुटाना प्रारम्भ कर दिया है। घड़ी, रेडियो-सेट, ट्रांजिस्टर, टेलीफोन, मोटरकार, मिनीबस, ट्रक, ट्रैक्टर, ट्राली, ट्यूबवेल, पंखा, कूलर, विद्युत प्रकाश आदि की व्यवस्था अध्ययन क्षेत्र के ७० प्रतिशत मठों में देखने को मिली है।

सम्पूर्ण भारतीय समाज सम्प्रति संक्रमणकालीन स्थिति से गुजर रहा है। औद्योगीकीकरण, नगरीकरण एवं धर्मनिरपेक्षीकरण ने सामाजिक एवं संस्थात्मक जीवन-पद्धति को प्रभावित किया है। प्रचीन मूल्यों का महत्व घट रहा है किन्तु उनके स्थान पर नवीन मूल्यों का सृजन नहीं हो सका है। भारतीय समाज में सांस्कृतिक विलम्बना के स्पष्ट लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। भौतिक सभ्यता जिस गति से परिवर्तित हो रही है, अभौतिक मूल्यों में उस गति से परिवर्तन के लक्षण नहीं दिखाई पड़ रहे हैं। वाह्यतः आधुनिक दिखाई देने वाला तथा पश्चिमी सभ्यता का

१. पी० सी० खरे, भारतीय समाज एवं संस्कृति (रीवां, पुस्तक भवन, १९७६), पृ० २४९।

पूर्णरूप से समर्थन करने वाला भारतीय भी भीतर से अपने प्राचीन मूल्यों, आदर्शों और कर्मकाण्डों से चिपका हुआ है। ऐसी स्थिति में मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध लोगों द्वारा नवीन औद्योगिक सभ्यता के उपलब्ध साधनों का प्रयोग करने मात्र से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उनका पूर्ण आधुनिकीकरण हो गया है।

यह सत्य है कि मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध साधुओं का एक चरण आधुनिकता की ओर रखा जा चुका है, किन्तु उसी गति से दूसरा चरण उठाने में देर दिखाई पड़ रही है। जिस सीमा तक आधुनिकीकरण हुआ है, उसके फलस्वरूप उनके दृष्टिकोण में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्त्तन परिलक्षित हो रहे हैं। उदारणतः जातिगत ऊँच-नीच की भावना में कमी, अस्पृश्यों तथा हरिजनों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण, स्त्रियों से दूर रहने की कट्टरता में कमी, साम्प्रदायिक भेदभाव को मिटाने की भावना, सर्वधर्म समन्वय की प्रवृत्ति तथा मानवीय दृष्टिकोण के विकास आदि को मठीय व्यवस्था में हो रहे आधुनिकीकरण के प्रत्यक्ष प्रभाव के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मठों के महन्तों से लिए गए साक्षात्कार के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वापेक्षा वर्तमान समय के महन्त दलित, पीड़ित मानवता की सेवा में अपना अधिक समय देने की भावना रखते हैं। सुधारवादी वैष्णव महन्त मन्दिरों में हरिजनों तथा अछूतों के प्रवेश के पक्षधर हैं तो सनातनधर्मी दण्डी, परमहंस संन्यासी आज भी इसके विरोधी हैं

सितम्बर १९५३ में परमहंसाश्रम बरहज के महन्त बाबा राघवदास ने पंडितों के इस अधिकार को खुली चुनौती दी कि विश्वनाथ मन्दिर, वाराणसी में हरिजनों को प्रवेश करने से कोई नहीं रोक सकता है। उस समय बाबा राघवदास के उत्तराधिकारी श्री सत्यव्रत ब्रह्मचारी तथा स्वामी करपात्री जी के अनुयायियों ने हरिजनों के प्रवेश का प्रबल विरोध किया था। सरकार के हस्तक्षेप से हरिजनों को प्रवेश दिलाया गया और विरोधियों को जेल की सजा मिली। इस घटना के दृष्टिकोण में नरमी आयी और प्रायः सभी सार्वजनिक मन्दिरों में हरिजनों का प्रवेश होने लगा है।

यह ध्यान देने योग्य है कि आज भी मठों के प्रांगण में जो मन्दिर निर्मित हैं और जिनमें मठ के आराध्य, इष्ट देव की स्थापना की गयी है, वहाँ महन्त की अनुमति के बिना कोई हरिजन या गैर हिन्दू प्रवेश नहीं कर सकता। इन मन्दिरों को मठ के महन्त का निजी मन्दिर माना जाता है। किन्तु जहाँ के मन्दिर अत्यन्त प्राचीन हैं और उसके साथ मठ बाद में बना है, उनका स्वरूप आज भी सार्वजनिक है, उनमें किसी को प्रवेश करने से रोकना विधि-विरुद्ध है।

शैव तथा वैष्णव मठों के तुलनात्मक विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वैष्णव मठों से सम्बन्धित साधु जातिगत श्रेष्ठता के प्रति उतने सतर्क नहीं हैं जितने कि शैव मठों के साधु हैं। वैष्णव साधुओं में रामानुजाचार्य से सम्बन्धित साधु आज भी जातीय भेदभाव का समर्थन करते हैं जबकि रामानन्द से सम्बन्धित साधु सुधारवादी हैं। शैव मठों से सम्बद्ध 'दण्डी' संन्यासी 'ब्राह्मण' वर्ण से ही लिए जाते हैं तथा महानिर्वाणी अखाड़ा का आचार्य मण्डलेश्वर अनिवार्यतः जन्मना ब्राह्मण परमहंस ही हो सकता है। मठ अखाड़ा और आश्रम के शिक्षित साधुओं में जातीय भेदभाव की प्रवृत्ति घट रही है।

मठीय व्यवस्था में आधुनिक सभ्यता के आविष्कारों को वहीं तक स्वीकार करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, जहाँ तक इनका प्रभाव व्यवस्था के आधारभूत विचारों, मूल्यों, आदर्शों और परम्पराओं पर नहीं पड़ता है। इस प्रकार परम्परा-वादिता और आधुनिकता का एक साथ परिपालन मठों पर दृष्टिगत होता है। मठों पर बढ़ रहे आधुनिक प्रभाव पर अपना विचार देते हुए जंगमबाड़ी मठ के महन्त ने कहा कि मठों के सम्पर्क में आने वाले नेतृवर्ग तथा आधुनिक सभ्यता के अभ्यस्त जनों की सुविधा के लिए मठ पर पंखा, बिजली, टेलीफोन आदि आधुनिक सभ्यता के विविध उपादानों का प्रयोग करना अपरिहार्य होता जा रहा है। जहाँ तक साधनापक्ष से सम्बन्धित कर्मकाण्ड हैं, उन पर आधुनिकता के प्रभाव का कोई प्रश्न ही नहीं है।

मठीय व्यवस्था का आधुनिक संस्करण सतसाई बाबा के 'प्रशान्त निलयम्' महर्षि महेश योगी के 'ध्यानानीतयोग केन्द्र' और आचार्य रजनीश के 'आश्रम' के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ सम्भोग से समाधि की ओर जाने की शिक्षा दी जा रही है, तथा जो मठों की स्थापना के मूल उद्देश्य से सर्वथा भिन्न विदेशी भक्तों को आकृष्ट करने के लिए योग की दुकाने खोल कर बैठ गये हैं। उनकी सिद्धि का उद्देश्य मात्र अपने भक्तों की अनभिज्ञाता और उनकी आस्था का लाभ उठाकर उनसे अधिकाधिक लाभ कमाना प्रतीत हो रहा है। यह सत्य है कि आधुनिक सिद्ध महात्माओं अथवा भगवानों ने अपनी संस्था को 'मठ' का नाम नहीं दिया है किन्तु वे अपनी व्यवस्था को मठीय व्यवस्था के विकल्प के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

औद्योगीकरण का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध साधुओं की गतिशीलता और बाहरी समुदाय से उनकी अन्तर्क्रिया पर पड़ा है। विभिन्न धार्मिक विश्वासों के बीच की दीवारें गिरने लगी हैं, सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए मानव-धर्म की खोज हो रही है। शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन सभी मनुष्यों को अपने भाई के रूप में स्वीकार करने की प्रेरणा बहुत पहले से ही देता आ रहा है।

आद्य शंकराचार्य ने पार्वती को अपनी माता, भगवान शंकर को पिता, सभी मनुष्यों को अपना भाई और स्वदेश को ही त्रिभुवन कहकर जिस उदार दृष्टिकोण का परिचय आज से हजारों वर्ष पूर्व ही दे दिया था[1]। आज के यांत्रिक युग का चिन्तक उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता है।

वर्त्तमान औद्योगिक सभ्यता ने मनुष्य को जहाँ एक ओर भौतिक सुख समृद्धि प्रदान कर शारीरिक सुख प्रदान किया है वहीं उसकी मानसिक शान्ति को भी क्षतिग्रस्त किया है। यही कारण है—यंत्रों के बीच कार्य करने वाला मनुष्य भी अपनी मानसिक शान्ति की खोज करने इन मठों, अखाड़ों और आश्रमों पर पहुँचता है। आध्यात्मिकता सम्पन्न प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो—किसी न किसी धार्मिक संस्था से सम्पर्क बनाए हुए है। सम्पूर्ण मानवता के विकास में रुचि रखने वाले हिन्दू मठों की गतिविधि और उनकी भूमिका को उत्सुक दृष्टि से देख रहे हैं—यथासम्भव उन्हें भावनात्मक अथवा आर्थिक सहयोग भी दे रहें हैं।

वर्त्तमान युग में मठों द्वारा जो अधिकाधिक सामाजिक कार्य धार्मिक भावना से सम्पादित हो रहे हैं, उनसे मठ अपने मूल उद्देश्य—सम्प्रदाय विशेष के प्रचार-प्रसार से सर्वथा पृथक् होते जा रहे हैं किन्तु यह पृथकता वृहत्तर समाज में हुए ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा प्राविधिक परिवर्त्तनों के अनुकूल ही हैं तथा इससे मठों के सामाजिक स्वरूप में अभिवृद्धि ही हुई है। धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना के फलस्वरूप सभी धर्मावलम्बियों को अपने विश्वास के अनुरूप कार्य करने, अपने धर्म का प्रचार करने का समान अवसर प्राप्त है। इससे धार्मिक विद्वेष में कमी आयी है। मठों द्वारा समाजसेवा सम्बन्धी ठोस कार्यों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। समाज में उन मठों की प्रतिष्ठा अधिक है जो प्रत्यक्षतः समाज-सेवा कार्यों में संलग्न हैं।

सैनिक-संगठन के रूप में कार्य करने वाले शैव तथा वैष्णव अखाड़ों का परम्परागत स्वरूप परिवर्तित हो रहा है। इन अखाड़ों के रमता पंच भी अब पैदल न चलकर ट्रेन से यात्रा करने लगे हैं। कुछ नागाओं ने 'जीप' अथवा 'मिनी बस' का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है। इन द्रुतगति वाले वाहनों का प्रयोग करने से सामान्य जनता से इनका सम्बन्ध शनैः शनैः घट रहा है। औद्योगिक नगरों के बड़े-बड़े सेठ, साहूकार और पूँजीपति अपना काला धन मठाधीशों, महात्माओं

---

१. 'माता मे पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः।
मनुजः भ्रातरः सर्वे स्वदेशो भुवनत्रयम्'॥
—'प्रशान्त' द्वारा 'आज' साप्ताहिक विशेषांक, ५ मई, १९७४ में उद्धृत।

को दान देकर एक ओर धर्म-कार्य में हाथ बटा कर पुण्य कमा रहे हैं; दूसरी ओर सरकार के टैक्स की चोरी कर रहे हैं। अखाड़े का कठोर अनुशासन और प्रजातंत्रीय पद्धति पर निर्णय लेने की परम्परा किसी भी आधुनिक संगठन के लिए भी अनुकरणीय है। यह तथ्य निर्विवाद है कि अखाड़े में प्रवेश लेने वाले साधुओं की संख्या दिन-प्रतिदिन घट रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि अखाड़ा आज भी अपनी प्राचीन परम्परा से मान्य कार्यों को ही करने में विश्वास रखता है और आधुनिक आकांक्षाओं, इच्छाओं को स्वीकार नहीं करता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् विशेषतः बीसवीं शती के सातवें दशक से नवीन शैली के अनेक आश्रमों तथा मठों की स्थापना होने लगी है। यह नवीन 'आश्रम' एक विशेष प्रकार की रुचि रखने वाले मनुष्यों के लिए आनन्द के केन्द्र बनते जा रहे हैं। यौगिक साधना से होने वाला शाश्वत आनन्द प्राप्त होने में विलम्ब देखकर यह आधुनिक आश्रम तात्कालिक आनन्द प्राप्ति की व्यवस्था कर रहे हैं। वातानुकूल भवनों में स्प्रिंगदार विस्तरों पर 'योग' कराने वाले आश्रम पश्चिमी समाज के भौतिकवादियों को शान्ति प्रदान का लम्बा-चौड़ा विज्ञापन करके विदेशी मुद्रा अर्जित कर रहे हैं। निश्चय ही यह आश्रम भारतीय संस्कृति और विश्वास को क्षति पहुँचा रहे हैं।

प्राचीनकाल से चले आ रहे मठों के साधु महिलाओं से अपने को सदा दूर रखने का प्रयास करते रहे हैं। इन्द्रिय निग्रह उनकी साधना का प्रधान अंग रहा है और इस साधना में स्त्रियों ने प्राचीनकाल में विश्वामित्र, पराशर प्रभृति ऋषियों को भी बाधा पहुँचाई है —

"विश्वामित्र पराशर प्रभृतयोः वाताम्बुपर्णाशनाः
तेपि स्त्री मुख पंकजम् सुललितम् दृष्टैव मोहंगताः।
शाल्यन्नम् सघृतम् पयोदधि युतम् भुञ्जन्ति ये मानवाः
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेद् सागरम्॥"[1]

यही कारण है कि मठीय व्यवस्था के अन्तर्गत रहने वाले साधु अपने यहाँ स्त्रियों के निवास के कट्टर विरोधी रहे हैं। अपवाद सर्वत्र प्रचलित है। अपनी सिद्धि के बल पर इस समय माँ आनन्दमयी साधुओं के बीच अत्यन्त समादृत हैं, इसी प्रकार गीता भारती जी महामण्डलेश्वर के पद पर प्रतिष्ठित हैं। अध्ययन-क्रम में यह तथ्य स्पष्ट हुआ है कि सभी मठों पर अपनी मनौती पूरी करने अथवा विभूति प्राप्त करने स्त्रियाँ भी आती हैं। श्रीनाथ बाबा मठ, रसड़ा पर प्राचीन यन्त्र का जल लेकर प्रसव-वेदना से मुक्ति पाने का विश्वास स्थानीय स्त्रियों

१. सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार—स्फुट श्लोक ६४, पृ० ६०।

में आज भी प्रचलित है। स्पष्ट है कि मठों पर स्त्रियों के आगमन पर प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु अपने सम्प्रदाय में दीक्षित कर उन्हें मठ पर रहने की अनुमति देने पर प्रतिबन्ध है।

राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष में मठों की संगठित भूमिका का उल्लेख इतिहास में कहीं नहीं मिलता है, किन्तु शोधकर्त्ता ने जिन मठों का विस्तृत अध्ययन किया है उनमें कुछ वैष्णव महन्तों के विषय में यह तथ्य सामने आया है कि १८५७ के विद्रोह के समय अंग्रेज अधिकारियों को उनके यहाँ संरक्षण मिला था। कुछ महन्तों ने अंग्रेजी सरकार को ईश्वरीय वरदान के रूप में स्वीकार कर लिया था जबकि उसी काल में अनेक महन्तों ने खुलकर संघर्ष और अंग्रेजों का प्रबल विरोध किया था। १९१९ से १९४७ तक के स्वतन्त्रता-संघर्ष में महात्मा गांधी के नेतृत्व में आस्था रखने वाले अनेक महन्तों ने व्यक्तिगत रूप से सत्याग्रह आन्दोलनों में भाग लिया था। बाबा राघवदास, महन्त दिग्विजय नाथ, स्वामी चन्द्रशेखर गिरि जैसे महन्तों ने स्वाधीनता-संघर्ष में पूर्वी उत्तर प्रदेश में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इनमें से कई महन्तों ने विधान-सभा और लोक-सभा के चुनावों में विजयी होकर विधायक और सांसद के रूप में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

वर्त्तमान समय में राष्ट्रीय एकता तथा तथा गोहत्या-निषेध के लिए अनेक समाज सक्रिय प्रयास कर रहे हैं। मठीय सम्पत्ति के सुरक्षा की दृष्टि से भी ये महन्त राजनीति से सम्बन्ध बनाए रखना आवश्यक समझते हैं।

वर्त्तमान समाज में मठीय संगठन की सामाजिक भूमिका के परिप्रेक्ष्य में कुछ समाज वैज्ञानिक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अपने मूलरूप में मठों का भविष्य अंधकारमय है। आधुनिक वैज्ञानिक युग का मानव केवल परलोक सम्बन्धी लक्ष्य की सिद्धि के लिए किसी संगठन की सदस्यता नहीं ग्रहण करेगा और न उसे सहयोग प्रदान करेगा। शोधकर्त्ता ने यह अनुभव किया है कि जब से मठीय व्यवस्था ने समाज-सेवा के रचनात्मक कार्यों को करना प्रारम्भ किया है, तब से ही उसके कार्यों की समालोचना भी प्रारम्भ हुई है, अन्यथा वह कुछ विशिष्ट रुचि वाले थोड़े से व्यक्तियों को ही आकर्षित कर पाता था। पहले केवल वृद्धावस्था में पहुँचे हुए लोग धार्मिक प्रवचन सुनने अथवा दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए ही मठों पर जाते थे। किन्तु बीसवी शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक से मठों पर बालक, युवा और वृद्ध सभी किसी न किसी उद्देश्य से जाने लगे हैं।

प्रायः सभी मठों के समीप उनकी ही व्यवस्था से सम्बद्ध संस्कृत विद्यालय, आधुनिक विषयों की शिक्षा देने वाले अंग्रेजी विद्यालय, चिकित्सालय, पुस्तकालय,

व्यायामशाला, योग केन्द्र संचालित हो रहे हैं जिनमें प्रशिक्षार्थी और प्रशिक्षक, सेव्य और सेवक के रूप में समाज के सहस्रों नागरिक सक्रिय भाग ले रहें हैं। मठीय व्यवस्था में जोड़े गए इस कार्य का दो तरह का प्रभाव परिलक्षित हुआ है—प्रथम मठ की सामाजिक अन्तर्क्रिया में वृद्धि हुई है और दूसरे यह कि मठ के विरोधियों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। मठ द्वारा संचालित संस्थाओं में जिन्हें सेवा करने अथवा जीविका अर्जित करने या सम्मानसूचक पद नहीं प्राप्त हो सका, क्योंकि पद सीमित हैं, अभ्यर्थी अधिक हैं—वह सभी मठ के विरोधी हो गए हैं। इस प्रकार का स्वार्थ पर आधारित विरोध वैयक्तिक और क्षणिक है। ऐसे लोग स्वतः समाज द्वारा तिरस्कृत हो रहे हैं।

आधुनिकीकरण का प्रभाव सामान्य मनुष्य पर इस रूप में अधिक पड़ा है कि वह किसी संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए कुछ देना नहीं चाहता, मात्र उससे कुछ पाना ही चाहता है। आज समाज का साधारण व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का कोई भाग मठ अथवा अन्य समाजसेवी संस्थाओं को देना तो नहीं चाहता है किन्तु उससे कुछ पाने की लालसा अवश्य रखता है। इसका प्रभाव मठीय व्यवस्था पर इस रूप में पड़ रहा है कि जो 'मठ' समाज के, प्रत्यक्ष सहयोग पर, दान पर निर्भर थे उनका अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है—वे मठ इसके अपवाद हैं जिनके महन्तों का व्यक्तित्व विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न है, जो अपनी वाणी और सिद्धि से दूसरों को आकृष्ट करने की क्षमता रखते हैं।

मठीय व्यवस्था का भावी स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि वह धर्म-प्रचार और राष्ट्रीय सद्भाव की दृष्टि से किए जा रहे अपने कार्यों को चलाते हुए उसे अवांछित तत्वों का अपने पवित्र संगठन में प्रवेश रोकने में कहाँ तक सफलता मिलती है जो निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए इस संगठन में प्रवेश पाने हेतु प्रयत्नशील हैं।

प्रायः बचपन में माता-पिता के प्यार से वंचित, अनाथ अथवा जीवन में असफल होने से निराश व्यक्ति मठों पर पहुँच रहे हैं। कुछ तो प्रारम्भ में ही मठीय जीवन के अनुशासन का पालन न कर सकने के कारण पलायित हो जा रहे हैं और कुछ वहाँ रहकर सामान्य कार्यों में प्रशिक्षित हो रहे हैं। वर्तमान युग में मठों के समक्ष सबसे कठिन समस्या अपने अस्तित्व के रक्षा की है। संगठन की निरन्तरता शिष्यों के प्रवेश, उनकी कार्यक्षमता पर निर्भर है। इस दिशा में अनेक मठ प्रयत्नशील हैं। गोविन्द मठ द्वारा संचालित संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय विशेषतः संन्यासियों को भारतीय ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान कर मठों के लिए उत्तराधिकारी तैयार कर रहा है। 'अखाड़ों' पर प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे

संन्यासी भी मठों की रक्षा करने में सहायक हो सकते हैं। योग्य साधुओं की संख्या में दिन-प्रतिदिन होने वाली कमी मठीय व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

मठीय व्यवस्था से सम्बद्ध साधुओं में इस समय वैयक्तिकता का विकास परिलक्षित हो रहा है। यही कारण है कि अपने गुरु के जीवनकाल में ही जब कोई साधु समाज में अपनी सिद्धि के बल पर ख्याति प्राप्त कर लेता है तब उसे लोगों से सम्मान स्वरूप धन-सम्पत्ति मिलने लगती है। वह गुरु से आज्ञा प्राप्त कर अपना एक स्वतंत्र मठ बना लेता है, जहाँ उससे सम्बन्धित कुछ साधु-शिष्य रहने लगते हैं। इस प्रवृत्ति का एक लाभ यह हुआ है कि मठों की संख्या कुछ बढ़ी है, नए मठ स्थापित हुए हैं किन्तु दूसरी ओर अनेक प्राचीन मठ मिट गए हैं। उनके पूर्ववर्त्ती महन्तों ने सम्पत्ति विनष्ट कर दी और उत्तराधिकारी के लिए कुछ नहीं छोड़ा।

इधर प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान मठों के सुरक्षा की ओर जा रहा है। गत २३ जून, १९८० को काशी में विद्वानों की एक संगोष्ठी में डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' की अध्यक्षता में इस आशय का एक प्रस्ताव पारित हुआ है—'ऋषि मुनि तीर्थों का ही आश्रय लेकर रहते थे। उन्होंने 'पराविद्या की शिक्षा के लिए देवस्थान की तथा अपरा (वेदादि चतुर्दश) विद्या की शिक्षा के लिए मठों की स्थापना की। उक्त विद्याओं के आश्रय मठ-देवालय राष्ट्र की धरोहर हैं। इनके संरक्षण, सम्बर्द्धन हेतु देशवासियों को कटिवद्ध होना चाहिए।'[1] सरकार का भी दायित्व है कि भारत की प्राचीन संस्कृति के संरक्षण केन्द्र-इन मठों की सुरक्षा का प्रबन्ध करे। एक ऐसे अधिनियम की आवश्यकता है जो महन्तों को मठ की सम्पत्ति विनष्ट करने से रोकने में समर्थ हो।

शोधकर्त्ता का दृढ़ मत है कि अनेक संकटों के होते हुए भी मठीय व्यवस्था का अस्तित्व समाप्त नहीं होगा। इस व्यवस्था ने अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों में भी—विधर्मियों के क्रूर कार्यों से भी अपने अस्तित्व की रक्षा कर ली है तो आज स्वतन्त्र भारत की इन अन्तःपरिवेशीय बाधाओं पर विजय पाने में इन्हें कठिनाई नहीं होगी। किसी देवालय की अपेक्षा मठ अपने भक्तों की समस्या का तात्कालिक समाधान प्रस्तुत करने में अधिक सफल हैं और यही वह कार्य है जो मठीय व्यवस्था की निरन्तरता को बनाए रखने का मूल आधार है।

सामान्यतया कोई व्यक्ति देवालय अथवा मन्दिर में अपनी किसी न किसी समस्या के समाधान हेतु देवी-देवता की प्रार्थना करने जाता है। समस्याओं से

१. दैनिक 'आज' वाराणसी में २३-६-८० को प्रकाशित।

घिरा हुआ आधुनिक भौतिक युग का मनुष्य आध्यात्मिक उन्मेष की संतृप्ति हेतु विरला ही कोई मन्दिर में जाता है। नौकरी पाने की लालसा, परीक्षा में बिना परिश्रम किए ही सफल होने की कामना, कन्या के विवाह के लिए योग्य वर की प्राप्ति अथवा सन्तान प्राप्ति या अन्य ऐसे ही भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अधिकांश व्यक्ति मन्दिरों में नियमित जाते हैं। वहाँ वह मौन खड़े रहकर देव मूर्ति के समक्ष अपनी प्रार्थना सुनाकर लौट आते हैं। देवता की मूर्त्ति से कोई मौखिक समाधान नहीं मिलता है किन्तु प्रार्थना कर लेने से एक मनोवैज्ञानिक सन्तोष मिल जाता है। कुछ अवधि बीतने पर स्वाभाविक गति से किसी न किसी लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है, जिसे उस देवता विशेष की कृपा का फल मान लिया जाता है और मन्दिर की नियमित परिक्रमा होने लगती है।

मन्दिर की अपेक्षा मठ में किसी भक्त की समस्या का तात्कालिक समाधान अधिक सुगम है। मन्दिर में 'देवता' मूक स्थिर रहकर भक्त की प्रार्थना को केवल सुन लेता है, ऐसा भक्तों का विश्वास है। वह तात्कालिक कोई उत्तर या समाधान नहीं देता है जबकि मठ का महन्त अपने भक्त की समस्या का तत्काल कोई न कोई उत्तर देता है, समाधान प्रस्तुत करता है[1] और समाधान के लिए अपने आराध्य देव की प्रार्थना भी करता है—'विभूति' भी प्रदान करता है। वह भक्त के विश्वास के अनुसार धार्मिक कर्मकाण्ड द्वारा समस्या सुलझाने का तथा अपने प्रभाव से किसी अधिकारी से संस्तुति करके भी भक्त को लाभ पहुँचाने का प्रयास करता है।

आध्यात्मिकता और नैतिकता की शिक्षा प्रदान करने वाली संस्था के रूप में मठीय व्यवस्था का कोई अन्य विकल्प हिन्दू समाज में नहीं है। परम्परा-वादी हिन्दू मठ के महन्त तथा साधु को नैतिकता और आध्यात्मिकता की मूर्त्ति समझता है। वह आज भी होली, दीवाली और विजयादशमी के अवसर पर अपने महन्त का दर्शन करता है, विभूति प्राप्त करता है—'पूजा' चढ़ाता है और नैतिक उपदेश ग्रहण करता है। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार और दुराचरण को मिटाने में मठीय व्यवस्था सहायक हो सकती है यदि इसके लिए मठों द्वारा कोई योजनाबद्ध कार्यक्रम चलाया जाय।

मठों पर रहने वाले अधिकांश संन्यासियों का जीवन समाज के लिए समर्पित है, उनका अस्तित्व समाज के लिए ही शेष है। संन्यास-दीक्षा के समय उन संन्यासियों

1. "In a Matha the presence of spirituality is more perceptible than in the temple—it is more communicable. The stone god will not speak, and hence cannot grant any immediate relief. But the ascetic–the spiritual person–listens, answers and helps resolve the problems at once by miracle, or by grace, or by dialectical skill. Here religious experience is more direct and intimate, and hence the attraction".

—Surjit Sinha, Baidyanath Saraswati, Ascetics of Kashi, (opp. cit.), p. 214.

ने अपना 'श्राद्ध' संस्कार सम्पन्न करके एक प्रकार से प्रतीकात्मक ढंग पर अपना जीवन समाप्त कर दिया है, उनका संन्यासी के रूप में पुनर्जन्म समाज-सेवा के लिए ही हुआ है। यही कारण है कि प्राचीन भारत का दण्डी संन्यासी साधारण मनुष्य नहीं समझा जाता था, उसके प्रति 'दण्ड ग्रहण मात्रेण नरो नारायणो भवेत्' की मान्यता प्रचलित थी। ईश्वर की परिकल्पना मनुष्य ने अपनी उन समस्याओं के समाधान के लिए की है जिनका समाधान वह स्वयं नहीं कर पाता है। मठ पर भी मनुष्य उन्हीं कार्यों को पूरा कराने के उद्देश्य से जाता है जिन्हें वह स्वयं नहीं कर पाता है। अतः मठीय व्यवस्था से सम्बन्ध संन्यासियों को अपनी इस विशिष्ट भूमिका को समझना होगा, तदनुकूल अपने भक्तों की समस्या का समाधान प्रस्तुत करना होगा।

समाज से उपेक्षित, घृणित जीवन व्यतीत करने वाले कुष्ठ रोगियों की सेवा का व्रत लेकर कुछ मठों ने निश्चय ही अपनी विशिष्ट भूमिका प्रस्तुत की है। अन्य मठों को भी ऐसे कार्यों को प्रारम्भ करना चाहिए।

आधुनिकता के बढ़ते हुए प्रभाव से क्या मठीय व्यवस्था का अस्तित्व समाप्त हो जायगा? बहुधा इस तरह का प्रश्न उठाया जाता है। शोधकर्त्ता ने पूर्व विवेचन में ही स्पष्ट कर दिया है कि मठीय व्यवस्था ने आधुनिकता से समायोजन कर लिया है, उसने औद्योगिक सभ्यता के बाह्य कलेवर को स्वीकार कर लिया है किन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप आज भी अपनी मौलिकता बनाए हुए है। मठीय व्यवस्था सामाजिक परिवर्त्तन को न तो रोकने में समर्थ है और न तो उसे परिवर्त्तन का प्रेरक या वाहक ही कहा जा सकता है। यह अवश्य है कि भारतीय समाज की एक मौलिक आवश्यकता-आध्यात्मिक आकांक्षा की पूर्ति का कार्य मठों द्वारा किया जा रहा है। जिसका अन्य विकल्प निकट भविष्य में सम्भव नहीं है।

मनुष्यों की भावनात्मक, सम्वेगात्मक एवं आध्यात्मिक आकांक्षा आज भी मठीय व्यवस्था द्वारा पूरी हो रही है। असंख्य पीड़ित, निराश एवं दुःखी मानवता की सेवा में मठों की महत्वपूर्ण भूमिका है। क्षेत्रीग्रतावाद और भाषावाद के प्रश्न पर भी मठों के महन्तों का व्यक्तित्व समस्या के समाधान में सहायक हो सकता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद है कि समाजसेवी संस्था के रूप में, आध्यात्मिकता के प्रचार-प्रसार-केन्द्र के रूप में तथा यांत्रिकता के प्रभाव से मनुष्य को बचाने वाली संस्था के रूप में मठीय व्यवस्था का भविष्य समुज्वल है।

दैवी सङ्कट-बाढ़, सूखा और अकाल से पीड़ित मानवता की सेवा में भी मठों की महत्वपूर्ण भूमिका है। कुम्भ मेला के अवसर पर सङ्गम क्षेत्र में बड़े-बड़े मठों और अखाड़ों द्वारा सञ्चालित अन्न-क्षेत्र हजारों भिक्षुओं को भोजन प्रदान करते हैं। मठों द्वारा निर्मित शिविर तीर्थयात्रियों को आश्रय प्रदान करते हैं। समाज में नैतिक मूल्यों, सेवा-भावना, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम-भावना तथा सभी मनुष्यों में समानता की भावना के विकास में मठों की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

●
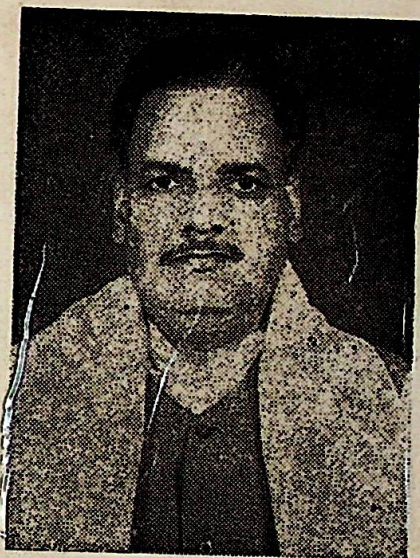
डॉ० त्रिवेणीदत्त त्रिपाठी

एम० ए०, पी–एच० डी०
आचार्य स्वामी देवानन्द स्नातक महाविद्यालय,
मठलार, देवरिया

जन्म : २७ सितम्बर १९४१
ग्राम–परशुराम पुर, जनतद-जौनपुर

शिक्षा : प्रारम्भिक शिक्षा आदर्श उच्चतर मा० वि० शम्भूगंज, वी. आर. पी. कालेज। उच्च शिक्षा डी. ए. वी. कालेज कानपुर। आगरा वि. वि. से १९६४ में समाज विज्ञान में एम. ए. डॉ. वंशीधर त्रिपाठी रीडर, समाज विज्ञान विभाग, काशी विद्यापीठ वाराणसी के निर्देशन में 'हिन्दू धार्मिक मठों का संगठन तथा कार्य' शीर्षक शोध प्रबंध पर पी–एच. डी. उपाधि प्राप्त की।

सम्मति : स्वामी देवानन्द शिक्षा संस्थान के अन्तर्गत संचालित स्नातक महाविद्यालय के प्राचार्य पद का दायित्व संवहन कार्यरत भारतीय समाज में संन्यासियों की विशिष्ट भूमिका विषयक अध्ययन में रत रहते हुए ग्रामीण व्यवस्था के अन्तर्गत संचालित विविध शिक्षण संस्थाओं तथा मानव सेवा संगठनों के संचालन में सक्रिय सहयोग, भारतीय समाज में परिव्याप्त व्याधियों के कारण तथा उनके उन्मूलन पर विशेष कार्य।